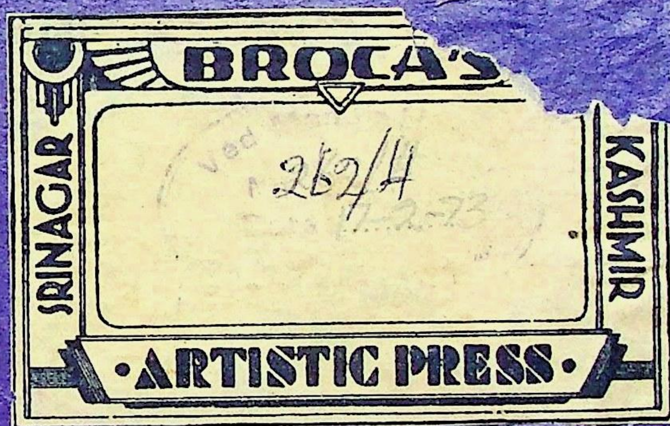

BROCA'S
SRINAGAR
KASHMIR
ARTISTIC PRESS
262/4

कल्याण

वर्ष ३०   अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०१३, अप्रैल १९५६

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

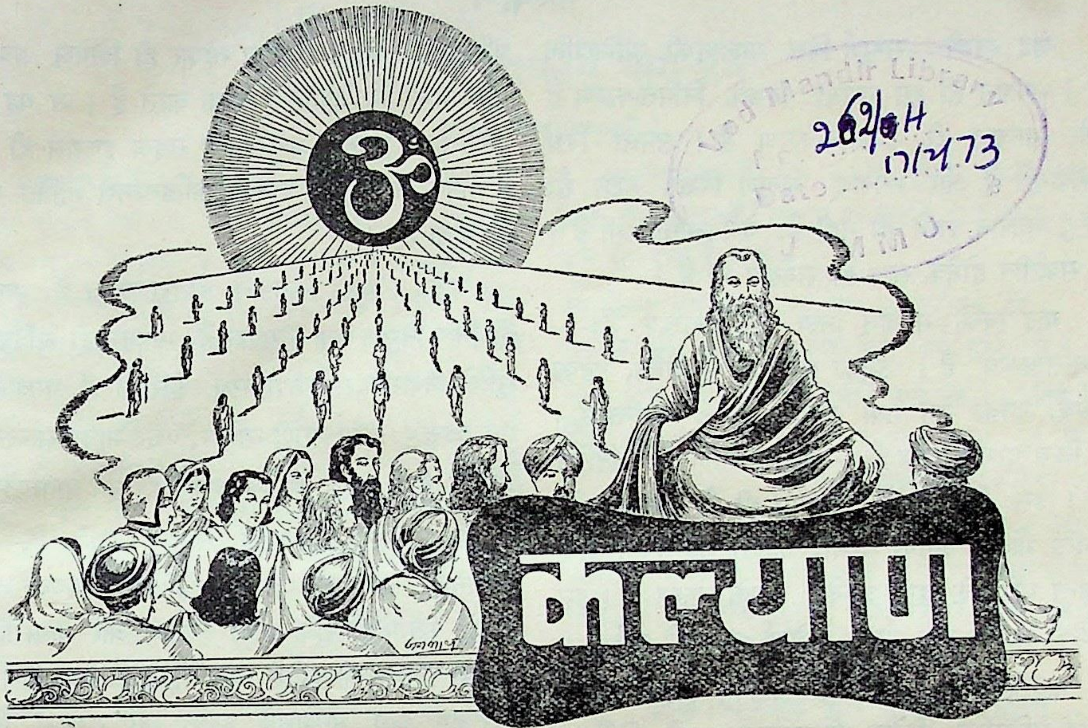
साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



रघुनन्दन पिताकी गोदमें

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर वैशाख २०१३, अप्रैल १९५६ { संख्या ४
पूर्ण संख्या ३५३

पिताकी गोदमें शिशु श्रीराम

बंदौं बाल-बपु रघुनंद ।
हेरि मुख-छबि चंद लाजत, होत मनसिज मंद ।
गोद पितुके मोद भरि उर लसत आनँद-कंद ,
धरि रुचिर सिसु रूप राजत मनहु परमानंद ।
हँसत किलकत अरत उछरत प्रनतजन-प्रतिपाल ,
भक्तजन-मन-हरन मूरति धन्य दसरथ-लाल ।
रूप-रासि निहार बेसुध भूपके मन-प्रान ,
निरखि कोसल-चंद उमगत नेह-सिंधु महान ।

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

याद रक्खो—सम्पूर्ण विश्व भगवान्‌की अभिव्यक्ति है। भगवान् ही इस समस्त विश्वके निमित्त-कारण हैं और भगवान् ही उपादान-कारण हैं। समस्त विश्व भगवान्‌में है और भगवान् सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हैं; परंतु भगवान् इतने ही नहीं हैं, वे विश्वातीत भी हैं। वे सर्वातीत होनेके साथ ही सर्वरूप भी हैं।

याद रक्खो—भगवान् नित्य परिपूर्ण-स्वरूप हैं;—अनन्तस्वरूप हैं। उनका ज्ञान, उनकी शक्ति, उनका ऐश्वर्य, उनका प्रेम तथा उनका आनन्द अनन्त है। वे नित्य परमानन्दमय हैं—सच्चित्-परमानन्दमें प्रतिष्ठित हैं। इस चिदानन्दके स्वभावसे ही वे अनन्त रूपों, अनन्त भावों, अनन्त कर्मों, अनन्त विभूतियों तथा अनन्त महिमाके द्वारा अपनेको व्यक्त करते हैं। इस सृष्टिका प्रत्येक कण उनके परिपूर्ण स्वरूपसे पूर्ण है।

याद रक्खो—परिवर्तनशील विविध रूपमय सृष्टिके रूपमें अभिव्यक्त होनेपर भी भगवान् अपने निर्विकार परिपूर्ण स्वरूपसे कभी लेशमात्र भी च्युत नहीं होते। उनकी सृष्टि-विधायिनी अनन्त शक्तिमें, उनके अनन्त ज्ञानमें, उनके अनन्त प्रेममें, उनकी अनन्त सत्तामें, उनके अमित ऐश्वर्यमें तथा उनके असीम प्रेममें कभी जरा भी संकोच नहीं होता। यह सारी सृष्टि उनका आत्मप्रकाश, आत्मविनोद और आत्मसम्भोग है।

याद रक्खो—वे ही भगवान् अपने आनन्दमय स्वभाव या इच्छासे दिव्य साकार रूपमें प्रकट होते हैं, उनको कोई उत्पन्न नहीं करता, वे किसी कर्मसे बाध्य नहीं होते, वे पाञ्चभौतिक शरीरको धारण नहीं करते। वे अजन्मा होकर ही जन्म ग्रहण करते हैं, वे नित्य-सहज-निर्विकार रहकर ही नाना प्रकारकी विकार-लीला-को स्वीकार करते हैं, वे सम्पूर्ण लोकोंके नियामक, सर्वलोकमहेश्वर रहते हुए ही साधारण मानवके सदृश व्यवहार करते हैं, वे देश-कालसे अतीत रहकर ही देश-कालके भीतर अपनेको प्रकट करते हैं, वे समस्त परिणामोंसे सहज अतीत रहकर ही विभिन्न प्रकारके परिणाम-रूपोंमें अपनेको व्यक्त करते हैं। पर यह सब करते हैं—अपनी आनन्दमयी सहज इच्छासे ही। न वे कर्मसे वाध्य हैं, न उनका कर्मबन्धनसे भौतिक जन्म ही होता है।

याद रक्खो—भगवान् ही गुणातीत हैं, भगवान् ही नित्य-निर्गुण तथा निराकार हैं, भगवान् ही सृष्टिकर्ता, सृष्टिके नियामक, सर्वव्यापी, सगुण निराकार हैं, भगवान् ही भगवत्स्वरूप, दिव्य सगुण साकार, ऐश्वर्य-माधुर्य-सौन्दर्यकी अनन्त निधि, अपार करुणावरुणालय, परम प्रेमास्पद हैं।

याद रक्खो—भगवान् तुम्हारे अपने हैं, तुम भगवान्‌के अपने हो। इस नित्य-आत्मैक्यको भूल जानेके कारण ही तुम दुखी, अशान्त और संतप्त हो। यह भी भगवान्‌की दृष्टिसे भगवान्‌की विचित्र लीला ही है। तुम जब भगवान्‌के साथ, जो तुम्हारा नित्य अभिन्न सम्बन्ध है, उसे समझ लोगे, तब फिर तुम्हें लीलामयकी प्रत्येक लीलामें उनके आनन्दमय स्पर्शका अनुभव होगा। तुम्हारा जीवन तब अपने आनन्दमय सहज स्वरूपको प्राप्त करके आनन्दस्वरूप हो जायगा।

याद रक्खो—जबतक तुम भगवान्‌के इस नित्य सहज अभिन्न आत्मसम्बन्धको नहीं जान लोगे, तब-तक तुम सहज आनन्दस्वरूप होनेपर भी अभावके दुःखानलसे दग्ध होते रहोगे। अशान्तिकी प्रचण्ड अग्निमें जलते रहोगे।

याद रक्खो—तुम्हारा यह अभावदुःख जगत्‌की किसी भी परिस्थिति, अवस्था, पदार्थ या प्राणीसे नहीं मिटेगा। तुम यहाँ खोजते-खोजते एकके बाद दूसरे मोहजालमें फँसते रहोगे तथा नये-नये अभावकी आगसे जलते रहोगे। अतएव भगवान्‌को तथा अपनेको समझो—'भगवान् तुम्हारे तथा तुम भगवान्‌के' इस तत्त्वका अनुभव करो।

'शिव'



युगल-नामाराधनसे योग-क्षेम

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

'कल्याण' वर्ष २७ के ५-६ अङ्कोंमें 'युगल-उपासना-रहस्य' शीर्षक मेरा एक लेख छप चुका है। वहाँ विवेचन-पूर्वक सप्रमाण दिखाया जा चुका है कि श्रीसीताजी और श्रीरामजी तत्त्वतः एक हैं। माता-पिता रूपोंसे आश्रित जीवों-के कल्याण करते हैं। श्रीसीताजी प्रथम उपासित होकर आश्रितको निर्मल बुद्धि (सदसद्विवेकिनी बुद्धि) दे मुमुक्षु-योग्यता प्रदान करती हैं और अपने प्रधान कृपारूपगुणसे अपने अनुकूल स्वामीमें भी कृपा उद्दीप्त कर उससे आश्रितके दोषोंको ढँक देती हैं। कृपाप्रधान चित्तसे स्वामी इसके दोषोंको न देखकर इसको अपनाना अपना कर्तव्य मान लेते हैं। तत्पश्चात् श्रीरामजी उपासित हो अपने आनन्द-सिन्धु स्वरूपका अनुभव कराकर इसे कृतार्थ कर देते हैं।

युगल नामोपासनामें भी वही बात है। रूपके ही गुण नामाराधकके प्रति वैसा ही कार्य करते हैं। अतः प्रथम 'सीता' नामसे श्रीसीताजीके गुणोंका और फिर 'राम' नामसे श्रीरामजी-के गुणोंका लाभ होता है।

नामाराधन-रहस्यके परम ज्ञाता श्रीशिवजीने इससे आश्रितोंके योग-क्षेमकी व्यवस्था स्पष्ट कही है। यथा—

जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥
करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय रामु कहेउ कामारी॥
(रामचरितमानस बाल० ३१४)

अर्थात् जिनका नाम लेते ही जगत्में समस्त अमङ्गलके कारण ही नष्ट हो जाते हैं तथा चारों पदार्थ—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष अनायास प्राप्त हो जाते हैं, ये वही श्रीसीतारामजी हैं—ऐसा कामारि शिवजीने कहा है। समस्त अमङ्गलोंके कारण ही नष्ट हो जाते हैं, इससे भविष्यमें फिर कभी भी इनकी शङ्का नहीं रह जाती और चारों पदार्थ करतल हो जाते हैं, इस कथनमें अनायास प्राप्त होनेके अतिरिक्त औरों-को हाथसे देते रहनेके सामर्थ्यकी प्राप्तिके भाव भी हैं, ये भाव आगे स्पष्ट होंगे।

'कहेउ कामारी'—इससे ग्रन्थकारने सूचित किया है कि श्रीशिवजीने इसी नामके 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को।' इस लक्ष्यार्थसे अपने अग्नि, सूर्य और चन्द्र—इन तीनों नेत्रोंमें परम ज्योति प्राप्त की है, जिस अग्निनेत्रसे उन्होंने सारे विकारोंके मूल कामको भस्म कर रक्खा है।

समस्त अमङ्गलोंके मूल जीवोंके दूषित कर्मोंसे सम्पन्न काल, कर्म, गुण और स्वभाव हैं, इन्हींके द्वारा नाना क्लेश प्राप्त होते रहते हैं; यथा—

तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी।
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाउ गुन घेरा॥
(रामचरितमानस उत्तर० १२, ४३)

श्रीरामनामके द्वारा इन काल-कर्म आदिसे होनेवाले अमङ्गलोंका नाश होना और साथ ही चारों फलोंका अनायास प्राप्त होना श्रीरामचरितमानस बालकाण्ड १८ के पश्चात्की अर्द्धालियोंसे प्रकट किया जाता है—

कालबाधारक्षण और मोक्षफलदातृत्व

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥

अर्थात् यह राम-नाम, जिसका श्रीशिवजी जप किया करते हैं, महामन्त्र है। श्रीकाशीजीमें मरणकालमें जीवमात्रके मुक्त होनेमें इसका उपदेश ही कारण है; तथा—

कासीं मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी॥
(रामचरितमानस बाल० ११८)

इसी नाम-जपके प्रभावसे श्रीशिवजी अमङ्गल-साजमें भी मङ्गलराशि हैं—

'नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साज अमंगल मंगल रासी॥'
'मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥'
(रामचरितमानस बाल० २५, ९)

इन प्रमाणोंसे सिद्ध है कि श्रीराम-नामसे श्रीशिवजीका अमङ्गल निवृत्त हुआ, वे दूसरोंके लिये भी मङ्गलभवन हो गये। स्वयं कालबाधासे निवृत्त हो अविनाशी हुए। औरोंको भी काशीमें मरते समय उपदेश दे मुक्त कर कालबाधासे बचाते हैं। इस प्रकार नाममें अपरिमित मोक्षफलदातृत्व है जिससे नाम-जप करनेवाला भी औरोंको मोक्ष देनेमें समर्थ हो जाता है।

अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा शिवजीके नेत्र हैं, इन दृष्टियोंसे उन्होंने श्रीराम-नामके 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' इस तत्त्वार्थका प्रकाश प्राप्त कर काण्डत्रय (कर्मफल-वैराग्य, ज्ञान

और भक्ति) का तात्पर्य या वैसा लाभ पाया है। वैसे ही जपकर्ताके जिह्वापर भी अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका निवास है। इनमें भी अपने परम कारणरूप इस नामसे वैसा ही प्रकाश प्राप्त होकर वैसा ही लाभ होगा, यथा—

जिह्वामूले स्थितो देवः सर्वतेजोमयोऽमलः।
तदग्रे भास्करश्चन्द्रस्तालुमध्ये प्रतिष्ठितः॥

(योगियाज्ञवल्क्यकृत गायत्री-भाष्य)

रकारहेतुर्वैराग्यं परमं यच्च कथ्यते।
अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम्॥

(महारामायण)

कर्मबाधा-रक्षण और कामफलदातृत्व

महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥

अर्थात् जिस श्रीराम-नामकी महिमा श्रीगणेशजीने जानी है, उसीके प्रभावसे वे (सब देवोंमें) प्रथम पूजे जाते हैं। यथा—

राम नाम को प्रभाउ पूजियत गनराउ,
किये न दुराउ कही आपनी करनि।

(विनय-पत्रिका २४७)

अहं पूज्योऽभवं लोके श्रीमन्नामानुकीर्तनात्।
अतः श्रीरामनाम्नस्तु कीर्तनं सर्वदोचितम्॥

(गणेशपुराण)

एक समय प्रथम पूज्यपद-प्राप्तिके लिये समस्त देवगण ब्रह्माण्डभरकी प्रदक्षिणा करने चले। निश्चित था कि जो पहले आ जायगा, उसे ही यह पद मिलेगा। श्रीगणेशजीका वाहन चूहा है, इससे वे पिछड़ गये। भगवान्की दयासे श्रीनारदजी मिले, इन्हें उदास देखकर कहा कि पृथ्वीपर श्रीरामनाम लिखकर इसीकी प्रदक्षिणा कर लो, यह सर्व-ब्रह्माण्डमय है। गणेशजीने वही किया। देवताओंने सर्वत्र चूहेका पदचिह्न आगे-आगे पाया, इससे वे स्वयं उदास हुए और श्रीगणेशजी प्रथम पूज्य हुए।

श्रीगणेशजीको समस्त सुकृत्योंका फलरूप पद प्राप्त हुआ, इससे उनकी कामना-पूर्ति हुई और वे औरोंके शुभ-कर्मोंमें प्रथम पूजित होकर सबकी कामनापूर्ति किया करते हैं एवं सभीकी कर्मबाधाएँ दूर किया करते हैं, इस लक्ष्यसे मुमुक्षु श्रीराम-नामको बुद्धिरूपी पृथिवीमें अंकितकर परिक्रमा करनेके समान हृदयस्थ करे तो इसे भी कर्मयोगके फल-स्वरूपमें स्वरूपकी ध्याननिष्ठा और तीनों ऋणोंकी निवृत्तिसे त्रैलोक्यपूज्यत्वकी प्राप्ति हो, यही इसे उत्तम कर्म-फलकी प्राप्ति है—गीता २। ४१ देखिये। तथा—

अनुराग सो निजरूप जो जगते बिलच्छन देखिये।
त्रैलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥

(विनय-पत्रिका १३६)

गुणबाधारक्षण और अर्थफलदातृत्व

जान आदि कबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥

अर्थात् श्रीवाल्मीकिजी श्रीरामनामका प्रताप जानते हैं, उन्होंने इसका उलटा जप करके शुद्धि प्राप्त की है।

श्रीवाल्मीकिजी ब्राह्मण थे। कोलोंके संगसे वनमें हिंसावृत्तिसे रहते थे। सप्तर्षियोंके उपदेशसे इन्होंने उल्टे नामके जपसे भी शुद्धि पायी है। वैसे ही मुमुक्षु जीव ब्रह्मका अंश होनेसे ब्राह्मण है। यह राजस अहङ्कार (मन)के वश हो गुणरूप कोलोंके संगसे हिंसक हो गया है। गुण-संगसे यह अपनी आत्माको बार-बार चौरासी लाख योनियोंमें भेज-भेजकर हिंसा करता है; यथा—

'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।'

(गीता १३। २१)

एक-एक कल्परूप दिनमें यह बहुत बार मनुष्यशरीर पाकर भी चौरासीको जाता है, यही मनका बहुत-सी ब्रह्महत्या करना है। वाल्मीकिजी उल्टे नाम-जपकी भी निरन्तर निष्ठासे शुद्ध हो गये। वैसे ही यह भी वैषयिक (उल्टी) वृत्तिसे भी यदि जन्मभर नाम-रटनकी ठान ले तो शुद्ध हो जायगा। श्रीरामजी अपने नामकी लज्जा रखते हुए इसे शुद्ध कर देंगे। कल्याण २८। ३ में 'नाम-महिमा' शीर्षक लेखमें यह विषय समझाया गया है।

शुद्ध द्रव्योंसे सम्पादित करोड़ों यज्ञोंसे भी ऐसे पापोंकी शुद्धि होनी कठिन है, वह नामके द्वारा सहजमें हो गयी। अतएव यहाँ नामका उत्तम अर्थफलदातृत्व है। श्रीवाल्मीकिजी भी अपनी रामायणके द्वारा औरोंके पापोंकी शुद्धि कर रहे हैं; यथा—

'एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्।'

(वाल्मीकि० माहात्म्य)

इस रीतिसे इस वाल्मीकि-प्रसङ्गसे नामके द्वारा गुणबाधा-रक्षण और अर्थफलके उत्तम परिणामरूप शुद्धिकी प्राप्ति सिद्ध है।

स्वभाव-बाधा-रक्षण और धर्मफलदातृत्व

सहस नाम सम सुनि सिव बानी । जपति सदा पिय संग भवानी ॥
हरषे हेतु हेरि हर ही को । किय भूषन तिय भूषन ती को ॥

अर्थात् विष्णुसहस्रनामके समान (एक राम-नाम-जपका महत्त्व है, ऐसी) शिवजीकी वाणी सुनकर श्रीपार्वतीजी सदा पतिके साथ इसका जप किया करती हैं। श्रीशिवजी उनके हृदयकी प्रीति देखकर प्रसन्न हुए और पतिव्रताशिरोमणि स्त्री (श्रीपार्वतीजी)को अपना भूषण बना लिया है। अर्थात् उन्हें आधे अङ्गमें धारणकर भूषण-धारणकी भाँति उनसे अपनी शोभा मानी है । पद्मपुराणमें कथा है कि एक समय श्रीपार्वतीजी विष्णुसहस्रनामका पाठ कर रही थीं। श्रीशिवजीने उन्हें साथ भोजन करनेके लिये बुलाया और कहा कि एक बार 'राम' यह नाम कहकर आओ भोजन करो। उन्होंने वैसा ही किया। पीछे पूछा कि आपने मेरा नियमित पाठ क्यों छुड़ा दिया है ? तब श्रीशिवजीने कहा--

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनामतातुल्यं रामनाम वरानने ॥

अर्थात् एक 'राम' नाम विष्णुसहस्रनामसमूहके समान है। यहाँ 'सहस्रनाम' पदके साथ 'ता' प्रत्यय 'समूह' अर्थमें है—'जनता' पदके समान। तबसे शिवजीके साथ ही इस मङ्गल-भवन अमङ्गलहारी नामका जप उमाजी सदा किया करती हैं (ऊपर प्रमाण आ गया है)।

श्रीशिवजीको श्रीपार्वतीजीकी इस रामनाममें प्रीति और अपने वचनमें प्रतीतिपर बड़ी प्रसन्नता हुई। इससे इन्हें अपने आधे अङ्गमें धारणकर शोभा मानी है । स्वभावदोषका सुधार करना बड़ा कठिन है—

'स्वभावो दुरतिक्रमः ।' (वाल्मीकि० ६ । ३६ । ११)

—ऐसा रावणने कहा है। ज्ञानियोंको भी बहुत अंशोंमें स्वभावपराधीनता रहती है; यथा—

'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।'
(गीता ३ । ३३)

सती-शरीरमें श्रीपार्वतीजीका स्वभाव बड़ा कठिन था; यथा—

सुनहि सती तव नारि सुभाऊ । संसय अस न धरिअ उर काऊ ॥
सती कीन्ह चह तहँहुँ दुराऊ । देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ ॥
(रामचरितमानस बाल० ५०, ५२)

इसी स्वभावदोषपर शिवजीने सतीजीका त्याग किया था। इस नाममें प्रीति होनेसे वह दोष नहीं रह गया। इसपर प्रसन्न हो शिवजीने उन्हें अपने आधे अङ्गमें ही मिला लिया। यह नामका स्वभावदोषनिवारण फल है।

पतिलोककी प्राप्ति पतिव्रतधर्मका फल है, वह इन्हें इसी लोकमें हो गयी, स्त्रियोंके लिये यही एकमात्र धर्म है और वह असिधारपर चलनेके समान कठिन है । नामद्वारा ऐसे धर्मका भी परमोत्तम फल प्राप्त हो गया और फिर ये भी अपने आश्रित स्त्रियोंको इस धर्मफलका दान किया करती हैं। इतना बड़ा धर्मफलभण्डार इन्हें प्राप्त है कि वह कभी घटता नहीं। तथा—

एहि कर नाम सुमिरि संसारा । तिय चढ़िहहिं पतिव्रत असि धारा ॥
(रामचरितमानस बाल० ६६)

यह महत्त्व श्रीनारदजीने हस्तरेखा देखकर कहा है, आगे नाम-निष्ठासे इसकी सम्पन्नता हुई है।

यहाँतक विवेचनसे सिद्ध हुआ कि श्रीरामनामके जापक स्वयं काल, कर्म, गुण और स्वभावके दोषोंसे रक्षा पाते हैं और अपने आश्रितोंके भी इन दोषोंका निवारण करते रहते हैं तथा स्वयं चारों फल अनायास पा जाते एवं औरोंको भी लुटाया करते हैं, चारों फलोंका अटूट भण्डार घटता नहीं।

अन्य साधनोंके लिये मोक्षफल तो परम दुर्लभ है, पर रामनामजपपरायण शिवजी वही फल कीट-पतंगतकको काशीमें लुटाया करते हैं, यह अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रभाव है।

अन्यत्र उपर्युक्त प्रभावके स्पष्ट प्रमाण भी बहुत हैं, कुछ लिखता हूँ—

कालु, कर्म, गुन, सुभाव सबके सीस तपत ।
राम नाम महिमा की चरचो चले चपत ॥
(विनय-पत्रिका १३०)

तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि ।
बेद-पुरान पुकारत, कहत पुरारि ॥
कामधेनु हरि नाम, कामतरु राम ।
तुलसी सुलभ चारि फल सुमिरत नाम ॥
(बरवै रामायण ५६, ६२)

राम-नाम कामतरु देत फल चारि रे ।
कहत पुरान, बेद, पंडित, पुरारि रे ॥
(विनय-पत्रिका ६७)

उपर्युक्त प्रभाव विचारकर 'सीता-राम' इस युगल नामका जप एवं कीर्तन कर उक्त लाभसे कृतार्थ होना चाहिये।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरि-स्मरण। तुम्हारा पत्र व्यवस्थापक गीताप्रेसके नामसे दिया हुआ मिला। संसारको अनित्य, क्षणभङ्गुर, मानवशरीरको दुर्लभ, विषयोंको विषवत् एवं भजन-साधनको अमृतवत् समझते हुए भी तुम्हारी बुद्धि भ्रमित-सी हो रही है तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह आधिपत्य जमाये बैठे हैं लिखा, सो ज्ञात किया। बुद्धिका भ्रम दूर हो एवं काम, क्रोध, लोभ, मोहका समूल नाश हो जाय—नामोनिशान न रहे, इसके लिये ईश्वरका भजन-ध्यान श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर करनेकी तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा करनेसे धीरे-धीरे भ्रमका नाश होकर काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दुर्गुण भी समाप्त हो सकते हैं। गीता-तत्त्वाङ्क (गीतातत्त्वविवेचनी टीका) में अध्याय ९ श्लोक ३०-३१ और अध्याय १० श्लोक ९-१० और ११ की व्याख्या देखनी चाहिये।

मनकी चञ्चलताके विषयमें कई बातें लिखीं और लिखा कि भगवन्नाम-जप करते समय भी मन इधर-उधर चला जाता है, सो मालूम किया। इसके लिये भगवान्की शरण होकर रो-रोकर करुणभावपूर्वक भगवान्से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। जप करते समय मन इधर-उधर चला जाय तो इसके लिये सच्चा और वास्तविक दुःख होना चाहिये। संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप तथा अनित्य समझकर इससे घृणाबुद्धि करनी चाहिये एवं भगवान्को सर्वगुणसम्पन्न तथा आनन्द और शान्तिस्वरूप समझकर उनमें श्रद्धा और प्रेम बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार करनेसे मन धीरे-धीरे संसारसे हटकर परमात्माकी ओर लग सकता है। इन्द्रियोंका तो इधर-उधर भागनेका स्वभाव ही है, वे प्रमथनस्वभाववाली हैं; किंतु उनपर अधिक-से-अधिक सावधानीपूर्वक नियन्त्रण रखना चाहिये। मन-इन्द्रियोंको अभ्यास और वैराग्यसे वशमें करना चाहिये। गीतातत्त्वाङ्क (गीतातत्त्वविवेचनी टीका) में अध्याय ६ श्लोक ३५ और ३६ की व्याख्या देखनी चाहिये।

अपने स्वरूपको पहचानने एवं शान्ति मिलनेका उपाय पूछा, सो इसके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित पुस्तकोंका स्वाध्याय करना चाहिये। 'तत्त्व-चिन्तामणि'के सात और 'परमार्थ-पत्रावली'के चार भाग प्रकाशित हो चुके हैं, इनका स्वाध्याय करना चाहिये। इनके अध्ययनसे आपकी शङ्काओंका समाधान हो सकता है। सबसे यथायोग्य।

(२)

सप्रेम राम-राम! आपका दिनाङ्क ७-२-५६ का पत्र मिला। आपने कई शङ्काएँ कीं, उनका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

१. गरीबोंको भगवान् ही बनाते हैं, यह आपका लिखना ठीक है। जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भगवान् भुगताते हैं एवं उनकी सेवा करनेके लिये भी कहते हैं। भगवान्ने ही गरीबोंको बनाया है। इसका मतलब यह नहीं है कि वे बेचारे तकलीफ पाते रहें एवं उनकी सेवा भी न की जाय। सेवाका काम अपने लोगोंके जिम्मे है। जैसे कोई चोरी-डकैती या बदमाशी करता है तो पुलिसद्वारा गवर्नमेंट उसे पर्याप्त मात्रामें दण्ड दिलवाती है। अगर उस दोषीके कहीं घाव हो जाता है तो मलहम-पट्टीके लिये भी उचित व्यवस्था रहती है। मार-पीटकर ही नहीं छोड़ दिया जाता। इसी प्रकार भगवान् उन्हें दण्ड भुगतानेके लिये गरीबी देते हैं। उनकी सेवाका काम दूसरोंके जिम्मे है। जो सेवा करता है, उसे उसका अच्छा फल मिलता है; अतः सेवा करनेवालेको तो कर्तव्य समझकर गरीबोंकी सेवा ही करनी चाहिये।

२. आपने मित्रभाव रखनेवाले एक व्यक्तिका उदाहरण दिया। आपने उसे दूकान करवायी और वह सब रुपया लेकर चम्पत हो गया, सो मालूम किया। इस घटनासे आपके मनमें जो यह धारणा हो गयी है कि किसीके साथ भला करनेपर भी बुरा ही होता है, यह ठीक नहीं है। आपके साथ कोई बुराईका व्यवहार करे तो आपको बुरा नहीं मानना चाहिये। आपको तो उसके साथ अच्छे-से-अच्छा व्यवहार करना चाहिये। आपको अपने अच्छे कर्मका फल मिलेगा एवं बुरा कर्म करनेवालेको पाप भोगना पड़ेगा।

'जो तोकूँ काँटा बुवै ताहि बोय तूँ फूल।'

आपको इस उपर्युक्त पद्यवाक्यके अनुसार ही करना चाहिये। साथ ही धोखा देनेवालोंसे सावधान रहना चाहिये।

कोई काँटा बने तो बने, आपको तो फूल ही बनना चाहिये ।

३. आप कल्याण-अङ्क तथा गीताप्रेससे पुस्तकें मँगाकर बराबर पढ़ते हैं, सो बहुत उत्तम बात है । यह भी लिखा कि संतोष नहीं हो रहा है, सो संतोष हो इसके लिये भगवान्‌के नामका जप, स्वरूपका ध्यान, गीता-रामायणका पाठ, स्तुति-प्रार्थना श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करते रहना चाहिये । इससे संतोष हो सकता है ।

४. गीता पढ़नेके लिये आपकी हार्दिक इच्छा है एवं इसके लिये आप प्रयत्नशील भी हैं, सो उत्तम बात है । संस्कृतका आप शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते हैं, तो इसके लिये संस्कृतके किसी पण्डितसे गीताका शुद्ध उच्चारण करना सीख लेना चाहिये । नहीं तो, संस्कृत श्लोकोंको छोड़कर केवल भाषा-ही-भाषा पढ़ लेनी चाहिये ।

× × × ×

आपकी शङ्काओंका अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार उत्तर दे दिया गया है । और भी कोई बात आप पूछना चाहें तो निःसंकोच पूछ सकते हैं ।

(३)

सादर हरिस्मरण !

तुम्हारा पत्र मिला । समाचार लिखे सो मालूम किये । तुम्हारे बारह वर्षके लड़केकी मृत्यु हो गयी, इससे तुमने अपनेको असहाय समझा, सो इस प्रकार लड़केकी मृत्यु होनेपर चिन्ता-फिक्र बिल्कुल ही नहीं करनी चाहिये । लड़केका जन्म और उसकी मृत्यु प्रारब्धवश ही होते हैं । जन्ममें हर्ष और मृत्युमें दुःख करना यह अज्ञान ही है । इस अज्ञानरूपी अन्धकारको विवेकरूपी प्रकाशसे दूर करना चाहिये । लड़केके मरनेपर चिन्ताकी तो कोई बात है ही नहीं । भगवान्‌ने अपनेको जो चीज धरोहररूपमें दी थी, उसे वापस ले लिया अथवा दूसरे शब्दोंमें भगवान्‌की चीज भगवान्‌के पास चली गयी, ऐसा ही समझना चाहिये । चिन्ता-फिक्र करनेकी तो बात ही क्या है ? हाँ, मृतक आत्माको शान्ति मिले, इसके लिये भजन-ध्यान एवं भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये ।

प्रभुका नाम लेते-लेते तुम्हें पंद्रह दिन हो गये, किंतु शान्ति नहीं मिली, सो मालूम किया । श्रद्धा-विश्वास, प्रेम और मनसे भगवान्‌का नाम लेना चाहिये तथा भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये; तभी शान्ति मिल सकती है । अभी शरीरका मोह लिखा, सो शरीरमें मोह नहीं करना चाहिये; यही अशान्तिका कारण है । अनन्यभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्‌के भजन-ध्यानमें लग जाना चाहिये ।

तुम ठंडे जलसे स्नान नहीं कर पाती हो तो कोई बात नहीं है, स्नान गर्म पानीसे कर लेना चाहिये । पर स्नान रोज करना चाहिये । सरदी-जुखाम, बीमारी आदिमें स्नान न हो तो बात दूसरी है ।

तुम बिस्तरपर लेटे-लेटे नामजप करती हो सो कोई बात नहीं है; बिस्तरपर लेटे-लेटेकी तरह हर समय काम करते हुए भी नाम-जप करनेका अभ्यास डालना चाहिये । निरन्तर भजन, ध्यान, स्मरण करनेसे अपने-आप ही सब पापोंसे छुटकारा मिलकर परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । खूब दृढ़ता एवं विश्वासपूर्वक अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य इसीको मानकर तत्परता एवं उत्साहसे कटिबद्ध होकर इस काममें लग जाना चाहिये । अपने मृतक पुत्रके लिये चिन्ताको छोड़कर भगवान्‌की प्राप्तिके लिये चिन्ता करनी चाहिये, जिससे यह लोक और परलोक दोनों सुधर जायँ । लड़केके लिये चिन्ता-फिक्र करना तो हानिकर और बाधक है ।

अपने ग्राममें सत्सङ्गका अभाव लिखा एवं दुःख-निवृत्तिके लिये कुछ दिन अपनी शरणमें रखनेके लिये तुमने हमें लिखा, सो तुम्हारा लिखना ठीक है; किंतु हम तो दूसरी स्त्रीको अपने पास नहीं रखते हैं । शरणमें किसीको लेनेकी न तो हमारी सामर्थ्य ही है और न अधिकार ही है । शरणके लायक तो एकमात्र भगवान् ही हैं, वे शरणागतवत्सल हैं, हम सबको उन्हींकी शरण लेनी चाहिये । तुम्हें सत्सङ्ग नहीं मिलता तो सत्सङ्गके अभावमें सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय भी दूसरे नंबरमें सत्सङ्ग ही है । उनमें भगवद्विषयक बातें पढ़नी चाहिये । गीताप्रेससे प्रकाशित तत्त्व-चिन्तामणि, गीता-तत्त्व-विवेचनी-टीका एवं परमार्थ-पत्रावली, भगवच्चर्चा, भक्तगाथा तथा गीता, रामायण, भागवत आदि पढ़ने चाहिये । चैत्रसे आषाढ़तक चार मास ऋषिकेश, गीताभवनमें सत्सङ्ग होता है । हम वहाँ जाया करते हैं; बहुत-सी स्त्रियाँ भी अपने घरके आदमियोंके साथ आया करती हैं; वहाँ तुम भी आना चाहो तो किसी घरके आदमीको साथ लेकर आ सकती हो ।

तुमने कई बातें पूछीं, उनका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

१. कई लोग गुरु बनकर अपने नामका जप करवाते

हैं, उस प्रकार मनुष्यके नामका कभी भी जप नहीं करना चाहिये। तुम्हारी गुरु-मन्त्रमें ही अधिक श्रद्धा है तो भगवान्को परम गुरु मानकर उनके नामका जप करना चाहिये—यही सर्वश्रेष्ठ है।

जप न करनेकी अपेक्षा बैठे-बैठे या लेटे-लेटे बिना स्नान किये भी जप करना ठीक ही है। किंतु आसन लगाकर स्नान करके श्रद्धा-भक्तिपूर्वक ध्यानसहित जप करना ही सर्वश्रेष्ठ है। विस्तारसे गीता-तत्त्वविवेचनी-टीका (गीता-तत्त्वाङ्क जो कि गीताप्रेसमें प्राप्य है) अध्याय ६ श्लोक ११ से १४ की व्याख्या देखनी चाहिये।

२. माला पूरी होनेपर आचमनीसे जल डालनेपर तुम्हें भगवान्के ध्यानमें विघ्न होता है तो ऐसा करना कोई जरूरी नहीं है। जैसे तुम्हारे भजन-ध्यानमें सुविधा हो वैसा ही करना चाहिये।

३. तीन-चार दिनोंतक स्त्रियाँ जब कि वे अशुद्ध रहें यानी मासिकधर्ममें हों, उस अवधिमें वे भगवान्के नामका मानसिक जप कर सकती हैं, इसमें किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। भगवान्के नामका जप करनेमें तो लाभ ही है।

४. हिंदुओंके जितने व्रत-त्यौहार आदि होते हैं, उनको मनानेमें लाभ-ही-लाभ है, कोई नुकसानवाली बात नहीं है।

५. मृत पुत्रके प्रति कर्तव्य पूछा सो उसकी आत्माको शान्ति मिले, इसके लिये भगवान्से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये।

६. दिनचर्या लिखकर भेजनेके लिये लिखा, सो पहले अपनी वर्तमान दिनचर्या लिखनी चाहिये। तुम्हारे लिखनेपर उसमें आवश्यक संशोधन किया जा सकता है।

सबसे यथायोग्य।

(४)

सादर हरिस्मरण। गीताप्रेस, गोरखपुरके पतेसे दिया हुआ आपका पत्र मुझे यथासमय मिल गया था, किंतु समयाभावके कारण पत्रका उत्तर देनेमें कुछ विलम्ब हो गया, इसके लिये आपको किसी भी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये। मेरे पास पत्र बहुत आते हैं। अतः उत्तर देनेमें प्रायः विलम्ब हो ही जाया करता है।

आपने संत-शिरोभूषण, माननीय, सम्माननीय, महाराज आदि प्रशंसाद्योतक विशेषण हमारे नामके आगे-पीछे लिखे एवं 'चरणोंमें शतशः साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणिपात' इस प्रकार लिखा, सो ऐसा लिखकर हमें संकोचमें नहीं डालना चाहिये। मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ, मुझे तो श्री एवं राम-राम लिखना ही काफी है।

आपने हमारी तत्त्व-चिन्तामणि पढ़ी एवं पारस्परिक परिचय न होनेपर भी हमें संत मानकर हमारे चरणोंकी सेवा करनेकी अपनी इच्छा लिखी, सो आपके भावकी बात है; किंतु मैं इस योग्य नहीं हूँ। जिन संतोंकी चरण-सेवासे कल्याण हो जाय, ऐसे संतोंको हमारे नमस्कार हैं।

भक्तिमती श्रीमीराबाईका चरित्र सुनकर किसी वाद्य-यन्त्रको प्राप्त कर उसे बजाते हुए भजन-कीर्तन करनेकी आपको इच्छा हुई एवं आपने वाद्ययन्त्रके लिये भगवान्से प्रार्थना की तथा दिलरुबा नामक वाद्ययन्त्र भी भगवत्-कृपासे आपको मिल गया, अब आप उसपर भगवान्के भजन-कीर्तन नहीं करते हैं, सो ज्ञात किया। भजन-कीर्तन तो आपको करने ही चाहिये। भजन-कीर्तन करनेमें आपके कोई विघ्न आता हो तो उसके नाशके लिये आपको भगवान्से रो-रोकर करुणभावसे स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् बड़े दयालु हैं। साधककी मदद करनेके लिये वे हर समय तैयार रहते हैं। उनसे विश्वासपूर्वक प्रार्थना करनेभरकी देर है।

आपने अपने लिये अहंकारी, अज्ञानी, पापी, नीच आदि शब्दोंका प्रयोग किया एवं हमारे लिये निरभिमानी, कृपालु, दयालु, ज्ञानी आदि शब्द लिखे, सो इस प्रकार हमारी प्रशंसा एवं अपनी निन्दाके शब्द नहीं लिखने चाहिये।

हमारी प्रशंसा करते हुए आपने लिखा कि आपके भाव एवं आपके विचार कितने अच्छे हैं कि तत्त्व-चिन्तामणिमें भरतजीका विरह पढ़ते-पढ़ते नेत्रोंमें आँसू आने लगते हैं तथा इसके लिये हमें धन्यवाद दिया, सो इसमें हमें धन्यवाद देनेकी बात ही क्या है? भरतजीका प्रसङ्ग ही ऐसा है, यह तो भरतजीके ही त्याग और प्रेमकी महिमा है।

आपकी बीस वर्षकी अवस्था है, आपकी पिछले साल शादी होनेवाली थी, भगवान्की भक्ति करनेके उद्देश्यसे आपने शादी करनेसे इन्कार कर दिया, इसपर कन्यापक्ष तथा और लोगोंने आपको नपुंसक कहा आदि सभी बातें मालूम कीं, आपकी इच्छा भगवान्की भक्ति करनेकी है सो बहुत उत्तम है; किंतु विवाह करनेमें कोई दोषकी बात नहीं है। माता-पिताका आग्रह हो तो आप विवाह कर सकते हैं।

आपके माता-पिताने आपका नाम कृष्णदास रक्खा एवं

लोग भी आपको इसी नामसे पुकारते हैं; किंतु कृष्णकी एक मिनट भी चाकरी नहीं होती, इसलिये कृपा करनेको लिखा, सो मालूम किया। हममें कृपा करनेकी सामर्थ्य है ही कहाँ ? कृपा करनेवाले तो एकमात्र भगवान् ही हैं, उनकी कृपा है ही, जो कि उन्होंने मनुष्यका शरीर कृपा करके प्रदान किया एवं अपने कल्याणके लिये साधन भी अवगत करा दिया। अब अपना कर्तव्य समझकर नित्य-निरन्तर निष्काम-भावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌का भजन, ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि करनेकी ही कमी है। इसके लिये तत्परता एवं उत्साहसे चेष्टा करनी चाहिये।

आपने भगवान्‌के भक्तोंकी प्रशंसा की, सो उनकी प्रशंसा तो जितनी की जाय उतनी ही थोड़ी है; किंतु ऐसे भगवद्भक्त बहुत थोड़े ही होते हैं, उनकी पहचान करना जरा कठिन है। हम तो साधारण आदमी हैं।

आप कल्याणके ग्राहक हैं एवं बराबर कल्याण पढ़ते हैं, सो अच्छी बात है।

आपने अपनेको विषयरूप त्रिगुणात्मक अन्धकारमें लिखा एवं सुबोध तरणी होकर बचानेके लिये लिखा, सो ठीक है। इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। वे ही बचानेवाले हैं।

आपने लिखा कि गुरु मिलते हैं, किंतु सद्‌गुरु नहीं मिलते, सो सद्‌गुरु भगवान् हैं ही। उन्हें माननेकी ही कमी है। उन्हें सद्‌गुरु मानकर और समझकर उनकी शरण होकर साधन करना चाहिये।

आपने ऋषिकेश-सत्सङ्गमें सम्मिलित होनेकी अपनी इच्छा लिखी, सो उत्तम बात है। ऋषिकेशमें लगभग अप्रैल-से जुलाईतक गीताभवनमें सत्सङ्ग हुआ करता है। आप वहाँ आ सकते हैं।

सबसे यथायोग्य।

(५)

सप्रेम राम-राम ! आपका पत्र मिला। समाचार लिखे सो मालूम किये। आपके चित्तमें अशान्ति रहती है एवं संसारकी ओर बारंबार मन जाता रहता है, सो मालूम किया। संसारमें आसक्ति और ममता होनेके कारण ही बारंबार मन इधर-उधर जाता है। संसारके पदार्थोंसे आसक्ति और ममता हटाकर भगवान्‌में प्रेम करना चाहिये। भगवान्‌का भजन-ध्यान, स्तुति-प्रार्थना आदि करनेसे ही शान्ति मिल सकती है। इनमें मन नहीं लगे तो एकान्तमें बैठकर रो-रोकर करुणभावसे बारंबार भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् बड़े दयालु हैं। उनकी कृपाके प्रभावसे सब कुछ हो सकता है। इस बातपर पूरा विश्वास रखना चाहिये। संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, अनित्य एवं दुःखरूप समझकर गीता अध्याय ५ श्लोक २२, अध्याय ६ श्लोक २६, ३५ और ३६ का अर्थ गीतातत्त्वविवेचनीटीकामें समझकर उसके अनुसार साधन करनेकी खूब तत्परता एवं उत्साहसे चेष्टा करनी चाहिये। भजन-ध्यान न होनेपर मृत्युको नजदीक और समयको अमूल्य समझकर मनमें सच्चा दुःख एवं सच्चा पश्चात्ताप होना चाहिये तथा आत्मोद्धारकी इच्छाको खूब तीव्र करना चाहिये। परमात्माकी शरण लेकर उन्हींकी कृपाके बलपर साधनको खूब बढ़ाना चाहिये। यही सच्चा एवं वास्तविक रास्ता है। इस प्रकार करनेसे ही सच्ची शान्ति एवं सच्चे सुखकी प्राप्ति हो सकती है।

मनके प्रतिकूल कार्य होनेपर दुःख होता है, यह अज्ञान ही है। इस अज्ञानरूपी अन्धकारको विवेकरूपी प्रकाशसे दूर कर देना चाहिये। भगवान्‌के प्रत्येक विधानको मङ्गलमय ही समझना चाहिये एवं प्रतिकूलतामें भगवान्‌की विशेष कृपाका अनुभव करके खूब प्रसन्न होना चाहिये।

गीता अध्याय ४ श्लोक ११ में भगवान् जो बात कहते हैं वह बिल्कुल ठीक है। उसका मतलब यह नहीं कि भगवान्‌को एक बार याद कर लिया तो फिर बार-बार याद करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। भगवान्‌को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर याद रखना चाहिये। गीता अध्याय ८ श्लोक ७ और १४ की तत्त्वविवेचनीटीका देखनी चाहिये। उसमें अनन्यभावसे भजन करनेका महत्त्व बताया गया है।

आपने लिखा कि गीता अध्याय ९ श्लोक २७ के अनुसार सब काम श्रीभगवान्‌के अर्पण करनेकी चेष्टा करनेपर भी बहुत कामना हो जाती है, सो मालूम किया। जबतक कामनाएँ रहती हैं, तबतक शरण होनेमें ही कमी है। आपके कामनाएँ होती हैं तो आप अभी वाणीसे ही भगवान्‌के शरण हुए हैं, मनसे नहीं। मनसे सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करके उनके शरण होनेपर फिर कामनाएँ नहीं हो सकतीं। यह सिद्धान्तकी बात है।

× × ×

साधनकी बात लिखनेके लिये लिखा, सो ठीक है।

भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान निरन्तर निष्कामभावसे विश्वास और प्रेमपूर्वक करनेकी तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये। यह जो मनुष्य-शरीर मिला है, यह भगवान्‌की बड़ी भारी दयासे ही मिला है। इसके रहस्यको समझकर भगवान्‌के आदेशानुसार इसे अच्छे-से-अच्छे काममें ही लगाकर जीवनको सफल बनाना चाहिये। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम बढ़ाने चाहिये।

सबसे यथायोग्य !

(६)

सप्रेम राम राम !

आपका पत्र मिला। समाचार सभी मालूम किये। आपके पत्रका क्रमशः उत्तर नीचे दिया जा रहा है—

आप·······के प्रथम श्रेणीके मैजिस्ट्रेट हैं, सो ज्ञात किया। आपने अपने इस कामको घोर तामसिक काम लिखा एवं पूछा कि आदर्श मैजिस्ट्रेट कैसे बना जाय? सो ठीक है। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं सब प्रकारके आरामका त्याग करके किसीके दबाव या प्रभावमें न आकर, बिना कुछ भी लिये सत्यता और समताका बर्ताव करनेसे आप एक आदर्श मैजिस्ट्रेट बन सकते हैं। आपको लोभ और मोहसे कोसों दूर रहना चाहिये। इनके फंदेमें नहीं फँसकर प्रेम, विनय, उदारता और सत्यता आदिको अधिक-से-अधिक अपनाना चाहिये। इनका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। जहाँ अपने किसी भी प्रकारके स्वार्थका सम्बन्ध नहीं होगा, वहाँ आदर्शता आ सकती है।

आपने लिखा कि मनमें संकल्प-विकल्प होते रहते हैं, अहंभावना बनी है। दूसरोंकी त्रुटियाँ देखनेमें सुख मिलता है, सो सब मालूम किया। आखिर ये अवगुण कबतक रहेंगे। आपने पूछा सो ठीक है। इन्हें जब वास्तवमें अवगुण मानकर इनसे घृणा की जायगी, तब इनका स्वयमेव ही अभाव हो सकता है। संसारमें आसक्ति रहनेसे ही तरह-तरहके संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर एवं अनित्य समझकर उससे वैराग्य करना चाहिये। 'अहम्'—'मैं हूँ' इस अहं-भावनामें अज्ञान ही कारण है, जिसका नाश ज्ञान होते ही हो जाता है। ईश्वरविषयक ज्ञानके लिये सत्सङ्ग करना चाहिये एवं गीताप्रेसकी धार्मिक पुस्तकोंका स्वाध्याय करना चाहिये। उन्हें समझनेकी कोशिश करनी चाहिये। दूसरोंके दोषोंको देखनेमें सुख मिलता है, यह भी अज्ञान ही है। जिसका परिणाम बहुत खराब है। दूसरोंके अवगुण देखनेसे वे अवगुण अपनेमें आते हैं एवं जिसके अवगुण देखे जाते हैं, उससे द्वेष बढ़ता है। इसलिये सबमें गुणोंका दर्शन करना चाहिये ताकि अधिकाधिक प्रेम बढ़े एवं अपनेमें गुणोंका ही प्रवेश हो। जबतक भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती है, तबतक ये अवगुण किसी-न-किसी रूपमें रह ही जाते हैं। वास्तवमें ये अवगुण ही भगवान्‌की प्राप्तिमें बाधक हैं। इसलिये इन अवगुणोंका परित्याग करने तथा ईश्वरकी प्राप्ति करनेके लिये जीतोड़ परिश्रम करना चाहिये।

आपके चाचाजी डिस्ट्रिक्ट तथा सेशन्स जज थे। वे अपनी पत्नी तथा छः छोटे-छोटे बच्चोंको छोड़कर स्वर्गलोक सिधार गये, सो संयोगकी बात है। जो जन्मता है उसे एक दिन निश्चय ही मरना पड़ता है। आपने लिखा कि 'उन्हें १०००) मिलता था। इस दुःखको किस प्रकार सहन करना चाहिये, सो ठीक है। इसे भगवान्‌का विधान मानकर संतोष करना चाहिये एवं आपके चाचीजीका कल्याण हो, इसके लिये भगवान्‌का भजन-ध्यान और स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। चाचीजी आदिको कम-से-कम खर्चा लगानेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये एवं उन्हें पेंशन मिल सके, इसके लिये कोशिश करनी चाहिये।

जैन-दर्शन एवं वैष्णव-दर्शनका अन्तर आपने पूछा, सो ठीक है। जैनियों तथा वैष्णवोंके मतमें काफी अन्तर है; दोनोंका विभिन्न मार्ग है। सब बातें पत्रमें नहीं लिखी जा सकतीं। कभी आपसे मिलना होगा तो आपके पूछनेपर बतायी जा सकती हैं। पुनर्जन्म एवं कर्मफलको दोनों मानते हैं। प्रकृति एवं प्रकृतिका कार्य जड है, यह भी दोनों ही मानते हैं। इन बातोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। जैनीलोग सृष्टिकर्ता एवं कर्मफलदाता ईश्वरको नहीं मानते। वे जितने मुक्त पुरुष हो गये हैं, उन्हें ही ईश्वरका पद देते हैं; इसलिये इस हिसाबसे उनके बहुत-से ईश्वर हो जाते हैं। किंतु वैष्णवोंके ईश्वर एक ही हैं। आपने पूछा कि क्या जैनी साधुओं एवं मुनियोंको मुक्ति नहीं मिलेगी ! सो मुक्ति कैसे मिल सकती है ? जब कि वे वर्तमान देश-कालमें मुक्ति मानते ही नहीं हैं। उनकी दृष्टिमें तो मुक्ति है ही नहीं। वैष्णवलोग मुक्ति मानते हैं, उसके लिये चेष्टा भी करते हैं; तब उनकी मुक्ति भी हो सकती है। जैनियोंके दृष्टिकोणके दोष आपने पूछे, सो ठीक है। वे लोग वर्तमान देश-कालमें मुक्ति अथवा एक भगवान्‌को नहीं मानते, यही उनमें दोष है। आपने जो यह लिखा है कि जैनी

साधुलोग जैसा तप एवं संयम करते हैं वैसा बड़े-बड़े वैष्णव साधुओंमें नहीं मिलता, सो आपका लिखना बहुत ठीक है। जहाँतक तप एवं संयमका प्रश्न है, जैनी साधु वैष्णवोंसे काफी बढ़े हुए हैं; किंतु उपर्युक्त कमियाँ जैनियोंमें हैं; और भी बहुत अन्तर है। 'वैष्णव-धर्मको छोड़कर जैन-धर्म स्वीकार कर लिया जाय तो क्या हानि है?' पूछा सो ठीक है। अपने धर्मको छोड़नेमें तो हानि-ही-हानि है। 'परधर्मो भयावहः' दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है। दूसरी बात यह भी है कि जैनमत माननेवालोंकी इस देश-कालमें इस जन्ममें मुक्ति भी नहीं होती। दूसरे देश एवं कालमें कभी मुक्ति हो सकती है; किंतु वैष्णवधर्मके माननेवालोंकी इस देश-कालमें इस जन्ममें भी मुक्ति हो सकती है, इसलिये अपना धर्म छोड़कर दूसरेके धर्मको ग्रहण करनेकी आवश्यकता ही क्या है? धर्म तो वैष्णव ही उत्तम है। अगर इसका पालन किया जाय तो शीघ्र ही मुक्ति हो सकती है; किंतु जैन साधु इस देश-कालमें इस जन्ममें मुक्ति मानते ही नहीं। तो फिर अपने धर्मका पूर्णतः पालन करनेपर भी मुक्ति कैसे मिलेगी! आप जरा विचार करनेकी कृपा करें।

आपकी सास अर्चिका है, उसके उपवास आदिको देखकर आपको चकित होना पड़ता है सो ज्ञात किया। 'पत्नी तथा बच्चोंको उनके सत्सङ्गमें जाने देना चाहिये या नहीं?' आपने पूछा सो उनके सत्सङ्गमें जानेमें कोई फायदा तो नहीं है; क्योंकि उनके उपदेशसे मुक्ति तो हो नहीं सकती। वे आपको या आपके बच्चोंको कोई चीज दें तो उसमें कोई आपत्ति नहीं है। चीजें उनकी प्रसन्नताके लिये लेनी चाहिये, अपने स्वार्थके लिये नहीं।

आपने लिखा कि मेरे-जैसे जीवकी गति आप-जैसे संतोंकी चरणरजसे होगी, सो निगाह किया। मैं तो एक साधारण आदमी हूँ। गति तो भगवान्‌की कृपासे ही हो सकती है।

सबसे यथायोग्य।

(७)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण!

आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। उत्तर इस प्रकार है—

आपको झूठ बोलने और पाप करनेमें जो हिचक नहीं होती और डर नहीं लगता, इसका तो यह कारण है कि उनसे होनेवाले परिणामपर आपका विश्वास नहीं है तथा वर्तमानमें झूठ बोलकर और पाप करके आप किसी-न-किसी प्रकारकी भोगवासनाकी पूर्ति करना चाहते हैं, पर वास्तवमें यह बड़ी भारी भूल है। सुखभोगकी इच्छा कभी भी पूरी नहीं हो सकती, क्योंकि भोगोंकी प्राप्ति इच्छासे नहीं होती। वे तो कर्मफलके रूपमें मिलते हैं और जैसे-जैसे मिलते हैं, इच्छाको बढ़ाते रहते हैं; इस परिस्थितिमें इच्छाकी पूर्ति कैसे हो। उसकी तो विचारद्वारा निवृत्ति ही हो सकती है।

आपने लिखा कि धर्म क्या है और पाप क्या है? उसका मुझे ज्ञान नहीं है, सो ऐसी बात नहीं है। ज्ञान तो आपको अवश्य है पर आप उस ज्ञानका आदर नहीं करते। आप समझते हैं कि झूठ बोलना बुरा है—पाप है। झूठ नहीं बोलना चाहिये—ऐसा दूसरोंसे कहते भी हैं। यदि कोई बोलता है तो उसका झूठ बोलना आपको बुरा भी लगता है, तथापि आप झूठ बोलनेके लिये विवश हो जाते हैं, यही अपने ज्ञानका अनादर करना है। यदि आप जितना जानते हैं उतने धर्मका पालन करना आरम्भ कर दें तो आवश्यक जानकारी स्वयं प्राप्त हो सकती है; यह भगवत्कृपाकी महिमा है।

'भगवान् क्या हैं'—यह जानना नहीं बनता; क्योंकि भगवान् मनुष्यकी ज्ञानशक्तिके बाहर हैं। भगवान्‌पर तो विश्वास किया जा सकता है, उनको माना जा सकता है, उनकी महिमा और प्रभावका दर्शन कर, सुनकर, समझकर और मानकर उनपर निर्भर हुआ जा सकता है। ऐसा करनेपर साधक कृतकृत्य हो सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

भगवान् अकारण ही कृपा करनेवाले हैं, यह ध्रुव सत्य है, तभी तो आप और हम सब लोग जो कि उनको नहीं मानते वे भी और जो उनको मानते हैं वे भी उनकी बनायी हुई हवा, अग्नि, जल, प्रकाश आदिका बिना ही किसी प्रकारका मूल्य दिये उपभोग कर पाते हैं। यदि वे अकारण कृपालु नहीं होते तो क्या इनपर रोक नहीं लगा देते, क्या टैक्स नहीं बाँध देते पर वे ऐसा नहीं करते; क्योंकि वे उदारचित्त हैं।

जो यह बात मान लेता है कि भगवान् अकारण ही कृपालु हैं वह तो उन्हींका होकर रहता है, वह फिर उनको भूल ही कैसे सकता है।

आप लिखते हैं कि मुझे भगवान्‌को पानेकी इच्छा नहीं

है, इससे तो स्पष्ट ही मालूम होता है कि न तो आपको यह विश्वास है कि भगवान् अकारण ही कृपालु हैं, न उनकी महिमाका ही ज्ञान है और न उनकी सत्तापर ही पूरा विश्वास है; क्योंकि जो यह समझता है कि भगवान् किसको कहते हैं, वह क्या कर सकते हैं, क्या कर रहे हैं, उनमें क्या-क्या गुण हैं, उनको प्राप्त होना क्या है ? इस रहस्यको जाननेवाला भला उनको बिना प्राप्त किये कैसे रह सकता है।

आपकी जो यह मान्यता है कि बिना छल, कपट और चालाकीके मुसीबत नहीं टलती, यह सर्वथा निराधार है। छल, कपट और चालाकीका ही परिणाम तो मुसीबत है, इसी कारण एक टलती है तो दूसरी आ जाती है। छल, कपट और चालाकीका सर्वथा त्याग कर देनेपर ही वास्तवमें मुसीबत सदाके लिये टल जाती है, यह समझना चाहिये।

आपने लिखा कि मैं क्या हूँ, कौन हूँ, यह समझमें नहीं आता। इसका तो यह अर्थ होता है कि वास्तवमें आप इसे समझना ही नहीं चाहते। मुसीबत जिसपर आती है, जो उसे टालना चाहता है, जिसे मुसीबतका ज्ञान है वही आप हैं।

आपने लिखा कि 'विश्वम्भर, करुणानिधान, दयासिन्धु, दयालु, प्रभु इस प्रकारके शब्दोंका तो प्रयोग ही नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं—सो यह आप किस आधारपर लिखते हैं जब कि आपको यही पता नहीं है कि मैं कौन हूँ।

आपकी इच्छा पूर्ण नहीं होती यह तो उचित ही है, यदि आपकी या इसी प्रकारके भाववाले अन्य मनुष्योंकी इच्छा पूर्ण होने लगे तो संसारमें सारा काम अव्यवस्थित हो जाय; क्योंकि आपकी इच्छाओंमें तो दूसरोंका अहित और अपना स्वार्थ भरा हुआ है, तभी तो आप पापपूर्ण कर्म और भले-बुरे सभी मनुष्योंकी निन्दा करते हैं।

यदि आपको अपने जीवनसे घृणा होती है, आपके मनमें अपना सुधार करनेकी इच्छा होती है तो समझना चाहिये कि भगवान्की बड़ी कृपा है। सुधार चाहनेवालेका सुधार होना कठिन नहीं है, दुःखोंसे छूटनेका उपाय तो यही ठीक मालूम होता है कि उस दुःखहारी प्रभुकी शरण ग्रहण करके उनके दिये हुए विवेकका आदर करें तथा वह काम करें जो हम दूसरोंसे चाहते हैं और वह कभी न करें जो हम दूसरोंसे नहीं चाहते। अर्थात् जिसको हम अपने लिये अच्छा समझते हैं, उसको सबके लिये अच्छा समझें और जिसे हम अपने लिये बुरा समझते हैं, उसे सबके लिये बुरा समझें।

(८)

सादर हरिस्मरण ! आपके दो कार्ड एक साथ मिले। समाचार ज्ञात हुए। आप पटना पधारे पर मुझसे मिलना नहीं हो सका, यह संयोगकी बात है, अभी मेरा कुछ दिन बाँकुड़ामें ही ठहरनेका विचार है। पटनामें तो आरामके लिये रास्तामें ठहरा जाता है, इस कारण समय कम ही मिलता है। बाहर जाना होनेपर समयपर याद रहे तो सूचना दी जा सकती है। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

१. भगवान् रामके स्वभावको जान लेनेवालेके द्वारा भजन अपने-आप हुआ करता है, उसे करना नहीं पड़ता; प्रत्युत वह उसे भूल नहीं सकता। यहाँ भजनसे अभिप्राय भगवान्की स्वाभाविक मधुरस्मृति है। 'भज्' धातुका अर्थ सेवा है, वह 'सेवन' स्मृतिके ही अन्तर्गत है। इसीलिये जप-ध्यान आदिको भी भजन कहा जाता है। इस दृष्टिसे योग और ज्ञानको भी कोई भजन कहे तो कोई बुराई नहीं है; क्योंकि भगवान्के स्वभावको जानना भी तो ज्ञान ही है, जो कि भजनका हेतु है।

२. 'मामनुस्मर युध्य च' इसमें मन, वाणी और शरीरद्वारा ऊपरसे क्रियाका भेद दीखनेपर भी वास्तवमें भेद नहीं है। जहाँ अपने कर्मोंद्वारा उस प्रेमास्पदकी ही पूजा की जाती है, वहाँ सभी क्रियाभेदोंमें अपने प्रियतमका स्मरण गोपियोंकी भाँति निरन्तर रहता है, यह स्वाभाविक नियम है। अतः उसे मनसे कुछ और करना और शरीरसे कुछ और करना नहीं कहा जाता। बिना मनके क्या युद्धकी क्रिया की जा सकती है ? कदापि नहीं। मन तो उसमें भी पूरा-पूरा लगाना पड़ता है, पर जो साधक अपने प्रेमास्पदको सर्वत्र देखता है उससे वह छिप कैसे सकता है ? गीता अध्याय ६ श्लोक ३०-३१ देखें। इस तत्त्वको समझ लेनेके बाद अड़चन और शङ्का नहीं रहती। इसीलिये उक्त श्लोकके उत्तरार्धमें कहा है कि 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'।

३. 'यतो यतो निश्चरति' यह श्लोक एकान्तमें ध्यान करनेके समयका है, कर्मयोगका नहीं। दोनोंके अधिकारी एकसे नहीं होते। पूर्वोक्त साधन अभ्यासयोग नहीं है, वह भगवत्-परायण प्रेमी भक्तका साधन है।XXXX

४. निष्काम कर्म यदि भगवदर्थ हो तो उसमें स्मरण भी है। उसके कर्म स्मरणके विरोधी नहीं होते। स्मरणका सम्बन्ध प्रेमसे है, क्रियासे नहीं।

५. कामनाकी निवृत्ति और निष्काम कर्मका अर्थ समझ लेनेसे यह उलझन मिट जाती है। जिस कर्ममें अपने सुखभोगकी और पद एवं अधिकार-पूर्तिकी कामनाका त्याग है, जो दूसरोंके अधिकारकी पूर्तिके और उनकी हितपूर्ण प्रसन्नताके लिये कर्तव्यपालनके रूपमें किया जाता है या यों समझें कि जो प्रभुकी प्रसन्नताके लिये, उन्हींकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उन्हींकी कृपासे प्राप्त सामर्थ्य-सामग्रीके द्वारा किया जाता है, वह कर्म निष्कामकर्म है। इस प्रकारका कर्म साधकके अन्तःकरणको शुद्ध करता है, राग-द्वेषका नाश करता है और भगवान्‌के प्रेमको प्रकट करता है। कामनाकी पूर्ण निवृत्ति जिस ज्ञानसे होती है, वह निष्कामकर्मयोगका फल है, वही ज्ञानयोगका भी फल है; गीता अ० ४ श्लो० ३८, ३९ देखें।

बिना तत्त्वज्ञानके किया जानेवाला कर्म वही अवर है जो फल-कामनापूर्वक किया जाता है, निष्कामकर्म नहीं। गीता अ० २ श्लो० ४९ देखें। साधन नाम उसीका है जिसे सर्वसाधारण मनुष्य कर सके। प्रकृति, विश्वास, योग्यता और रुचिके भेदसे साधनमें प्रकार-भेद हो सकता है।

६. बुरे लोगोंके साथ रहना भी कुसंगतिका एक अङ्ग है; परंतु परिस्थिति-परिवर्तन करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। अतः वह अपनी ओरसे किसी सुखके लालचसे या दुःखके भयसे बुरे लोगोंका सङ्ग न करे तथा उनसे द्वेष और घृणा भी न करे, उनका भी हित ही करे। पर उनसे उदासीन रहे। यही साधक कर सकता है। संयोगवश यदि प्रभुविमुख मनुष्यों-के साथ रहना पड़े तो साधकको उसे भगवान्‌का कृपामय विधान मानकर समझना चाहिये कि भगवान् मुझसे इन दुखियों-की सेवा कराना चाहते हैं। इसीलिये इनके साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ा है—यह समझकर बल, बुद्धि, योग्यता आदिके द्वारा उनकी धर्मानुकूल सेवा करता रहे, उनसे न तो द्वेष करे न घृणा, न अपनेमें ऐसे अभिमानको स्थान दे कि मैं तो अच्छा हूँ, भगवान्‌का भक्त हूँ और ये लोग नीच हैं तथा न उनसे किसी प्रकारके सुखकी आशा करे। ऐसा करनेसे उनसे ममता और उनमें आसक्ति नहीं रहेगी। ममता और आसक्तिका न रहना ही वास्तविक सङ्गत्याग है।

७. सङ्गत्यागके लिये न तो आश्रम बदलना आवश्यक है और न अपने आप न्याययुक्त प्राप्त हुए संयोगका त्याग ही। आजका समाज चाहे जैसा भी हो, साधकके लिये तो वह साधनसामग्री है। उसीकी सेवा करके अपने प्रियतमकी प्रसन्नता प्राप्त करना उसका मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। समाजके साथ ममता और आसक्ति न रहनेपर उसके संयोग और वियोग साधकके लिये हानिकर नहीं हो सकते। इस रहस्यको समझनेवाला साधक अनायास ही वर्तमान परिस्थितिमें अपने लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकता है। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। कठिनाइयाँ सब साधकने स्वयं ही बना रखी हैं। उसमें न तो समाजका दोष है, न सरकारका और न ईश्वरका ही। दूसरोंके मत्थे दोष मँढ़कर अपनेको निर्दोष मानना अपने आपको धोखा देना है।

भक्ताचरण

(रचयिता—श्रीपृथ्वीसिंहजी चौहान 'प्रेमी')

अड़े दीखते हों चाहे कर्म-खेतमें सचेत,
मर्म यही है कि कर्म उनके झड़े हुए।
गड़े दीखते हों चाहे लोक-व्यवहार बीच,
किंतु मोह-कीचसे हैं पैर उखड़े हुए॥
पड़े दीखते हों चाहे मस्त मेदनीकी राहें,
अंग तो समस्त प्रेम-फंद जकड़े हुए।
खड़े दीखते हों चाहे दृष्टिमें हमारे वे तो—
सृष्टिसे किनारे प्रभु-पदमें पड़े हुए॥

श्रीरामभद्रका स्वभाव

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

परम तत्त्ववेत्ता सिद्ध, साधु, संत महात्माओंका कहना है कि कोई यदि श्रीरघुनन्दन, रामभद्र राघवेन्द्रके स्वभावको ठीक-ठीक जान जाय तो वह कभी भी उनके स्मरणके अतिरिक्त अन्य कार्य पसंद नहीं कर सकता—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

अर्थात् भगवान् शंकर पराम्बा जगज्जननी भगवती पार्वतीसे कहते हैं—'उमा ! जिन सौभाग्यशाली महानुभावोंने प्रभु श्रीरामभद्रका स्वभाव जान लिया है, उन्हें भजन छोड़कर दूसरा कोई कार्य अच्छा नहीं लगता—उन्हें किसी क्रिया किंवा दिव्यातिदिव्य लोकोत्तर सुखभोगोंमें भी सरसता नहीं प्रतीत होती। राम-भजन, राघवेन्द्रके क्रीतदास बन जानेके लिये वे आतुर हो जाते हैं। इसके बिना उन्हें चैन नहीं। भगवद्भजनके सामने उन्हें सारा स्वर्गापवर्ग फीका दीखता है, इसलिये वे कहीं कुछ भी न देख-सुनकर सीधे भजन-समाधिमें ही डूब जाते हैं।

काकभुशुण्डि भगवान् रामके स्वभावको स्मरणकर हर्षसे विह्वल होकर कहते हैं कि गरुड़जी ! ऐसा स्वभाव न कहीं देखता हूँ, न सुनता ही हूँ, फिर उनके-जैसा किसी दूसरेको क्योंकर मानूँ ?—

अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज तो श्रीराघवेन्द्रके स्वभावपर न्यौछावर ही हो गये हैं और कभी तो ऐसा लगता है कि उनकी अधिकांश रचनामें भगवान्‌के कोमल स्वभावका ही वर्णन है और उनका अणु-अणु, रोम-रोम प्रभुके मृदुल स्वभावके द्वारा क्रीत-सा प्रभावित अनुप्राणित हो रहा है। वे तो कहते हैं कि भगवान् श्रीसीतानाथ, कौशलकिशोर रामभद्रके स्वभावको सुनकर जिसका मन प्रसन्न न हुआ (मानसिक क्लेश मिट न गया), शरीर पुलकित न हुआ, नेत्रोंमें जल न आये, वह आदमी अच्छा होता गली-गलीमें धूल फाँकता फिरता। भाव यह है कि ऐसा आदमी हो ही नहीं सकता।

सुनि सीतापति सील सुभाऊ।
मोद न मन, तन पुलकि नैन जल, सो नर खेहर खाऊ॥

एक दूसरी जगह वे ही कहते हैं—

तुलसीराम सुभाव सील लखि जो न भगति उर आई।
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई॥

भरतजीके द्वारा भगवान्‌का स्वभाव वर्णन कराते समय उनकी कविता-शक्ति तो रसका मूर्तिमान् रूप धारण कर लेती है। उसे ध्यानसे पढ़ने, मनन करने, जपनेपर समाधि-सी लगने लगती है, सब सुध-बुध भूलने लगती है—

पुरजन परिजन गुरु पितु माता। राम सुभाउ सबहिं सुख दाता॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥
सारद कोटि कोटि सत सेषा। करि न सकहिं प्रभु गुन गन लेखा॥
अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥
सील सकुचि सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

आदि—

वास्तवमें शीलसिन्धु रघुनन्दनके स्वभावका लोहा सबको मानना पड़ा है। 'प्रसन्न राघव' नाटकके रचयिता जयदेव तो कहते हैं—'जिसे देखो वह रामायण-रामकथा ही लिखता है। कुछ लोग कहेंगे कि इन भारतीय कवियोंको दूसरा कुछ आता ही न था। पर वास्तवमें इसमें कवियोंका दोष नहीं, दोष तो उन गुणगणोंका है, जो सब मिलकर रामभद्रके स्वभावको ही अपना आवास बनाने लगे—

स्वसूक्तीनां पात्रं रघुकुलतिलकमेकं कलयतां
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः।
यदेतैर्निःशेषैरपरगुणलुब्धैरिव जग-
त्यसावेकश्चक्रे सततसुखसंवासवसतिः॥

(१ । १२)

वस्तुतः भगवान् रामका स्वभाव शब्दोंके परे है। भागवतकार उन्हें 'साधुवादनिकषण' कहकर नमस्कार करते हैं और कहते हैं कि उन आत्माराम, पूर्णकाम, परम निष्काम परमात्माके स्वभावको क्या कहा जाय। जिनमें न कोई बड़प्पन था, न सुगमता थी, न ऊँचे कुलमें जन्म था, न विद्या थी, न बुद्धि, न आकृति और न कोई धन, बल, सेवा आदिके संतोषकर भाव ही, उन वानरोंसे भी रामभद्रने प्रेम किया और अपनेसे भी अधिक उनका ध्यान रक्खा—

न जन्म नूनं महतो न सौभगं
न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकस-
श्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः॥
(५।१९।७)

खग सबरि निसिचर भालुकपि किये आपु ते बन्दित बड़े।
तापर तिनकी सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े।

देवता, असुर, नर, वानर जिस किसीने भी उन्हें किसी भी प्रकार स्मरण कर लिया उसको सर्वस्व—मोक्षतक दे डाला, अपने-आपको दे डाला—

सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः
सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं
य उत्तराननयत् कोसलान् दिवम्॥
(५।१९।८)

'गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि रामचन्द्र इतने दयालु हैं कि जिन राक्षसोंने उन्हें द्वेषके कारण भी कभी स्मरण कर लिया था, उन्हें भी स्मरण करनेके नाते मुक्त कर रहे हैं—

उमा राम मृदुचित करुना कर। बैर भाव सुमिरहिं मोहि निसिचर
देहिं परमगति अस जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥

महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि राघवका कोई नाम मात्रका एक भी उपकार कर दे तो उसे वे आजन्म स्मरण रखते हैं, पर अपकार कोई उनका सैकड़ों कर डाले तो भी ध्यान नहीं देते—

कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥
(२।१।११)

मिलनेपर वे पहले ही मधुर शब्दोंमें बड़ी मीठी बात कहकर बोल देते हैं। दयाके तो मूर्तिमान् रूप ही हैं—

बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः।
…दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवान् शुचिः॥
(२।११।१३; १६)

गोस्वामी तुलसीदासजी तो 'प्रभु मूरति कृपामयी है।' कहकर बतला देते हैं कि मानो करुणा साक्षात् मूर्तिमान् होकर राघवेन्द्रके रूपमें अवतरित है।

एक दूसरी जगह वे—'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती' कहकर प्रभुकी लोकोत्तर कृपाका वर्णन करते हैं। दोहावलीमें एक जगह वे लिखते हैं कि भौंहोंका टेढ़ा होना भाग्यवान् महापुरुषोंका एक सामुद्रिक लक्षण है, और सारे लक्षण अपनी सफलता—सार्थकता सिद्ध करनेके लिये भगवान्‌में बस गये ही हैं, अतएव भगवान् राघवकी भौंहें भी टेढ़ी ही हैं। पर जब वे अपना मुख-मण्डल दर्पणमें देखते हैं तो अपनी टेढ़ी भौंहोंको देखकर चिन्तामें पड़ जाते हैं कि अरे कई लोग तो मुझे नाराज समझ कर डर जायँगे[1]। पर यथार्थ बात यह है कि वे कभी क्रुद्ध नहीं हुए। उनका चन्द्रमा-जैसा प्रफुल्लित मुख-कमल किसीके द्वारा आबाल्यकालसे अन्ततक कभी भी रिसियाया-सा नहीं देखा गया—

सिसुपनते पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाऊ।
कहत राम बिधुबदन रिसौहें सपनेहु लख्यौ न काऊ॥

वे खेलमें अपने हारे हुएको भी जीता हुआ बतलाते हैं—

'हारेहु खेल जितावहिं मोही।'

महर्षि वाल्मीकिके शब्दोंमें राघवमें सत्य, दान, तप,

१. मुकुर निरखि मुख राम भ्रू गनत गुनहिं दै दोष।
तुलसी से सठ सेवकन्हि लखि जनि परहिं सरोष॥

त्याग, मैत्री, पवित्रता[1], सरलता, विद्या तथा सेवाका भाव ये गुण निश्चय ही हैं—

सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम्।
विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे॥
(२। १२। ३०)

अक्रूरता, सहानुभूति, श्रुत, शील, शम, दम—ये छः गुण पुरुषोत्तम राघवको सर्वदा सुशोभित करते हैं—

आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं शीलं दमः शमः।
राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषोत्तमम्॥
(वाल्मी० अयो० ३३। १२)

भगवती सीताके शब्दोंमें राघवेन्द्रमें उत्साह, पौरुष, सत्त्व, अनृशंसता, कृतज्ञता, विक्रम और प्रभाव—ये सभी गुण हैं—

उत्साहः पौरुषं सत्त्वमानृशंस्यं कृतज्ञता।
विक्रमश्च प्रभावश्च सन्ति वानर राघवे॥
(वा० सु० २७। १५)

उनका प्रेम कभी घटता नहीं, अनुदिन बढ़ता ही जाता है—

नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥

वे अपने मित्रों, सहवासियोंके दोषों-चूकोंको अपने हृदयमें तनिक भी स्थान नहीं देते—

रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की॥

वे गयीको बहुरानेवाले, दीनानुकम्पी, सबल किंतु अत्यन्त सरल हैं—

गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥

यद्यपि वे स्वामी बहुत बड़े लोकपालों, ईश्वरोंके भी अधीश्वर हैं, तथापि वे बड़े सुशील, सुन्दर और सरल हैं। ऐसे तो उनका ध्यान भगवान् शंकरके लिये भी कठिन है, पर वे निषादको भी छातीसे लगाया करते हैं—

ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि।
ध्यान अगम सिवहूँ, भेट्यौ केवट उठि॥

दान और उदारताकी तो वे पराकाष्ठा ही ठहरे—

'एकै दानि सिरोमनि साँचो।
जेहि जाँच्यौ सो जाँचकता बस फिरि बहु नाच न नाच्यौ॥'

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥

सब कोई देकर गर्व करता है तो श्रीराम देकर शर्माते हैं—सकुचाते हैं—

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥
'अति सकुच सहित हरि दीन्ही।'

दर्शनाद् रामभद्रस्य सा विभूतिर्विभीषणे।
(हनुमन्ना०)

वे नाहीं-नाहीं कहनेपर भी देते ही हैं, न चाहनेपर भी बिना कुछ लिये देते हैं—

जो कछु कहा सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥
यदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा।

अपने शम-दमादि नियमोंके लिये तो वे वज्रसे भी अधिक कठोर हैं, पर भक्तोंके लिये कुसुमसे भी कोमल।

कुलिसहुँ चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहुँ चाहि।
चित्त खगेस अस राम कर समुझि परै कहु काहि॥

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणि चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥
(उत्तररामचरित)

अस्तु! गोस्वामीजी कहते हैं कि इन कहे गये प्रभुके स्वभावको जब कोई हृदयमें ठिकानेसे लायेगा, तब उसकी चिन्ता मिट जायगी, वह निश्चिन्त हो जायगा और भगवान्‌की उसपर कृपा हो जायगी—

---

१. 'हनुमन्नाटक' कारने रामभद्रकी पवित्रताका इतना प्रभाव बतलाया है कि रावणने जब कपटसे रामका वेष बनाया, तब उसकी पापवासना ही भाग गयी—

लंकाभटोऽथ रघुनन्दनवेषधारी
पापो जगाम पुरतो जनकात्मजायाः।
नाम्नापि यस्य कुत इच्छति तस्य रूपा-
दन्याङ्गनापहरणे न मनः कदाचित्॥
(हनु० १०। १९)

'स्वामीको सुभाव कह्यो सो जब उर आनिहै।
सोच सकल मिटि हैं, राम भलो मन मानिहैं ॥
(विनय-पत्रिका १३५ । ५)

वास्तवमें प्रभुका स्वभाव वाणीसे परेका विषय है । जिसे उसकी तनिक भी झलक मिल गयी, भला वह इधर-उधर कैसे उलझेगा ? उनके-जैसा दूसरा है ही कौन, जिसमें वह उलझ सके और जो उसे उलझा सके ? बस ठीक ही है—

उमा राम सुभाव जिन्ह जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥

आदर्शका बल

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०)

मनुष्यके जीवनमें आदर्शका बल बहुत ही बड़ा होता है । मनुष्य आदर्शके लिये जीता है और आदर्शके लिये मरता है । मनुष्य स्वयं जाने या न जाने, वह स्वयं एक तत्त्ववेत्ता तथा विचारक है, जो अपने विचारोंकी भित्तिपर अपने जीवनका किला खड़ा करता है । उसके जीवनकी धारा, उसके कार्योंका प्रवाह, उसके चित्तका रुझान किसी-न-किसी विचारको ही आश्रय मानकर सदा चला करता है । गीताका कथन है कि **'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** अर्थात् जिस मनुष्यकी जैसी श्रद्धा होती है, जिस आदर्शको वह जीवनका आधार-पीठ बनाता है, वह तद्रूप बन जाता है—इस सिद्धान्तमें तनिक भी संदेह नहीं है । आदर्शके बलपर मनुष्य अनेक अनहोनी तथा असम्भावित घटनाओंके सम्पादनमें भी कृतकार्य होता है, परंतु इसके लिये होना चाहिये ऊँचा आदर्श तथा उस आदर्शमें दृढ़ निश्चय । तभी तो मनुष्य हिमालयके दुर्लङ्घ्य शिलापुञ्जोंको पारकर उसकी अगम्य चोटीपर अपना पैर रखनेमें समर्थ होता है । जिस चोटीको दुर्लङ्घ्य जानकर वह विचलित होता आया है, उसे ही वह अपने वशमें करनेमें स्वतः कृतकार्य होता है । इसमें आदर्शका बल ही उसके शरीरमें नवीन बलका, नूतन उत्साहका तथा अभिनव स्फूर्तिका संचार करता है । दुर्बल मनुष्य भी अपने आदर्शके अनुगमन करनेसे उत्पन्न अन्तर्बल—भीतरी बलके कारण अपनेको नितान्त शक्तिसम्पन्न मानता है तथा ऐसे कार्योंको अनायास कर लेता है जिसके सम्पादनका कभी वह स्वप्न भी नहीं देखता था, सिद्धिकी तो कथा दूर रहे ।

एक बार शुद्ध हृदयसे मानवको निश्चय कर लेना चाहिये कि इस मानव-जीवनका चरम लक्ष्य उस परम कारुणिक भक्तवत्सल भगवान्के चरणारविन्दमें अपने जीवनको समर्पित करना है और इस आदर्शको चरितार्थ करनेके लिये उसे नित्यप्रति सचेष्ट होना चाहिये । चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते इस आदर्शको—इस आत्मविश्वासको कभी भूलना न चाहिये । वह स्वयं अन्तःस्फूर्तिका अनुभव करेगा कि एक विचित्र शक्ति हृदयके स्रोतसे प्रवाहित होकर उसके सारे शरीरको, समग्र इन्द्रियोंको आप्यायित कर रही है । जिससे वे अपने कार्यके साधनमें दुगुने जोशसे लगे रहते हैं । उन्नत विचार ही मानवको अग्रसर करनेके लिये, ऊपर चढ़नेके लिये निसेनीका काम करते हैं, परंतु विचारोंको जमा कर रखनेकी जीवनमें जरूरत है । शास्त्रका निर्णीत सत्य है तथा संतत उपदेश है—**'महानिति भावयन् महान् भवति ।'** जो मनुष्य महान् होनेकी सदा भावना किया करता है, वह एक दिन अवश्यमेव महान् बन जाता है । महापुरुषोंके द्वारा सम्पादित कार्योंका बीज बहुत ही छोटा होता है, परंतु उनका महनीय आदर्श उस बीजको अङ्कुरित तथा पल्लवित कर अन्तमें फलसम्पन्न बना देता है—इसमें किसी प्रकारका संदेह करनेका अवकाश नहीं है ।

शास्त्रोंमें आदर्श तथा आत्मविश्वासकी दृढ़ताकी महनीय शक्तिकी परिचायक अनेक आख्यायिकाएँ दी हुई हैं। एक ऐसी ही सुन्दर कथा पाण्डवोंके विषयमें मिलती है। उस समय पाण्डवलोग अपनी धर्मपत्नी द्रौपदीके साथ किसी जंगलमें निवास करते थे। एक दिन द्रौपदीने विस्मयभरे नेत्रोंसे देखा कि आँवलेके पेड़में एक सुन्दर आँवला लटक रहा है। आँवला पूरे पेड़के ऊपर एक ही था और बहुत ही पुष्ट तथा सुन्दर प्रतीत हो रहा था। द्रौपदीने भीमसे उसे तोड़कर लानेकी प्रार्थना की। प्रार्थना सुनते ही भीमने उसे तोड़कर ला दिया, जिसे पाकर द्रौपदीको बड़ी प्रसन्नता हुई तथा वह उसे खानेके ही विचारमें थी कि भगवान् श्रीकृष्ण आ पहुँचे। आते ही उन्होंने उसे रोका और कहने लगे कि यह किसी साधारण मनुष्यका आँवला नहीं है, प्रत्युत परम क्रोधी मुनि दुर्वासाका है। वे इसी जंगलमें घोर तपस्या कर रहे हैं तथा सालमें एक बार ही फलाहार करते हैं और सो भी इसी आँवलेसे। वे उस पेड़पर न पाकर अत्यन्त क्रुद्ध हो जायँगे। यह बात सुनते ही सब लोग सन्नाटेमें आ गये और दुर्वासाके क्रोधके कारण भावी अनर्थोंका भयानक चित्र उनकी आँखोंके सामने झटपट आ खड़ा हुआ। प्रतीकारकी बात पूछनेपर श्रीकृष्णने कहा कि यदि यह आँवला अपने स्थानपर पूर्ववत् चला जाय तो उनके क्रोधका शमन किया जा सकता है। किसी डोरेसे उसे बाँध आनेकी युक्तिको श्रीकृष्णने स्वीकार नहीं किया कि इससे दुर्वासाको उसके तोड़नेकी घटनाका पता चल जायगा और उस सूखे वासी फलको वे कभी नहीं खायेंगे।

बड़े असमंजसकी बात थी। आग्रह करनेपर श्रीकृष्णचन्द्रने बतलाया कि हम सब लोग अपने आत्मविश्वासका सच्चे हृदयसे वर्णन करेंगे, तो यह आँवला धीरे-धीरे उठकर उसी पेड़की डालीमें फिर लग जायगा। यही बात तय हुई और पाण्डवलोग अपने निश्चित जीवन-तत्त्व तथा आत्मविश्वासको प्रकट करनेके लिये एकत्र हो गये। युधिष्ठिरने अपना आत्मविश्वास इस श्लोकमें प्रकट किया—

सत्यं माता पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया सखा।
शान्तिः पत्नी क्षमा पुत्रः षडेते मम बान्धवाः॥

'मेरी दृष्टिमें ये ही छः मेरे सगे-सम्बन्धी हैं—सत्य मेरी माता, ज्ञान पिता, धर्म भाई, दया मित्र, शान्ति पत्नी तथा क्षमा मेरा पुत्र है।' यह सुनते ही वह आँवलेका फल एक फुट ऊपर उठ गया। तब भीमने अपना आदर्श प्रकट किया—

प्राणं वापि परित्यज्य मानमेवाभिरक्षतु।
अनित्यो भवति प्राणो मानस्त्वाचन्द्रतारकम्॥

'मनुष्यको चाहिये कि वह प्राणोंकी परवा न करे, बल्कि प्रतिष्ठा, आत्मसम्मानकी ही रक्षा करे। जीवन तो अनित्य ठहरा, आज रहा कल नहीं रहा, परंतु प्रतिष्ठा चन्द्रमा तथा ताराओंके आकाशमें रहनेतक बनी रहती है।'

भीमका वचन सुनते ही वह फल एक फुट और ऊपर उठ गया। तब अर्जुनने कहना आरम्भ किया—

आमन्त्रणोत्सवा विप्रा गावो नवतृणोत्सवाः।
भर्त्रागमोत्सवा नार्यः सोऽहं कृष्ण रणोत्सवः॥

'श्रीकृष्ण! ब्राह्मण न्योता पाकर आनन्दोत्सव मनाते हैं, गायें नयी घास मिलनेसे प्रसन्न होती हैं, स्त्रियाँ परदेशसे पतिके घर पधारनेपर उत्सव मनाती हैं और मैं युद्धका अवसर मिलनेपर उत्सवकी भाँति प्रसन्नताका अनुभव करता हूँ।'

इस आदर्श वाक्यको सुनकर फल ऊपर उठता गया। नकुलने इस पद्यके द्वारा अपना आदर्श बतलाया—

मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥

'वही मनुष्य वस्तुतः देखता है' जो दूसरोंकी स्त्रियोंको माताके समान, दूसरेके द्रव्यको मिट्टीके ढेलेके समान तथा सब प्राणियोंको अपने समान देखता है।

इसे सुनकर वह फल एक फुट और ऊपर उठा। तब सहदेवकी बारी आयी और उन्होंने अपने पण्डित-स्वभावके समान ही अपना विश्वास प्रकट किया—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

'शरीर अनित्य ठहरा। धन भी सदा रहनेवाला नहीं है। मृत्यु हमेशा पास ही विद्यमान है। वह हमेशा मनुष्योंके सिरपर मँडराया करती है। ऐसी दशामें मनुष्यका एक ही कर्तव्य है—धर्मका संग्रह। जितना हो सके, उसे अनित्य शरीरसे नित्य धर्मका संचय करना चाहिये।'

द्रौपदीने अपना विश्वास इस प्रकार बतलाया—

देवो मनुष्यो गन्धर्वो युवा चापि स्वलंकृतः।
द्रव्यवानभिरूपो वा न मेऽन्यः पुरुषो मतः॥

देवता, मनुष्य, गन्धर्व, भलीभाँति अलंकृत युवा, धनी अथवा रूपवान् चाहे जैसा पुरुष हो, मेरा मन अपने पतियोंको छोड़कर उसकी ओर नहीं जाता।

द्रौपदीका वचन सुनकर वह फल अवश्यमेव ऊपर उठा, परंतु अभी उस डालके पास पहुँचनेमें बड़ा व्यवधान था। तब श्रीकृष्णचन्द्रने भी अपने आत्म-विश्वासको इन शब्दोंमें स्वीकार किया—

दुर्भिक्षे चान्नदातारं सुभिक्षे च हिरण्यदम्।
चतुरोऽहं नमस्यामि रणे धीरं मृणे शुचिम्॥

'मैं इन पुरुषोंको नमस्कार करता हूँ। वे पूज्य तथा आदरणीय हैं—एक तो वह जो अकालके समय लोगों-को अन्न दान करता है; दूसरा वह जो सुभिक्ष होनेपर सम्पत्तिके समय लोगोंको अपना धन देता है; वह वीर जो युद्धमें धीरतासे लड़ता है तथा वह व्यक्ति जो ऋणके विषयमें भी पवित्र रहता है अर्थात् जिसका आचरण ऋणके लेन-देनके समयमें किसी भी भाँति बुरा नहीं होता।'

फल तो एक फुट और भी आगे उठा, परंतु कृष्णने देखा कि अभी भी फल तथा शाखाके बीच कई फीटका अन्तर बना हुआ था। इसे देखकर श्रीकृष्णने सोचा कि अभी एक व्यक्तिको अपने विश्वासके प्रकट करनेकी आवश्यकता बनी हुई है, परंतु वह व्यक्ति हो तो कौन हो? पाण्डवोंको भी चिन्ता उत्पन्न हो गयी, इस विषम स्थितिका निवारण हो तो कैसे हो? श्रीकृष्णने कहा कि मैं कर्णके पास जाता हूँ और तुमलोगोंकी ओरसे उनसे प्रार्थना करूँगा। उनकी स्वीकृति इस कार्यको अवश्य सिद्ध कर देगी। श्रीकृष्णकी आज्ञा पाते ही कर्णने अपना जीवन-दर्शन तुरंत कह सुनाया—

विप्रहस्ते धनं दद्यात् स्वभार्यासु च यौवनम्।
स्वामिकार्येषु च प्राणं विद्यान्मम माधव॥

'माधव! मेरा सिद्धान्त तो यह है कि ब्राह्मणके हाथमें धनका दान देना चाहिये अर्थात् धनका उपयोग देवोपयोगी कार्योंमें करना चाहिये। जवानी अपनी भार्याके ही लिये देनी चाहिये तथा स्वामीके कार्यके लिये अपने प्राणोंको न्योछावर करना चाहिये।'

इतना सुनते ही वह आँवलेका फल उछलकर अपने पहले स्थानपर जा पहुँचा और पाण्डवोंकी इस कार्यसे महती चिन्ता दूर हुई।

इस पौराणिक कथाके भीतर प्रवेश करनेसे स्पष्ट है कि इन आठों व्यक्तियोंने अपने जीवनके आदर्शको शुद्ध हृदयसे अपने-अपने श्लोकोंमें प्रकट किया। उन आदर्शोंको, जिनको उन्होंने अपने जीवनमें उतारा था तथा जिन्हें उन्होंने अपने कार्योंसे पूर्णतया सिद्ध किया था। इस आत्मविश्वासके प्रभावसे उत्पन्न अनहोनी घटनाको पढ़कर हमें चमत्कृत होनेकी आवश्यकता नहीं है। आदर्शका बल ही इतना महान् है, जिससे अघटित घटना भी सुघटित हो जाती है। हम भी अपने आध्यात्मिक आदर्शको ऊँचा बनावें तथा उसकी पूर्ण निष्ठासे उपासना करें। विश्वास रखें, वह आदर्श सिद्ध होकर रहेगा। आदर्शमें सचमुच बड़ा बल होता है।

जीवन्मुक्ति-रहस्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

जीवन्मुक्तिके विषयमें विशेष विचार करनेके पहले, मुक्तिके स्वरूपकी जिज्ञासा होती है। पञ्चदशीमें श्रीविद्यारण्य मुनिने उसके स्वरूपका निर्देश करते हुए कहा है—

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्नबोधं बिना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा॥

ब्रह्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान होनेके सिवा मुक्तिका दूसरा कोई स्वरूप नहीं है। दृष्टान्तद्वारा इस बातकी पुष्टि करते हुए कहते हैं कि जैसे निद्रासे जागनेके सिवा स्वप्नके नाशका दूसरा कोई उपाय नहीं होता। भाव यह है कि निद्रासे जाग उठना और स्वप्नावस्थाका लय हो जाना—ये दोनों जिस प्रकार समकालीन होते हैं, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होना और मुक्ति प्राप्त होना—ये दोनों समकालीन ही होते हैं; क्योंकि जागनेके पश्चात् जैसे स्वप्नके नाशके लिये दूसरा कोई यत्न नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होनेके बाद मुक्तिकी प्राप्तिके लिये दूसरा कोई प्रयत्न करनेके लिये नहीं रहता। और स्पष्टतः कहना हो तो कहेंगे कि जैसे निद्रासे जागना और स्वप्नका बंद होना—एक ही स्थितिके दो विभिन्न नाम हैं, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होना और मुक्त होना—ये दोनों एक ही स्थितिके विभिन्न शब्द-प्रयोग हैं।

और यदि मुक्तिको तत्त्वज्ञानका फलरूप माने तो भी तत्त्वज्ञान तात्कालिक फल देता है, इस प्रकार मुक्ति और ज्ञानके समकालीन होनेमें कोई आपत्ति नहीं आती। निद्रारूपी अविद्याके दूर होनेपर स्वप्न अदृश्य हो जाता है। यद्यपि इसमें निद्राका भङ्ग होना कारण है और स्वप्नका नाश उसका फल है, तथापि दोनों एक ही कालमें होते हैं, यह सबके अनुभवकी बात है। दीपक जलाना कारण है और अन्धकार-का नाश फल है, फिर भी दोनों ही समकालीन होते हैं; क्योंकि दीप जलाते ही अन्धकार कहाँ चला गया, इसकी खबर नहीं पड़ती, इसको भी हम रोज अपनी आँखों देखते हैं।

इस बातको गीतामें भगवान्‌ने इस प्रकार दिखलाया है—

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

यहाँ भगवान्‌ने 'अचिरेण' शब्दका प्रयोग किया है, इसका भाव यह है कि ज्ञानके होते ही तत्काल पुरुष परम शान्तिको पाता है, यानी मुक्ति प्राप्त करता है। मुक्ति ही परम शान्तिका सच्चा स्वरूप है; क्योंकि जबतक जन्म-मरण-का बन्धन है, तबतक शान्ति कहाँ ? परम शान्तिकी तो बात ही क्या ? इसलिये यहाँ भगवान् विशेष स्पष्टरूपसे कहते हैं कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति और मुक्तिलाभ समकालीन ही होते हैं। इसलिये ज्ञानकी प्राप्ति करनेके बाद मुक्तिके लिये दूसरा कोई प्रयत्न करना नहीं पड़ता।

इस विषयमें 'आर्या पञ्चाशीति' में श्रीशेष भगवान्‌का वचन इससे भी अधिक स्पष्ट है—

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः॥

ज्ञानी पुरुष जब अनुभव करता है कि 'मैं तो आत्मा हूँ' और इस कारण 'देहके जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि धर्मोंसे परे हूँ' तब और उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है। मुक्ति ज्ञानके समकालीन ही होती है। अर्थात् जिस क्षण मनुष्य अपने स्वरूपका निश्चय करता है, उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है। ज्ञान होनेके बाद मुक्तिके लिये कोई दूसरा प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ज्ञान और मुक्ति—ये दो शब्द हैं; परंतु दोनों एक स्थितिके वाचक हैं। इस प्रकारके ज्ञानी पुरुषकी (शरीरकी) मृत्युके समय जब स्मृतिका नाश हो जाता है, तब उसका शरीर तीर्थमें पड़ा हो या चाण्डालके घर पड़ा हो, इससे उसको कोई हानि नहीं पहुँचती; क्योंकि ऐसे पुरुष तो ज्ञानोदयके समय ही शोक-मोहके कारणोंको जीत लेते हैं। इससे ज्ञानी पुरुष शरीरके गिर जानेपर कैवल्यको ही प्राप्त करता है।

यहाँतक हमने देख लिया कि (१) ज्ञानसे मुक्ति होती है (२) और मुक्तिको ज्ञानका फलस्वरूप माने तो भी ज्ञान और मुक्ति—दोनों समकालीन ही होते हैं।

अब यह विचारना है कि मुक्ति किसे चाहिये। उत्तर स्पष्ट है कि जिसे बन्धन है, उसे बन्धनसे छूटनेके लिये मुक्ति चाहिये। अर्थात् बन्धनकी निवृत्तिका नाम ही मुक्ति है। इसलिये अब बन्धनका स्वरूप जानना चाहिये, जिससे उसकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न किया जाय।

कोई आदमी एक कमरेमें बैठा है, उस कमरेके एक, दो

नहीं; बल्कि नौ-नौ दरवाजे हैं और फिर सभी दरवाजे खुले हैं। एक भी बंद नहीं है। ऐसी अवस्थामें उस मनुष्यकी दृष्टि दरवाजेकी ओर नहीं जाती, इस कारण वह चिल्लाकर कहता है कि 'मुझे यहाँ बंद कर रक्खा है, कोई आकर मुझे छुड़ाओ।' आस-पासके मनुष्य दौड़कर जाते हैं और देखते हैं कि नौ दरवाजे खुले हुए हैं और वह आदमी व्यर्थ ही 'छुड़ाओ-छुड़ाओ' की शोर मचाकर सारे मुहल्लेको परेशान कर रहा है।

कोई समझदार आदमी उसके पास जाकर कहता है कि 'भाई! रास्ते तो सभी खुले हैं। तुम्हें किसीने बंद नहीं कर रक्खा है। तुम्हें अच्छा लगे उसी द्वारसे बाहर जा सकते हो। व्यर्थ शोर मचाकर सारे मुहल्लेको क्यों परेशान करते हो।' इसका उत्तर देते हुए वह आदमी कहता है—'तुम्हारे चित्तको भ्रान्ति हो गयी है, नहीं तो, ऐसा नहीं बोलते। मुझे तो एक भी द्वार नहीं दीखता और तुम नौ द्वारकी बात करते हो।'

इस प्रसङ्गमें बन्धनकी कल्पना है—नौ-नौ द्वार खुले हुए हैं, फिर भी अपनेको बन्धनमें मानना कल्पना नहीं तो और क्या है? ऐसी अवस्थामें उसको कौन मुक्त कर सकता है? आँखें रहते हुए जो अंधा बना हो, उसको कौन मार्ग दिखला सकता है? जब सच्ची समझ आती है और बन्धनका भ्रम छोड़ देता है, तभी बन्धनकी निवृत्ति होती है। ऐसी बात नहीं है कि बन्धन सच्चा है और उसको तोड़ना है, परंतु बन्धनका जो भ्रम हो गया है, उस भ्रमकी केवल निवृत्ति करनी है। भ्रम छूट जाय तो मुक्त तो वह था और है ही।

अब एक अधिक स्पष्ट और विस्तृत दृष्टान्त लीजिये, जिससे बन्धनका रहस्य ठीक-ठीक समझमें आ जाय।

सुदर्शन नामका एक मनुष्य एक नाटक-कम्पनीमें नौकरी करता है। सूत्रधार उसको बराबर पुरुषका ही पार्ट देता है। इसलिये उसको कोई दिक्कत नहीं उठानी पड़ती। एक समय ऐसा आया कि स्त्रीपार्ट लेनेवाला एक अभिनेता छुट्टीपर जाने लगा और उसने आठ दिन पहले ही इसकी सूचना सूत्रधारको दे दी। सूत्रधारने सुदर्शनको बुलाकर कहा कि 'यह आदमी आठ दिन बाद छुट्टीपर जानेवाला है, इस कारण इसका स्त्रीका अभिनय तुम्हें करना पड़ेगा; इसलिये आठ दिनमें इससे स्त्री-अभिनयकी सारी शिक्षा तुम ले लो।' इन आठ दिनोंतक उसको दूसरा कोई काम नहीं सौंपा गया। सुदर्शन बहुत ही चतुर अभिनेता था। उसने स्त्रीके पार्टका बहुत ध्यान देकर अभ्यास किया। समय आनेपर वह अपने स्त्रीवेशमें सज-धजकर रंगभूमिमें उपस्थित हुआ और इतनी दक्षता और चातुरीसे अभिनय किया कि सारे दर्शक आश्चर्यचकित हो गये। स्वयं सूत्रधार कुछ देरतक यह निश्चय न कर सका कि वह अभिनेता सचमुच कोई स्त्री है या सुदर्शन ही है।

नाटक समाप्त हो गया। दर्शक स्त्रीपात्रकी प्रशंसा करते हुए अपने-अपने घर गये। सूत्रधारने सुदर्शनको शाबाशी देनेके लिये बुलाया। सुदर्शन जवाब देने न गया और कहला भेजा कि 'मैं तो रत्नावली मालिन हूँ; मैं कोई सुदर्शन नहीं हूँ।' सूत्रधार उसके पास गया और समीप बैठकर बोला—'तुम तो सुदर्शन हो; रत्नावली मालिनका तो तुमने केवल अभिनय किया था। अब नाटक समाप्त हो गया, इसलिये ये कपड़े उतार डालो और अपने वस्त्र पहन लो।' सुदर्शनने कहा—'मैं तुम्हारे फुसलावेमें आनेवाली नहीं हूँ। मैं तो बीकानेरकी मालिन हूँ, तुम मुझसे दूर बैठो।' 'मैं सुदर्शन हूँ'—यह बात सुदर्शन भूल ही गया और 'मैं रत्नावली मालिन हूँ'—यह बात दृढ़ हो गयी।

सूत्रधारकी चिन्ताका पार न रहा। उसने सवेरे ही अच्छे-से-अच्छा वैद्य बुलवाया। वैद्यराज उसके पास गये। नाड़ी देखी, थोड़ी-बहुत बातचीत की और फिर सूत्रधारके कमरेमें आये। उसको अपना अभिमत बतलाते हुए बोले—'सुदर्शनका चित्त भ्रान्त हो गया है, इसलिये कुछ दिन उसको एकान्तमें आरामके लिये रखना जरूरी है, यदि तुम चाहो तो इसकी मैं व्यवस्था करूँ।' सूत्रधारकी स्वीकृति मिलते ही वैद्यराजने ठीक व्यवस्था कर दी और सुदर्शनको अपने साथ लेते गये। उसे 'रत्नावली मालिन' कहकर ही पुकारते थे और एक परायी स्त्रीके साथ जो सभ्यता बर्तनी चाहिये, उस सभ्यतासे उसको रखने लगे। बड़ा सुन्दर मकान था और आस-पासके स्थान स्वच्छ और रमणीय थे। पहले तो सुदर्शनने निष्काम कर्म करना सीखा। पक्षियोंको दाना चुगाता, मछलियोंको आँटेकी गोलियाँ बनाकर देता, पशुओंको अपने हाथों घास काटकर खिलाता, देवपूजाके लिये भाँति-भाँतिके पुष्प तोड़कर लाता, उनकी मालाएँ बनाता—इत्यादि। इस प्रकार निवृत्तिमय प्रवृत्ति करते हुए सुदर्शनकी बुद्धि स्वच्छ तथा एकाग्र होने लगी। वैद्यराजके साथ वह प्रेम और भावपूर्वक बोलने-चालने लगा।

पश्चात् वैद्यराजने धीरे-धीरे उसको 'पुरुषके कौन-से लक्षण होते हैं, उसका स्वभाव कैसा होता है' इत्यादि समझाना शुरू किया। पुरुषके विषयमें इस प्रकार बहुत कुछ समझा गये और वे सारी बातें सुदर्शनकी बुद्धिमें स्थिर हो गयीं। फिर उसने स्त्रीका लक्षण, स्वभाव आदि विस्तारपूर्वक समझाया। ये दोनों बातें उसकी बुद्धिमें स्थिर हो गयीं। पश्चात् वैद्यराजने उसको इस प्रकार समझाना शुरू किया—

'देखो, यह पुरुषका लक्षण है, क्या यह तुममें है?' उत्तर मिला—'हाँ!' इसके बाद दूसरा लक्षण बतलाया और पूछा कि वह उसमें है या नहीं। उत्तर स्वीकारात्मक मिला। इस प्रकार पुरुषके एक-एक धर्मको उसने चुन-चुनकर सुदर्शनके सामने रक्खा और सुदर्शनने सबको अपनेमें स्वीकार किया। इसी प्रकार एक-एक करके स्त्रीके धर्मोंको गिनाना प्रारम्भ किया और वे धर्म उसमें हैं या नहीं, यह प्रश्न किया। प्रत्येक बार सुदर्शनने नकारात्मक उत्तर दिया।

फिर वैद्यराजने उससे पूछा—'सो अब बतलाओ कि तुम क्या हो?' सुदर्शनने उत्तर दिया—'मैं पुरुष हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं पुरुष हूँ।'

यहाँतक तो हमने देखा कि बन्धन कोई सच्ची वस्तु नहीं होती है। अज्ञानके कारण बन्धनकी कल्पना हो जाती है। जब वह कल्पना छूटती है, तब बन्धनकी निवृत्ति होती है, इसलिये अब यह देखना है कि यह बन्धनकी कल्पना किस प्रकार हो जाती है।

इस प्रसङ्गमें श्रीयोगवासिष्ठमें लिखा है कि—

यथा सत्त्वमुपेक्ष्य स्वं शनैर्विप्रो दुरीहया।
अङ्गीकरोति शूद्रत्वं तथा जीवत्वमीश्वरः॥

भाव यह है कि जैसे कोई ब्राह्मण शूद्र स्त्रीकी कामना होनेपर उसके सम्भोग, सहवास आदिकी मलिन इच्छासे अपने उचित, सात्त्विक ब्राह्मणधर्मको धीरे-धीरे भूलकर अधिक कालतक शूद्रप्राय बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा स्वयं ईश्वररूप है फिर भी लिङ्ग-देहके सङ्गके कारण, विषय-भोगकी आशासे अपने शुद्धस्वरूपको भूल जाता है और जीवभावको अङ्गीकार कर लेता है। (अजामिलका दृष्टान्त प्रसिद्ध है।) अब देखो, मनुष्य जब भोजन करने बैठता है, तब थाली उसके स्थूल शरीरके पास रक्खी जाती है। हाथसे ग्रास उठाकर मुँहमें रखता है। दाँत चबानेका काम करते हैं, जीभ स्वादका अनुभव करती है। प्राण तृप्ति प्राप्त करते हैं और मन-बुद्धि सारी क्रियाका आनन्द लेते हैं। आत्मा तटस्थरूपसे यह सब कुछ देखता है। प्रतिदिन मन-बुद्धिको आनन्द लेते देखकर आत्मा उसमें ललचा जाता है और अपनेको इस आनन्दका भोक्ता मान लेता है। मन-बुद्धिके साथ तादात्म्य हो जानेपर प्राणके साथ वह तादात्म्य-सम्बन्ध मान बैठता है और क्षुधा-तृषासे प्राणके व्याकुल होनेपर स्वयं व्याकुलताका अनुभव करता है। ऐसा करते-करते इन्द्रियोंके साथ और उसके बाद वह सारे शरीरके साथ तादात्म्य-सम्बन्धमें बँध जाता है। परिणामतः स्थूल शरीरके जन्म-मरणको अपना जन्म-मरण मान बैठता है। सूक्ष्म शरीरके नाना योनियोंमें होनेवाले भ्रमणको अपना भ्रमण मानता है और सूक्ष्म शरीरके कर्ता-भोक्ता होनेपर भी अपनेको कर्ता-भोक्ता मानकर जन्म-मरणके बन्धनमें पड़ जाता है। इस प्रकार जो कुछ बन्धन है, वह सब कल्पित है। तथापि जबतक यह भ्रम छूटता नहीं, तबतक आत्मा जन्म-मरणके चक्रमें घूमा ही करता है। इस प्रकार भ्रममें पड़ा हुआ आत्मा ही 'जीव' कहलाता है और इस प्रकार शरीरके साथ होनेवाले तादात्म्य-सम्बन्धको 'देहाध्यास' कहते हैं।

अब यह देखना है कि देहाध्यासके द्वारा आत्मामें जीव किस प्रकार दृढ़ हो जाता है। इस बातको समझाते हुए वालि-वधके बाद अध्यात्मरामायणमें भगवान् श्रीरामने ताराको सान्त्वना देते हुए कहा है—

यथा विशुद्धस्फटिकोऽलक्तकादिसमीपगः।
तत्तद्वर्णयुगाभाति वस्तुतो नास्ति रञ्जनम्॥
बुद्धीन्द्रियादिसामीप्यादात्मनः संसृतिर्बलात्।
कामान् जुषन् गुणैर्बद्धः संसारे वर्ततेऽवशः॥

स्फटिकमणि स्वभावतः ही श्वेत रंगका होता है, फिर भी लाह आदि पदार्थोंके पास जानेपर उन-उन रंगोंवाला दीखता है। हरे पत्तोंके पास हरा और पीले पुष्पके पास पीला दीखता है, परंतु उन उपाधियोंको दूर हटा देनेके बाद श्वेत दीख पड़ता है। इसलिये वस्तुतः उसमें कोई रंग नहीं होता, केवल उपाधिसे रंग दीखता है। इसी प्रकार मन-बुद्धि और इन्द्रियोंके सांनिध्यसे आत्माको बलात्कार संसारकी प्राप्ति होती है, वह मनको प्राप्त होकर विषय भोगता है, राग-द्वेषमें बँध जाता है और परवशतासे जन्म-मरणके चक्रमें घूमा करता है।

जैसे पानीको चौकोर बर्तनमें डालो तो वह चौकोर

आकारका बन जाता है और गोल बर्तनमें डालो तो वह गोलाकार बन जाता है। इसी प्रकार जब बुद्धि निश्चय करनेका काम करती रहती है, तब आत्मा उसके साथ एकाकार हो जाता है और स्वयं ही निश्चय करता है—ऐसा मानता है। जब मन संकल्प-विकल्प करता होता है, तब आत्मा उसके साथ तद्रूप बन जाता है, स्वयं संकल्प-विकल्पवाला अपनेको मानता है। जब चित्त किसी प्राणी-पदार्थका चिन्तन करता रहता है या अहंकारवृत्ति अपना काम करती रहती है, तब आत्मा उन वृत्तियोंके साथ एकरूप बन जाता है और अपनेको ही उन-उन क्रियाओंका करनेवाला मान लेता है। इस प्रकार शुद्ध आत्मामें जीवभाव आता है और उससे देहाध्यास दृढ़ हो जाता है।

यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि परमात्माके ही अंशस्वरूप आत्मामें देहाध्यास आता है किस प्रकार ? क्यों आता है ? कैसे आता है?—इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर यह है कि इस प्रकारके प्रश्न उठते ही नहीं; क्योंकि सृष्टिकर्ताने उसका स्वभाव ही ऐसा बनाया है। कोई पूछे कि नीमका पत्ता कड़वा होता है और आमका क्यों नहीं होता? अथवा आँवलेके पत्ते नन्हे-नन्हे होते हैं, रेंड़के क्यों नहीं होते ? शतालूके पत्ते कड़वे होते हैं, फिर उसमें लगे फल कड़वे क्यों नहीं होते ?—इत्यादि अनेकों प्रश्न पूछे जा सकते हैं। इन सबका एक ही उत्तर होगा कि सृष्टिकर्ताने इनका स्वभाव ही ऐसा बनाया है और हरेकको अपने स्वभावके अनुसार बर्तना चाहिये, यह सृष्टिका नियम है।

× × ×

परमात्मा योगनिद्रामें सोये थे। जागकर देखा तो कुछ भी दीख न पड़ा। स्वयं अनेक रूप होकर रमनेकी इच्छा होते ही उन्होंने अपनी प्रकृतिके द्वारा सृष्टिकी रचना की, स्वयं अपने अनेक अंशोंसे उसमें प्रवेश किया—'तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्'—उसी समयसे आत्मामें जीवभाव आ गया, इस कारण जिस-जिस शरीरमें उसने प्रवेश किया, उस-उस देहके अध्यासवाला वह हो गया। देहाध्यासके आवरणसे युक्त आत्मा 'जीव' नामसे पुकारा जाता है। इस प्रकार यदि आत्मामें देहाध्यास न हो तो सृष्टिका क्रम ही न चले; क्योंकि जबतक देहाध्यास है, तभीतक जन्म-मरणरूप संसार है। इसके लिये परमात्माने अपनी मायाकी चादर आत्माके ऊपर डाल दी, इसी कारण वह अपनेको जीव मानता रह गया।

यह देहाध्यास यद्यपि अनादि कालसे चला आ रहा है, तथापि दूर किया जा सकता है। मुक्तिका द्वार प्रभुने प्रत्येकके लिये खोल रक्खा है। जो युक्ति वैद्यराजने सुदर्शनके लिये काममें लायी थी, वही युक्ति हमको आत्माका देहाध्यास छुड़ानेमें लगानी है। पहले तो अन्तःकरणको शुद्ध कर लेना चाहिये; क्योंकि जबतक अन्तःकरणमें वासनाएँ हैं, तबतक वह स्थिर नहीं हो सकता। अन्तःकरणको शुद्ध करनेके बाद जिस बुद्धिके द्वारा आत्मा अपनेको शरीररूप माने रहता है, उसी बुद्धिकी सहायतासे अपने स्वरूपको समझ लेना चाहिये। इसके लिये उसको पहले तो द्रष्टा आत्माके धर्म और स्वरूपको समझना चाहिये। ये दोनों ठीक समझमें आ जायँ तो उससे पूछे कि 'तू कौन है ?' उत्तर इस प्रकार मिलेगा—

'मैं सत्, चित्, आनन्दरूप आत्मा हूँ। मैं सत् हूँ, इससे मेरा जन्म-मरण नहीं होता। मैं चित् हूँ, अतएव ज्ञानस्वरूप हूँ। इसलिये ज्ञानकी प्राप्तिके लिये मुझे कोई यत्न नहीं करना पड़ता तथा मैं आनन्दस्वरूप हूँ, इसलिये सुखकी प्राप्तिके लिये मुझे भटकना नहीं पड़ता।'

'और मैं देह नहीं हूँ, इसलिये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि देहके धर्म मुझको दुःख नहीं दे सकते। मैं प्राण नहीं हूँ, इसलिये प्राणके धर्म—भूख और प्यास आदि मुझको सता नहीं सकते। मैं इन्द्रियाँ नहीं हूँ, इसलिये इन्द्रियाँ और उनके विषयोंके साथ संयोग-वियोगजन्य भोग मुझको स्पर्श नहीं कर सकते और मैं अन्तःकरण नहीं हूँ, इसलिये उसके धर्म सुख-दुःख, हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि मुझतक पहुँच नहीं सकते।'

देखनेमें तो यह सारी युक्ति आसान और सहज साध्य-जैसी जान पड़ती है, परंतु वह वस्तुतः वैसी नहीं है। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये सबसे पहले तीव्र वैराग्यकी आवश्यकता है। प्रबल वैराग्य उत्पन्न होना, दो-चार दिनका काम नहीं है। परंतु अनेकों जन्मोंकी साधनाके परिणामस्वरूप प्रबल वैराग्य उत्पन्न होता है। 'अनेकजन्मसंसिद्धः'का यही भाव है। इसलिये आत्मकल्याणकी साधना करनेवालोंको अतिशय धीरज रखनेकी आवश्यकता है। अधैर्यसे काम नहीं चलता है।

इस विषयको समझानेवाला एक प्रसङ्ग श्रीयोगवासिष्ठमें आता है। श्रीरामचन्द्रजी (मानवलीलाकी दृष्टिसे मानो अपनेको साधारण मनुष्य मानकर) गुरु वसिष्ठसे पूछते हैं—'भगवन् ! आप-जैसे गुरु और मेरे-जैसे मुमुक्षु साधकके होनेपर

भी मुझको बोध क्यों नहीं होता ?' इसका उत्तर देते हुए (मनुष्यभावसे ही) वसिष्ठजी कहते हैं—

जन्मान्तरचिराभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः ।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥

रामचन्द्र ! तुमको बोध होनेमें देर लग रही है, इसमें तुम्हारी कोई त्रुटि नहीं, या मेरी कोई उपेक्षा नहीं है । बल्कि तुमने अनेक जन्मोंसे संसारको दृढ़ कर लिया है, यानी अनादि कालसे जीवभावको दृढ़ करते चले आ रहे हो, इसलिये तुमको जीवभाव दूर करके अन्तःकरणमें आत्मभावनाको स्थिर करनेमें लंबा समय जरूर चाहिये । धैर्यपूर्वक साधन करते जाओ, निष्ठा परिपक्व होनेपर उसका फल अवश्य दीख पड़ेगा ।

इसी प्रसङ्गको श्रीविद्यारण्य मुनिने अपनी पञ्चदशीमें इस प्रकार समझाया है—

कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा ।
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते ॥

जैसे बीज बोनेपर तुरंत उससे अङ्कुर नहीं निकलता और जैसे माताके पेटमें गर्भके परिपक्व होनेके लिये समय अपेक्षित होता है, उसी प्रकार देहाध्यासका त्याग करके आत्मभावनाको परिपक्व करनेमें अवश्य ही समय लगता है । इसलिये समझदार मनुष्यको श्रद्धा और भावपूर्वक अपने साधनमें प्रवृत्त रहना चाहिये ।

यहाँतक हमने यह देख लिया कि (१) ज्ञान और मुक्ति समकालीन होते हैं; इसलिये ज्ञानकी प्राप्तिसे दोनोंकी सिद्धि हो जाती है। (२) जिससे मुक्त होना है, वह बन्धन कभी सच्चा नहीं हो सकता; बल्कि वह कल्पनामात्र है। इस कल्पनाके छूटनेपर बन्धन छूट जाता है । (३) यह भ्रम अनादिकालसे चला आता है और वह अज्ञानमूलक होनेके कारण ज्ञानसे ही निवृत्त हो सकता है और (४) साधकको धैर्यपूर्वक और तत्परतासे श्रद्धा रखते हुए साधनमें लगे रहना चाहिये ।

अब हमें यह देखना है कि यदि अज्ञानको दूर करके ज्ञानकी प्राप्ति करनी है तो वह कैसे हो सकती है ? ज्ञानकी प्राप्ति बुद्धिद्वारा हो सकती है; क्योंकि मैं आत्मा हूँ, यह निश्चय करना बुद्धिका ही कार्य है; परंतु यह बुद्धि शुद्ध होनी चाहिये । बुद्धिका स्थान अन्तःकरणमें है और उसके रहनेके लिये शरीरकी आवश्यकता है । अर्थात् यदि बुद्धिसे काम लेना है तो उसके लिये शरीर तो होना ही चाहिये, परंतु शरीर स्वस्थ होना चाहिये और इन्द्रियाँ भी कार्यक्षम होनी चाहिये । प्राण भी व्याकुल न होने पावें, इसके लिये शरीर नीरोग होना चाहिये । इतनी सुविधा हो तो बुद्धि ठीक निश्चय कर सकती है । इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर कार्यक्षम हो तभी ज्ञानका साधन हो सकता है और जब ज्ञान हो, तब मुक्ति होती है । इसका अर्थ यह हुआ कि शरीरके अस्वस्थ या नष्ट हो जानेपर मुक्ति नहीं होती । सबका सारांश यह निकला कि जीते ही जीव मुक्त हो सकता है ।

मुक्ति तो जीते-जी ही होती है । फिर उसके बाद शरीर चाहे पाँच पल, पाँच दिन, या पाँच वर्ष रहे । परंतु इससे इस सिद्धान्तमें अन्तर नहीं आता कि मुक्ति जीते ही होती है । मुक्तिके होने या न होने और शरीरके जीवन-मरणके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, जिससे यह आग्रह किया जा सके कि जीते-जी या मरनेके बाद ही मुक्ति होती है । मुक्तिके होने या न होनेका आधार अपरोक्ष तत्त्वज्ञानके ऊपर है और शरीरके जीने या मरनेका आधार प्रारब्ध भोगके ऊपर है । ज्ञान हो या नहीं, प्रारब्धका भोग समाप्त हो जानेपर शरीर तत्काल छूट जाता है--वह कभी ज्ञान होनेकी राह नहीं देखता तथा ज्ञान हो जानेके बाद—मुक्तिकी प्राप्ति हो जानेपर भी यदि प्रारब्ध भोग शेष होता है तो उसके समाप्त होनेतक शरीर टिका ही रहता है । इसलिये शरीरका जीवन या मरण मुक्तिके अधीन नहीं और मुक्तिकी प्राप्ति शरीरके रहते ही हो सकती है । इसीलिये मानव-शरीरको देव-दुर्लभ कहा गया है ।

यह बात एक श्लोकद्वारा इस प्रकार समझाते हैं—

कुम्भे विनश्यति चिरं समवस्थिते वा
कुम्भाम्बरस्य न हि कोऽपि विशेष लेशः ॥

घटाकाश जब यह निश्चय कर ले कि मैं महाकाशरूप ही हूँ, तब फिर घट अभी फूट जाय या चिरकालके बाद फूटे, उससे घटाकाशके स्वरूपमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि उसने तो घटके रहते हुए ही अपने महाकाशस्वरूपका निश्चय कर लिया है । इसी प्रकार मनुष्यका शरीर आज ही नाशको प्राप्त हो या कल्पान्तमें नाशको प्राप्त हो, इससे उसके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

जीवितावस्थामें ही मुक्ति हो सकती है यह सिद्ध किया गया, इससे यह समझमें आ जाता है कि जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति—ये दोनों एक ही मुक्तिके दो विभिन्न नाममात्र हैं । वह केवल यह बतानेके लिये है कि मुक्त पुरुषका शरीर

प्रारब्धको भोगनेके लिये जीता है या शान्त हो गया है। इन दोनोंमें दूसरा कोई तारतम्य नहीं दीखता।

अब जीवन्मुक्तिकी व्याख्या देखिये। ऐसी अनेकों व्याख्याएँ हैं, जो सबको अनुकूल हो सकती हैं, परंतु उनसे मुझको 'अद्वैतसिद्धि' में दी हुई श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी व्याख्या बहुत ही हृदयङ्गम लगती है। वह इस प्रकार है—

जीवन्मुक्तस्तु तत्त्वज्ञानेन निवृत्ताविद्योऽपि अनुवृत्तदेहादिप्रत्ययः।

अर्थात् जिसने तत्त्वज्ञानके द्वारा अविद्याजनित सारे दूषित संस्कारोंको निवृत्त कर डाला है, इतना होते हुए भी जिसका शरीर विद्यमान है और इस कारण उसके द्वारा वह योग्य कर्म करते जाता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त है। संक्षेपमें कह सकते हैं कि जिसके चित्तके ऊपरसे सारे संस्कार मिट गये हैं और शरीरसे व्यवहार करते रहनेपर भी नये संस्कार नहीं पड़ते, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है। उसका जीवन प्रवाह-पतित पत्तेके समान निरपेक्ष भावसे चलता रहता है और वह स्वयं अखण्ड आनन्दमें मग्न रहता है।

एक संत जीवन्मुक्तकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं— 'जीतेजी मर जाय, वह जीवन्मुक्त है।' अर्थात् शरीर भले ही जीवित हो तथा उससे यथायोग्य व्यवहार भी होता हो, पर स्वयं उस ओर निरपेक्ष भावसे द्रष्टा रूपमें रहता हो।

अब इस विषयमें सामान्यतः उठनेवाला एक प्रश्न है, उसके विषयमें थोड़ा विचार करना चाहिये। मुक्त पुरुषके ऊपर विधि-निषेधका बन्धन नहीं होता, इससे मुक्त पुरुष निषिद्ध आचरण कर सकता है या नहीं? ऐसा प्रश्न उठानेका कारण यह बतलाया जाता है कि शास्त्रमें ऐसा कथन है कि "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः?" अर्थात् तत्त्वज्ञ पुरुषके ऊपर विधि-निषेधका नियम लागू नहीं होता, इस कारण वह निषिद्ध आचरण करे तो भी उसका दोष उसको नहीं लगता है।

इसके उत्तरमें दो प्रकारसे विचार करना चाहिये। पहला तो यह है कि इस प्रकारके जो श्लोक हैं उनमें 'अतिशयोक्ति अलङ्कार' है। उनका अक्षरार्थ या शब्दार्थ न करके केवल भावार्थ समझना चाहिये, इस वस्तुको समझनेके लिये अतिशयोक्ति अलङ्कारका स्वरूप देखिये। भर्तृहरिको इस अलङ्कारका खूब ही शौक है और उन्होंने इसका अनेकों प्रसङ्गोंमें प्रयोग किया है। एक नमूना देखिये। वे कहते हैं—

'बालूको पेरनेसे कदाचित् तेल निकल जाय, मृगतृष्णाके जलसे कदाचित् प्यास बुझ जाय और वन-वन खोजनेपर कदाचित् शशकका शृङ्ग भी प्राप्त हो जाय। ये सभी बातें मान लो कि कदाचित् हो जायँ, तथापि मूर्ख मनुष्य कभी अपना हठ नहीं छोड़ता।' यहाँ यदि शब्दार्थ लीजिये तो भर्तृहरि स्वयं मूर्ख समझे जायँगे; क्योंकि बालूसे तेल कभी निकल नहीं सकता तथा मृगतृष्णाका जल कोई जल नहीं है, जिससे किसीकी प्यास बुझे और शशकको सींग उगते ही नहीं, तब फिर मिल कहाँ सकते हैं? इसलिये इसका भाव समझना चाहिये। मूर्ख आदमी यदि हठीला हो तो वह किसी प्रकार भी नहीं समझता, इसी बातको बलात् समझानेके लिये यह आलङ्कारिक प्रयोग है।

अब ज्ञानीविषयक अतिशयोक्ति अलङ्कारका एक श्लोक देखिये। 'आर्या पञ्चाशीति' में श्रीशेषभगवानका वचन है—

हयमेधसहस्राणि अथ कुरुते ब्रह्मघातलक्षाणि।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः॥

अर्थात् तत्त्वज्ञानी पुरुष हजारों अश्वमेध यज्ञ करे, अथवा वह लाखों ब्रह्महत्या करे; तथापि यज्ञका पुण्य तथा हत्याका पाप उसको नहीं लगता। ज्ञानी पुरुषको कोई इच्छा ही नहीं होती है, अतः वह अश्वमेध यज्ञ क्यों करेगा? ज्ञानी तो सर्वात्मभाववाला होता है, इसलिये उससे ब्राह्मणकी तो क्या, किसीकी भी हिंसा कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं होती है। इसलिये ज्ञानी पुरुषका व्यवहार लोकोत्तर होता है, इतना ही इस श्लोकसे समझना चाहिये।

अब यह प्रश्न यदि उठे कि ज्ञानी पुरुषसे निषिद्ध आचरण होता है या नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि ज्ञानीके लिये ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि उसको तो कोई कामना ही नहीं रहती। उसको तो ज्ञान होनेके पहले ही अन्तःकरणकी शुद्धिके समय ही कामनामात्रको तिलाञ्जलि दे देनी पड़ती है और कामनाके बिना निषिद्ध आचरण हो ही नहीं सकता, ऐसा गीताके तीसरे अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनसे स्पष्ट कहा है। शुभकर्म निष्काम भावसे हो सकता है, परंतु अशुभ तो कामनाकी प्रेरणा—भोगकी इच्छाके बिना हो ही नहीं सकता। यदि अशुभ आचरण होता दीख पड़े तो समझना चाहिये कि वह मनुष्य तत्त्वज्ञानी नहीं, केवल ज्ञानका आडम्बरमात्र करता है।

इस कथनकी साक्षी देते हुए शास्त्र कहता है कि—

लब्धत्रैलोक्यराज्यो न भिक्षामाकाङ्क्षते यथा ।
एवं लब्धपरानन्दो क्षुद्रानन्दं न काङ्क्षति ॥

जिसको त्रिलोकीका राज्य प्राप्त हो गया हो, वह जिस प्रकार भिक्षाकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार जिसको आत्मानन्दका अनुभव है, वह ज्ञानी विषयोंके क्षुद्र आनन्दकी ओर ताकता भी नहीं । यह बात 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में बहुत ही जोर देकर कही गयी है । वह इस प्रकार है—

बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेच्छाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥

अर्थात् जिसने अद्वैततत्त्वको जान लिया है अर्थात् जो यथार्थ तत्त्वज्ञानी है, वह भी यदि यथेच्छ आचरण करता है—निषिद्ध या अशुभ आचरण करता है, तो फिर अशुचि-भक्षण करनेमें एक कुत्ते और तत्त्वज्ञानीमें क्या भेद रह जायगा ? इन सारे विवेचनोंका सारांश यह है कि 'ज्ञानी विधि-निषेधके कैदमें नहीं'—इस प्रकारके वचनोंको केवल आलङ्कारिक समझना चाहिये; क्योंकि ज्ञानीसे कभी कोई अशुभ आचरण नहीं हो सकता । शुभ व्यवहार करना या न करना उसके स्वभावपर अवलम्बित रहता है । जिस ज्ञानीने अपने साधनकालमें निष्काम कर्म खूब किया है, वैसा ज्ञानी स्वभाववश निष्काम कर्म करता ही रहता है और जिस ज्ञानीने विचारका ही मुख्य अवलम्बन लिया हो, वह तो शुभ निष्काम कर्म भी नहीं करता ।

निबन्ध आवश्यकतासे अधिक लंबा हो गया है । अब जीवन्मुक्तके लक्षणके सम्बन्धमें कुछ कहकर इसको समाप्त करेंगे । जीवन्मुक्तका लक्षण गीताके दूसरे अध्यायमें 'स्थित-प्रज्ञ'के लक्षणके रूपमें दिया गया है । बारहवें अध्यायमें 'भक्त'के लक्षणके रूपमें वर्णित है तथा चौदहवें अध्यायमें 'गुणातीत' पुरुषके लक्षणके रूपमें दिया गया है । उपनिषद्में भी ब्राह्मणके लक्षणके रूपमें जीवन्मुक्तका वर्णन है तथा अन्य स्थलोंमें अतिवर्णाश्रमीके जो लक्षण वर्णित हैं, वे भी जीवन्मुक्तके लक्षण हैं ।

मुझे तो गीताके दूसरे अध्यायके ७० वें श्लोकमें दिया हुआ जीवन्मुक्तका लक्षण बहुत ही हृदयङ्गम जान पड़ता है और ऐसा जान पड़ता है कि जीवन्मुक्तका जीवन वैसा ही होता है ।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

चारों ओरसे नदियोंका जल उमड़ता हुआ चला आता है और वह समुद्रमें मिलता है, तथापि समुद्र जरा भी क्षोभको प्राप्त नहीं होता । यहाँतक कि अपनी मर्यादा छोड़तातक नहीं । इसी प्रकार ज्ञानीके अन्तःकरणमें भी प्रारब्धको भोगनेके लिये तो इच्छाएँ स्फुरित होती हैं, परंतु स्फुरित होकर फिर जहाँ-की तहाँ शान्त हो जाती हैं । इस प्रकार इच्छाओंका संस्कार उसके ऊपर नहीं पड़ता और इससे वह शाश्वत शान्तिको प्राप्त करता है; परंतु जो मनुष्य कामनाके उठनेपर उसकी प्राप्तिके लिये यत्नशील होता है, उसके चित्तपर उसका संस्कार पड़ता है और इससे वह मनुष्य शान्ति नहीं पाता । ज्ञानी-अज्ञानीमें बस इतना ही भेद है कि ज्ञानीके चित्तपर नये संस्कार नहीं पड़ते, क्योंकि वह कामनाके वश नहीं होता और अज्ञानी कामनाके वशमें होकर बर्तता है, इसलिये उसके चित्तके ऊपर उन कामनाओंका संस्कार पड़ता है और वह संस्कार ही भावी बन्धन प्रदान करता है ।

इस निबन्धका सार इतना ही है कि मुक्तिकी प्राप्ति जीवितावस्थामें ही हो सकती है, इसलिये समझदार मनुष्यको चाहिये कि जबतक शरीर कार्यक्षम है, इन्द्रियाँ काम देती हैं, मन-बुद्धि भी बलवान् हैं और प्राण भी स्थिर है, तबतक मुक्ति प्राप्त कर ले । मनुष्य-शरीर देव-दुर्लभ है और इसकी सार्थकता मुक्ति प्राप्त कर लेनेमें ही है । भर्तृहरिजीने चेतावनी देते हुए कहा है—

यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

यह कायारूपी घर जबतक अच्छी स्थितिमें है, वृद्धावस्था दूर है, इन्द्रियोंकी शक्ति भी क्षीण नहीं हुई है तथा आयु भी अभी शेष है, तबतक समझदार मनुष्यको आत्मकल्याण कर लेना चाहिये; क्योंकि शरीरका नाश होनेपर कुछ बन नहीं सकता । मरते समय प्रयास करना, यह तो आग लगनेके बाद कूप खोदनेके समान हास्यास्पद है ।

नरहरिः कुरुतां जगतां शिवम् ।

भारतीय संस्कृतिकी विश्वको देन—दान

(लेखक—श्रीसीतारामजी सहगल)

विश्वके इतिहासका यदि परिशीलन किया जाय तो कई बार हमारे मनमें दानके इतिहासकी जिज्ञासा पैदा होती है। संसारमें सर्वप्रथम किस राष्ट्रने इस मानवीय तत्त्वको खोजा और जनकल्याणके लिये इसका विकास किस रूपमें किया गया। तदनन्तर लोकसंग्रहकी परम्परा किस प्रकार प्रचलित हुई।

यदि तुलनात्मक दृष्टिसे इस समस्यापर विचार करें तो यह मानना पड़ेगा कि संसारमें कोई ऐसा देश नहीं है, जो इस तत्त्वको मानवीय कल्याणके लिये आवश्यक नहीं मानता। ईसाई, इस्लाम आदि अनार्य धर्मोंने दानकी महिमाको हृदयसे सराहा है, इस्लामका जन्म लगभग आठवीं शताब्दीमें हुआ; परंतु भारतीय साहित्य तथा संस्कृति ईसाकी छठी शताब्दीसे पूर्व अपनी चरम सीमातक पहुँच चुकी थी। इस्लाम-धर्मके प्रचारकोंने अपने धार्मिक प्रवचन 'ला इलाह इल्लिहा' जरथुस्त्रके वचन 'नेस्त एज़द मगर यज़मन' पर आधारित किया। गवेषकोंने भी यह सिद्ध किया है कि कुरानका प्रत्येक अध्याय जो 'बिस्मिल्लाह रहिमाने रहीम' शब्दोंसे आरम्भ होता है वह 'बनाम यज़दन बक्शिशे गर ददर' आदि जरथुस्त्रियोंके वचनोंसे मिलता है। 'जिन्दा अवेस्ता' ऋग्वेद-साहित्यसे किस तरह प्रभावित है यह विज्ञ पाठकोंसे छिपा नहीं है। इससे स्पष्ट है कि इस्लामने इस तत्त्वको भारतीयोंसे अपनाया।

इसी तरह ईसाई-मतावलम्बियोंने भी यह माना है कि भारतीय वेद संसारके आदि ग्रन्थ हैं। स्वर्गीय डा० मेक्डानलने ऋग्वेदके बारेमें अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि विश्वमें ऋग्वेद आर्योंकी प्रथम ज्ञान-पुस्तक है। इससे पुराना ग्रन्थ दूसरा नहीं है। इसमें प्रतिपादित तत्त्व संसारमें सबसे पुरातन है, इसमें कोई संदेह नहीं।

ऋग्वेद-संहितामें यजमान और प्रतिग्रहीताकी परम्परा सुसंगठित रूपमें मिलती है। देनेवालेको 'दाश्वान्' कहा गया है। व्याकरणकी प्रक्रियाके अनुसार 'दाश्' धातुसे 'क्वसु' प्रत्यय लगानेपर यह रूप निष्पन्न होता है। 'क्वसु' प्रत्यय शीलके अर्थमें प्रयुक्त होता है। इस पदका ऋग्वेदमें सम्भवतः एक सौ बारह बार प्रयोग हुआ है और 'दाशुषे' अर्थात् चतुर्थी विभक्तिका रूप ही सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है। दाश्वान्‌का अर्थ केवल देनेवाला ही नहीं, अपितु सब प्रकारका बलिदान करनेवाला भी है। जो व्यक्ति मनसा, वाचा तथा कर्मणा वस्तुओंका त्याग करता है अर्थात् जिसमें अपरिग्रहकी भावना है, वह दाश्वान् कहलाता था। इसके साथ जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, वे उस समयकी झाँकीको और भी अधिक स्पष्ट करते हैं। सबसे अधिक प्रयोग जो ऋग्वेदमें मिलता है वह है 'दाशुषे मर्त्याय'। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना चाहता था तो उसके लिये दान एक पक्का लाइसेन्स था, वह जितना दान करता था उतने ही धन, वसु तथा रत्न उसे मिलते। उससे शत्रु स्वयमेव समाप्त हो जाते। शत्रुताका कारण है जरूरतसे अधिक धनका संग्रह करना। शास्त्रीय परिभाषामें हम इसे लोभ कह देते हैं।

'दाश्वान्' का एक और विशेषण है 'विप्र'। तपःपूत क्रान्तदर्शी ऋषिने कहा है—

स त्वं विप्राय दाशुषे
रयिं देहि सहस्रिणम्
अग्ने वीरवतीमिषम्

(८, ४३, १५)

अर्थात्—

'हे अग्निदेव ! तुम हव्यदाता मेधावीको सहस्रसंख्याक धन और वीर पुत्रादिसे युक्त अन्न दो।'

उस समय समाजमें दानियोंकी होड़ लगती होगी और प्रत्येक व्यक्ति यथाशक्ति दान करता होगा। समाजके कल्याणके लिये भारतीय मनीषाने इसे सबसे पहले रखा। आचार्य यास्क, जो उस समयकी परम्पराको अच्छी तरह समझते थे, एक स्थलपर 'द्रविणोदाः' की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'दातृतमः'—यह सबसे अधिक देनेवाला है। अन्य दो स्थलोंपर आचार्यने कहा है 'दानमनसो मनुष्यान्' अर्थात् दानकी निष्ठासे युक्त मनुष्य।

जो व्यक्ति समाजमें अधिक दान करता था, उसे उपाधियाँ दी जाती थीं। यह थी सम्मानित 'भोज'। अथर्ववेदमें 'कृष्ण' नामक ऋषिने कहा है—

किमङ्ग त्वा मघवन् भोजमाहुः।
(२०, ८९, ३)

'हे दानशील इन्द्र ! क्या तुम्हें लोग 'भोज' कहते हैं।' इसके बाद 'भोज' राजा-पदका समानार्थक समझा जाने लगा। महाभारतके शान्तिपर्वमें निम्नलिखित श्लोक उपलब्ध होता है—

राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति॥

अर्थात् 'राजा, भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति, नृप आदि शब्दोंसे जिसकी स्तुति होती है भला, उसकी समाजमें कौन प्रतिष्ठा नहीं करता।'

उषा-सूक्त (ऋग्वेद ६, ६५) में दान देनेवालेको 'वीराय दाशुषे' कहा है। जिसका शब्दार्थ है कि वह शूरवीर समझा जाता था। दान करनेवालेकी आत्मा स्वयं पवित्र हो जाती है। वह स्वतःप्रकाश होकर आत्मिक बलसे ऊपर उठता है। समाजमें जो तमोगुण फैला हुआ होता है, वह स्वयमेव दूर हो जाता है। ऋग्वेदमें इन्द्र, सविता, राका, ऋभु, मित्रावरुणौ अश्विनौ तथा सोम आदि सभी देवताओंसे प्रार्थनाएँ की गयी हैं कि वे दानी व्यक्तियोंके स्वास्थ्य तथा सम्पन्नताको बनाये रखें।

भारतीय संस्कृतिके आदिम स्रोत ऋग्वेदमें आचार्य कात्यायनने अपनी सर्वानुक्रमणीमें बाईस ऐसे सूक्तोंका उल्लेख किया है जिनमें दान-स्तुतियाँ हैं। यूरोप तथा भारतके आधुनिक विद्वानोंने ऐसे अड़तीस सूक्तोंकी खोज की है जो दान-स्तवनोंसे भरपूर हैं। इनमें डा० ओल्डनबर्ग, गेल्डनर, ब्लूमफील्ड आदि पाश्चात्त्य विद्वानोंने तथा डा० मणिलाल पटेल, युधिष्ठिर मीमांसक एतद्देशीय संशोधकोंने स्पृहणीय गवेषणा की है। कुछ प्रमुख स्तुतियाँ इस प्रकार हैं—प्रस्तोता सामञ्जस्यकी दानस्तुति, सुदास पैजवनकी दानस्तुति, अभ्यावर्ती चायमानकी दानस्तुति, सौवर्णीकी दानस्तुति। ऋग्वेदके आठवें मण्डलमें सबसे अधिक दानस्तुतियोंकी सामग्री निहित है। एक मन्त्रमें प्रातःस्मरणीय ऋषिने कहा है—'दानं देवस्य पृच्यते' अर्थात् परमेश्वरदेवको ज्ञान देकर भरपूर करो। एक और मन्त्रमें कहा है—हे वसुदेव ! जिसको आप दानके लिये शिक्षित करते हैं उसके धन और अन्य पदार्थ कभी नहीं घटते। भाव यह है कि दानमें विश्व-कल्याणकी भावना निहित है।

अब उन व्यक्तियोंकी बात सोचें, जो समाजमें दानके नामसे कोसों दूर भागते थे। ऐसे मनुष्योंको पापीके समान ही समझा जाता था, ऋग्वेदमें 'अराति' शब्दका अर्थ है अ+राति अर्थात् न देना। वेदमें यह लगभग एकतालीस बार आया है। कंजूसका जो आज समाजमें स्थान है वही उस समय भी था। एक मन्त्रमें कहा है—

हे देव ! मुझे पाप, शत्रु और कंजूस व्यक्तिसे घृणा है। दूसरे शब्दोंमें इन तीनोंका समाजमें एक ही स्थान था। प्रार्थनामें यह कहा गया है कि इन्हें हमसे दूर रक्खा जाय। उत्तरकालीन साहित्यमें यह 'अराति' शब्द इतना कुत्सित अर्थमें प्रयुक्त होने लगा कि भूत-प्रेतोंका

पर्यायवाचक बन गया। इसके बाद दर्शनशास्त्रोंमें आन्तरिक छः शत्रुओंको अराति कहा जाने लगा। इस बड़े इतिहासका कारण था, दान न देना। दूसरे शब्दोंमें अपनेको समाजके प्रति कर्तव्यसे वञ्चित रखना। इस सामाजिक ऋणका प्रतिशोध न करना एक महान् पाप समझा जाता था। आधुनिक पद्धतिके अनुसार ऋग्वेदके दशम मण्डलमें एक सौ सतरहवाँ सूक्त सम्भवतः संसारकी पहली रचना है जिसमें पुण्यश्लोक भिक्षुराङ्गिरस ऋषिने दानका स्तवन किया है। इस सूक्तमें नौ मन्त्र हैं, जिनमेंसे हम तीन मन्त्र यहाँ उद्‌धृत करते हैं—

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥

अर्थात्—

अन्नकी इच्छासे किसी दुर्बल व्यक्तिके भिक्षा माँगनेपर जो अन्न-दान करता है, वही दाता है। उसे सम्पूर्ण यज्ञफल मिलता है और वह शत्रुओंमें भी मित्र पा लेता है।

एक और मन्त्रमें कहा है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी॥

अर्थात्—

'दुर्बुद्धि मनुष्य व्यर्थ ही अन्नकी सामग्रीको एकत्र करता है। मैं सत्य कहता हूँ कि आवश्यकतासे अधिक भोग-विलासकी सामग्री उसके लिये मृत्युका कारण होती है। ऐसा मूर्ख बुद्धिवाला मनुष्य न तो अर्यमादि देवोंको आहुति देता है और न अपने साथियोंकी सेवा ही करता है।

अकेला खानेवाला व्यक्ति केवल पापका ही भागी होता है। पंजाबीमें एक कहावत है कि जो कल्ला (अकेला) खादां है (खाता है) ओ (वह) डङ्ग खादां है (पाप खाता है)। ऋग्वेदका मूल स्रोत उसी रूपमें बह रहा है। श्रुतिके शब्द कितने स्पष्ट हैं कि जो संसारकी भोग-सामग्रीको अकेला भोगता है और दूसरोंको कभी बाँटकर नहीं खाता, वह नाशकी ओर चलता है। मूलका अप्रचेताः शब्द सार्थक है, जो मनुष्य स्वादपूर्वक मिष्टान्नसे पेट भरता है, सुन्दर खाटपर सोता है और अपने साथियोंकी परवा नहीं करता, वह सम्भवतः अप्रचेताः कहलाता था। ऐसे मनुष्यके विरुद्ध सभी युगोंमें विद्रोह होता रहा है। इसी तत्त्वकी अगले मन्त्रमें ऋषि व्याख्या करते हैं—

न स सखा यो न ददाति सख्ये
सचाभुवे सचमानाय पित्वः। (४)

अर्थात्—

जो अपने साथ रहनेवाले साथियोंको अन्न बाँटकर नहीं खाता, वह उनका मित्र नहीं है। संस्कृत साहित्यमें ऐसे मनुष्यको किंसखा नाम दिया है। समाजमें उसके लिये एक शब्द गढ़ा गया। व्याकरणके आचार्य पाणिनिको भी 'किमः क्षेपे' (पा० २।१।१६) एक सूत्र बनाना पड़ा।

मानव-कल्याणके लिये दानका प्रशस्त मार्ग सर्वप्रथम भारतीयोंने दिखलाया। महर्षियोंने इसका तीन प्रकारसे विश्लेषण किया, जिसे हम मनसा, वाचा, कर्मणा त्याग कहते हैं। हिंदुओंमें आज भी यह परम्परा उपलब्ध होती है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

अर्थात्—जितने काम्य कर्म हैं, उनके त्यागको ज्ञानीलोग 'संन्यास' समझते हैं। समस्त कर्मोंके फलोंके त्यागको पण्डितलोग 'त्याग' कहते हैं।

मान-बड़ाई—मीठा विष

(तीर्थयात्राके प्रसंगमें एक स्थानपर हनुमानप्रसाद पोद्दारद्वारा दिये गये भाषणका कुछ अंश)

मनुष्य जहाँ सर्वजीवोंकी अपेक्षा विलक्षण शक्ति-सामर्थ्ययुक्त है, वहाँ वह एक ऐसी दुर्बलताको धारण करता है, जो पशु-पक्षी, कीट-पतंगोंमें नहीं है । वह दुर्बलता है—मान-बड़ाईकी इच्छा, यश-कीर्तिकी कामना। यह बड़े-बड़े त्यागी कहलानेवालोंमें—माने जानेवालोंमें और अपनेको महान् त्यागी समझनेवालोंमें भी प्रायः पायी जाती है । इसको लोग दोषकी वस्तु नहीं मानते और इतिहासमें नाम अमर रहनेकी वासना रखते और कामना करते हैं । यह मीठा विष है, जो अत्यन्त मधुर प्रतीत होता है; परंतु परिणाममें साधन-जीवनकी समाप्ति-का कारण बन जाता है । मान-बड़ाई किसकी ? शरीरकी और नामकी ! जो शरीर और नामको अपना स्वरूप मानता है और उनकी पूजा-प्रतिष्ठा, उनका नाम-यश चाहता है, वह 'नाम-रूप'में अहंभाव रखने-वाला ज्ञानी है या अज्ञानी ? यह प्रत्यक्ष है कि 'शरीर' माता-पिताके रज-वीर्यका पिण्ड है और माताके गर्भमें इसका निर्माण हुआ है । यह आत्मा नहीं है और 'नाम' तो प्रत्यक्ष कल्पित है । जब यह माताके गर्भमें था, तब तो यही पता नहीं था कि लड़की है या लड़का । प्रसव होनेके बाद नामकरण हुआ । वह नाम अच्छा नहीं लगा, दूसरा बदला गया, तीसरा बदला गया । न मालूम कितनी बार परिवर्तन हुआ । ऐसे शरीर ('रूप') और 'नाम'में अहंता कर, उनको आत्मा मानकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठाकी कामना करना प्रत्यक्ष अज्ञानकी जयघोषणा है । अपने अज्ञानका साक्षात् परिचय है । परंतु किससे कहा जाय और कौन कहे ? कुएँ जो भाँग पड़ी है । बड़े-बड़े त्यागी महात्मा अपने जीवन-कालमें ही अपनी पाषाण या धातुमूर्तिका निर्माण करवाकर, छायाचित्रोंको देकर उनकी पूजा करवाते हैं; अपने नामका जप-कीर्तन करवाते हैं ! अपनेको 'ईश्वर' या 'भगवान्' कहाते और स्वयं कहते जरा भी संकुचित नहीं होते, वरं इसमें गौरव तथा महत्त्वका अनुभव करते हैं । मेरी समझसे तो यह मोह है और इस मोहका शीघ्र भंग होना अत्यन्त आवश्यक है ।

आपलोगोंने जिस अकृत्रिम स्नेह, वात्सल्य, प्रेम, आत्मीयता, शील, सौजन्य तथा उदारताके साथ हम-लोगोंके प्रति जो आदर्श बर्ताव किया है और यात्राट्रेनके प्रत्येक यात्रीको सुख-सुविधा देनेका जो महान् प्रयास किया है, उसके लिये हम सभी आपके कृतज्ञ हैं । मैं तो आपके आदर्श निष्काम तथा विशुद्ध प्रेमको प्राप्त कर कृतार्थ हो गया हूँ और आपने सदाके लिये मुझे प्रेम-ऋणी बना दिया है । मेरे पास शब्द नहीं हैं, जिनके द्वारा मैं अपने हृदयके भाव प्रकट कर सकूँ । मैं आपका चिर-ऋणी हूँ । वास्तवमें प्रेमका कोई बदला हो ही नहीं सकता । मैं आपके प्रेमकी पवित्र भावनासे सदा-सर्वदा अपने हृदयको पवित्र बनाये रखना चाहता हूँ । सदा-सर्वदा इस सुधा-सिंचनसे हृदयको हरा-भरा रखना चाहता हूँ ।

परंतु आपको जो मुझमें गुणसमूहके दर्शन हुए हैं और जिनका आपलोगोंने मधुर शब्दोंमें वर्णन किया है, वे वस्तुतः मुझमें नहीं हैं । यह मैं आपसे सत्य कहता हूँ । आपको गुण दीखते हैं—इसमें आपका मेरे प्रति अकृत्रिम प्रेम ही कारण है अथवा यह आपकी केवल सद्गुणदर्शिनी दृष्टिका परिणाम है । किसीमें गुणसमूह देखकर कोई दूसरा उसका वर्णन करता है, तब उसमें प्रायः तीन ही बातें होती हैं—(१) वह इतना महान् है कि उसे जगत्में सर्वत्र वैसे ही केवल गुण ही दीखते हैं, जैसे ब्रह्मदर्शी ज्ञानीको अथवा भगवत्प्रेमीको सर्वत्र ब्रह्म या भगवान्‌की ही अनुभूति होती है । (२) या उसे

गुणोंके साथ दोष भी दीखते हैं पर वह केवल गुणोंको ही ग्रहण करता है। दोषको ग्रहण करता ही नहीं। और (३) अथवा उसे दोष-गुण दोनों दीखते तो हैं पर वह दोषका वर्णन न करके केवल गुणका ही वर्णन करता है। इन तीनों ही बातोंमें गुण वर्णन करनेवालेका महत्त्व है, यह उसका आदर्श गुण है। गुण सुननेवाला यदि गुण वर्णन करनेवालेके इस महत्त्वको न समझकर विना ही हुए अपनेमें उन गुणोंका आरोप कर लेता है, अपनेको उन गुणोंसे सम्पन्न मान लेता है, तो वह अनुचित लाभ उठानेका प्रयत्न करता है। यह उसकी मूर्खतामात्र है, क्योंकि किसीके द्वारा गुण बताये जानेसे गुण तो आ नहीं गये। किसी कंगालको यदि कोई करोड़पति बता दे तो इससे वह करोड़पति हो नहीं जाता। हाँ, यदि वह मान लेता है तो अपने-आपको धोखा देनेकी मूर्खता अवश्य करता है। आपलोग अपनी सद्भावनासे मुझे यह बल दें कि मैं आपलोगोंके सद्भावका हार्दिक सम्मान करता हुआ भी, आपके इस महत्त्वपूर्ण गुणसे शिक्षा लेता हुआ भी अपने-आपको धोखा देनेकी मूर्खता न कर बैठूँ।

आपलोगोंने मेरा जो परिचय दिया, यह तो आपके ही सद्भाव तथा सदाचारका पवित्र परिचय है। मेरा यथार्थ परिचय तो मुझको है और वह यह है कि जगत्में जो करोड़ों मनुष्य हैं, उन्हींमेंसे मैं भी एक हूँ। जैसे उनमें अनेक दुर्बलताएँ भरी हैं, वैसी ही मुझमें भी हैं। मैं उनसे किसी भी बातमें बढ़कर नहीं हूँ। हाँ, इतना अवश्य है कि प्राणिमात्रके सहज सुहृद् श्रीभगवान्‌की अनन्त कृपा मुझपर है; वह कृपा तो सभीपर असीम है, उनकी कृपासे ही मुझे उस कृपाके दर्शन होते हैं। पर इसमें भी अकारण कृपालु भगवान्‌का ही महत्त्व है। मेरा क्या है?

आपलोगोंने मुझे मालाएँ पहनायीं, सुगन्धित पुष्पोंके सुन्दर हार पहनाये—यह आपकी बड़ी ही कृपा है। जिस समय मैं हार पहन रहा था, अपनी प्रशंसा सुन रहा था, उस समय मेरे मनमें आया कि हम गीतामें रोज पढ़ते हैं—

'मानापमानयोस्तुल्यः' 'तुल्यनिन्दास्तुतिः'

—तो इस प्रशंसा तथा फूलोंके हारोंके स्थानपर गालियाँ सुननेको मिलतीं और पुष्पहारके बदले जूतोंके हार मिलते तो क्या मेरा वही भाव रहता, जो प्रशंसा सुनने और हार पहननेके समय रहा है। यदि नहीं तो, फिर यह समताकी बातें पढ़कर मैंने क्या लाभ उठाया? सच तो यह है कि मैं मान-बड़ाईका विरोध तो करता हूँ, परंतु मेरे मनमें मान-बड़ाईकी छिपी वासना है, उसीकी पूर्ति हो रही है। यदि वासना न होती और सुख न मिलता, मान-बड़ाईमें गाली तथा जूतोंके हारकी भावना होती तो मैं यहाँसे भाग जाता और आप मुझे न तो हार ही पहना सकते, न मेरी प्रशंसा ही कर पाते। पर यह मेरी ही दुर्बलता है। आपलोगोंका तो श्लाघ्य गुण ही है। हमारे स्वामीजी रामसुखदासजी तथा स्वामी चक्रधरजी हार नहीं पहनते तो उन्हें कौन पहना सकता है? कौन कह सकता है मेरे मान-बड़ाईका विरोध करनेमें भी मान-बड़ाई पानेकी छिपी वासना काम न कर रही हो।

दूसरी बात है—हारोंमें व्यर्थ खर्चकी। ये हार किसी भी काममें नहीं आते। एक बार पहने कि उतारकर रख दिये। इनसे भगवत्पूजन या देवपूजन होता तो इनकी कुछ सार्थकता भी थी। नहीं तो ये सुन्दर पुष्पवाटिकाकी शोभा ही बढ़ाते। हमारा देश अब भी बड़ा दरिद्र है। जहाँ करोड़ों भाई-बहिन भरपेट भोजन नहीं पाते, अङ्ग ढकनेको वस्त्र नहीं पाते, रहनेको छायादार घर नहीं पाते; वहाँ तो अच्छा खाना-पहनना, अच्छे मकानोंमें रहना, गलीचोंपर और सोफोंपर बैठना ही बड़ा अनुचित है, फिर पुष्पहारोंमें पैसा खर्च कराना तो उचित कैसे कहा जा सकता है। यह भी मेरा ही दोष है। मैं क्या कहूँ।

अब रही छायाचित्र (फोटो) की बात। सो हाड़-मांसके इस शरीरका चित्र क्या महत्त्व रखता है। चित्र

तो भगवान् या संतोंके लाभदायक होते हैं। मुझ-जैसे मनुष्योंका चित्र उतरवाना तो सर्वथा उपहासास्पद ही है।

महाभारतमें भगवान्‌ने अर्जुनको उपदेश दिया था कि बड़ोंके मुँहपर उनकी निन्दा करना उनकी हत्या करना है और अपने मुँहसे अपनी बड़ाई करना आत्महत्या है। यह बड़ा ही गर्हित कार्य है। जैसे अपने मुखसे अपनी बड़ाई करना आत्महत्या है, ऐसे ही अपने कानोंसे अपनी बड़ाई सुनना भी आत्महत्याके ही सदृश है। पर यह आत्महत्या तो हम बड़े शौकसे करते हैं। क्या कहा जाय।

आपलोगोंने जो इतना मान-सम्मान किया, बड़ाई की, गुणगान किये, इसमें निश्चय ही आपका अकृत्रिम प्रेम ही प्रधान कारण है। और मैं इस प्रेमका हृदयसे सत्कार करता हूँ, परंतु आप सब मेरे परम हितैषी हैं, आत्मीय बन्धु हैं, भक्तिभाजन तथा श्रद्धाके पात्र भी हैं, अतएव साथ ही प्रार्थना भी करता हूँ कि मुझे ऐसी चीज न दीजिये, जिसका मेरे मनमें छिपा प्रलोभन होनेपर भी, जो मेरे लिये हानिकारक हो। यदि मान-बड़ाईमें मेरा मन ललचा जायगा तो फिर मैं जहाँ भी जाऊँगा, जिससे भी मिलूँगा, मेरे नेत्र और मेरा मन मान-बड़ाईकी खोजमें लगा रहेगा। भगवत्-सम्बन्धको भूल जायगा और जहाँ मान-बड़ाई अपेक्षाकृत कम मिलेंगी या नहीं मिलेंगी, वहाँ मन कहेगा कि 'यहाँ प्रेमीलोग नहीं हैं।' यों मुझसे व्यर्थ सज्जनोंपर दोषारोपणका पाप होने लगेगा, आपलोग कृपापूर्वक इस पापसे मुझे बचायें, यह मेरी आप सबसे हाथ जोड़कर प्रार्थना है।

दूसरोंके साथ

दूसरोंको आराम दो, स्वयं आराम मत चाहो।
दूसरोंको सुविधा दो, स्वयं सुविधा मत चाहो।
दूसरोंको सम्मान दो, स्वयं सम्मान मत चाहो।
दूसरोंको सेवा दो, स्वयं सेवा मत चाहो।

अपने आप सबको आराम मिलेगा।
अपने आप सबको सुविधा मिलेगी।
अपने आप सबको सम्मान मिलेगा।
अपने आप सबको सेवा मिलेगी।

दूसरोंकी आशा भरसक पूरी करो,
दूसरोंसे आशा मत करो।
दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करो,
अपना अधिकार त्याग दो।
दूसरोंके साथ उदारता बरतो,
अपने साथ न्याय बरतो।
दूसरोंके छोटे दुःखको बड़ा समझो,
अपने दुःखकी परवा मत करो।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

[नाटक]

[गताङ्कसे आगे]

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी)

दूसरा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—झारखण्डमें एक झोपड़ेका छोटा-सा शयनागार।

समय—रात्रिका तीसरा पहर।

[शयनागारमें दीपकका मन्द प्रकाश है। जिससे शयनागार और उसकी कुछ वस्तुएँ धुँधली-धुँधली दिखायी देती हैं। शयनागारकी तीन ओरकी खुरदरी कच्ची दीवालें हैं। पर वे सफेद छुईसे स्वच्छ पुती हुई हैं। झोपड़ीकी छावनी फूसकी है। एक ओर एक खटियापर वल्लभाचार्य निद्रामग्न हैं। निकट ही एक झारीमें पानी रक्खा हुआ है और उसी झारीके निकट पानी पीनेका एक पात्र। एकाएक पीछेकी दीवालपर प्रकाश दिखायी पड़ता है। उस प्रकाशमें गोवर्धन पर्वतका एक भाग और उस भागमें श्रीनाथजीका श्यामस्वरूप। इस स्वरूपके सामने हाथ जोड़े और सिर नवाये हुए श्रीवल्लभाचार्य दीख पड़ते हैं। श्रीनाथजीका स्वरूप वैसा ही है, जैसा इस समय नाथद्वारेमें विराजमान है। श्रीवल्लभाचार्य अब नीचेके अङ्गमें धोती और ऊपरके अङ्गपर उत्तरीय धारण किये हुए हैं। स्वरूप मुसकराते हुए बोलता है।]

स्वरूप—वल्लभ! तुम्हें ······ तुम्हें अपने स्वरूपका पूर्ण ज्ञान नहीं, परंतु तुम्हारे पिताको स्वप्न-सूचना देकर मैं ही तुम्हारे रूपमें प्रकट हुआ हूँ।

वल्लभाचार्य—यद्यपि प्रभो! सभी जीव आपके ही अंश हैं, परंतु मुझमें आपका यह पूर्ण प्रतिबिम्ब मुझपर आपके अनुग्रहका ही द्योतक है।

स्वरूप—मेरी गीताकी—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

—घोषणाका तुम्हें स्मरण दिलाता हूँ। यह जगत् मेरी लीलाके निमित्त है और इस लीलामें जब मेरी आवश्यकता होती है, तब इस घोषणाके अनुसार मैं स्वयं अवतीर्ण होता हूँ। इस समय यह अवतार तुम्हारे रूपमें हुआ है।

वल्लभाचार्य—आपकी कुछ विलक्षण शक्ति मुझे प्राप्त है; यह तो मैं जानता हूँ। उन्हीं शक्तियोंके कारण मैं ग्यारह वर्षकी अवस्थामें वेद-विद्यामें पारङ्गत हो गया, चौदह वर्षकी अवस्थामें विजयनगरके शास्त्रार्थमें विजयी हुआ। ये साधारण बातें नहीं हैं, अलौकिक बातें हैं एवं बिना आपकी शक्ति और अनुग्रहके ये साधारण जीवोंको अप्राप्य हैं; परंतु यह जानते हुए भी आप मेरे स्वरूपमें अवतीर्ण हुए हैं, यह मुझे आज ज्ञात हुआ।

स्वरूप—वल्लभ! प्रिय वल्लभ! मेरी इस लीलामें आज तुम्हारी आवश्यकता थी। तुम्हारा ब्रह्मवाद और शुद्धाद्वैत सिद्धान्त ही आज दैवी जीवोंका त्राण कर सकता है। तुमने अपने वाद और सिद्धान्तोंको ठीक रूपमें उपस्थित किया है और जिस विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके तुम आचार्य बने हो, वही सम्प्रदाय इस समय दैवी जीवोंका कल्याण कर सकता है। इस सम्बन्धमें दर्शनशास्त्र जहाँतक जा सकता है, वहाँतक तुम उसे ले गये; परंतु इतना ही यथेष्ट नहीं है।

वल्लभाचार्य—तब?

स्वरूप—मानव मस्तिष्क और हृदय दोनोंसे शासित होनेवाला प्राणी है। दर्शन मस्तिष्कका विषय है, हृदयके लिये कुछ और आवश्यकता है।

वल्लभाचार्य—उस सम्बन्धमें भी आज्ञा दीजिये, नाथ?

स्वरूप—उसके लिये तुम अपने सम्प्रदायके द्वारा भक्तिमार्गका प्रवर्तन करो।

वल्लभाचार्य—वह तो प्रभो! मेरी इच्छा थी ही और मैंने उसे आरम्भ भी कर दिया है।

स्वरूप—तुम उसे और आगे बढ़ाओ। इसीलिये मैं उस व्रजमें, जिसमें भागवतकार व्यासके कथनानुसार ज्ञान और वैराग्य वृद्ध हो गये हैं और उनकी माता भक्ति तरुण, गोवर्धन पर्वतपर गोवर्धननाथके रूपमें प्रकट होना चाहता हूँ।

वल्लभाचार्य—(गद्गद स्वरमें) इससे अधिक आनन्द एवं उल्लासकी और कौन बात हो सकती है, नाथ?

स्वरूप—तुम्हारे आविर्भावका काल समीप जान गोवर्धन-

पर पहले मैंने अपनी भुजा प्रकट की । फिर जिस दिन तुम अवतीर्ण हुए, उसी दिन मैंने अपना मुख प्रकट किया, अब मैं सम्पूर्णरूपसे प्रकट होना चाहता हूँ ।

वल्लभाचार्य—(उसी प्रकारके गद्गद स्वरमें) इस प्राकट्यसे अधिक संसारके लिये और कौन-सी कल्याणकारी बात हो सकती है !

स्वरूप—तुम अपनी इस पृथ्वी-परिक्रमाको कुछ काल-के लिये स्थगित करो और सीधे व्रजमें गोवर्धनपर पहुँचो । सद्दू पाण्डेकी गाय धूसरने सर्वप्रथम गोवर्धनपर मेरा पता पाकर अपना दुग्ध अपने-आप मेरे लिये स्रवण करना आरम्भ किया, उसकी कन्या नरो तथा अन्य व्रजवासियोंको मेरा पता लगा । यहाँ मैं देवदमन, इन्द्रदमन और नागदमनके नामसे प्रसिद्ध हो गया हूँ ।

वल्लभाचार्य—धन्य भाग्य उस गोमाताका, उस सद्दू पाण्डेका, उसकी कन्या और व्रजवासियोंका !

स्वरूप—गोवर्धन आकर तुम मेरा प्राकट्य करा मुझे पाट बैठाओ और मेरी सेवाकी समस्त व्यवस्था करो ।

[एकाएक पीछेकी दीवालका यह सारा दृश्य विलुप्त हो जाता है । वल्लभाचार्य हड़बड़ाकर अपनी शय्यासे उठते हैं । उसी समय नेपथ्यसे एक गीतकी ध्वनि आती है । वल्लभाचार्य शय्या त्यागकर खड़े होते हैं और अत्यन्त भावपूर्ण मुद्रासे इस गीतको सुनते हैं । अब वल्लभाचार्य नीचेके अङ्गमें धोती धारण किये हुए हैं । दीपकके मन्द प्रकाशमें भी एक अद्भुत प्रकारका आनन्द और उल्लास उनके मुखपर दृष्टिगोचर होता है ।]

चकई री चलु चरण सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग ।
जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ सो सायर रस जोग ॥
जहाँ सनक सिव हंस मीन मुनि नख रवि प्रभा प्रकास ।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि डर गुंजत निगम सुवास॥

(लघुयवनिका)

दूसरा दृश्य

स्थान—झारखण्डमें वल्लभाचार्यके झोपड़ेके निकटका मैदान ।

समय—प्रातःकाल ।

[एक ओर दूरपर झोपड़ेके बाहरी भागका कुछ अंश दिखायी देता है । मैदानमें पलासके वृक्षोंकी बहुलायत है, उनमें वसन्तके कारण पत्ते न होकर केसरी रंगके फूल-ही-फूल हैं । पलासके इस मैदानमें दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन, वासुदेवदास छकड़ा, माधोभट्ट काश्मीरी और जादवेन्द्रदास कुम्हार बैठे हुए होली गा रहे हैं । पाँचों युवक हैं । वासुदेवदास छकड़ाको छोड़ शेष चारों गेहुएँ वर्ण और साधारण शरीरके हैं । वासुदेवदास छकड़ा खूब ऊँचा, पूरा और मोटा-ताजा व्यक्ति है । सभी नीचेके शरीरपर धोती और ऊपरके शरीरपर बगलबंदी धारण किये हुए हैं ।]

बृजमें हरि होरि मचाई ।
इततें आई सुघर राधिका उत तें कुँअर कन्हाई ।
हिलि मिलि फाग परस्पर खेलैं सोभा बरनि न जाई ॥
नंद-घर बजत बधाई ॥ १ ॥ बृज०
बाजत ताल मृदंग बाँसुरी बीना ढफ सहनाई ।
उड़त अबीर गुलाल कुमकुमा, रह्यो सकल बृज छाई ॥
मानो मघवा झर लाई ॥ २ ॥ बृज०
ले ले रंग कनक पिचकारी सम्मुख सबै चलाई ।
छिरकत रंग अंग सब भीजै झुक-झुक चाचर गाई ॥
परस्पर लोग लुगाई ॥ ३ ॥ बृज०
राधाने सैन दई सखियनको, झुंड-झुंड घिरि आई ।
लपट झपट गई स्यामसुँदर सौं, परवस पकड़ लै आई ॥
लालजीको नाच नचाई ॥ ४ ॥ बृज०
छीन लई मुरली पीताम्बर सिर तें चुनरि उढ़ाई ।
बेनी भाल नयन बिच काजर नकबेसर पहराई ॥
मानो नई नार बनाई ॥ ५ ॥ बृज०
मुसकत हो मुख मोड़-मोड़ कै कहाँ गई चतुराई ।
कहाँ गये तेरे तात नंदजी, कहाँ जसोदा माई ॥
तुम्हें अब ले न छुड़ाई ॥ ६ ॥ बृज०
फगुआ दिये बिन जान न पाओ कोटिक करो उपाई ।
लैहूँ काढ़ कसर सब दिनकी, तुम चितचोर कन्हाई ॥
बहुत दधि माखन खाई ॥ ७ ॥ बृज०
रास बिलास करत बृंदावन जहाँ तहाँ जदुराई ।
राधा स्याम जुगल जोरी पर दास सबै बलि जाई ॥
प्रीति उर रही समाई ॥ ८ ॥ बृज०

कृष्णदास मेघन—(गीत पूर्ण होनेपर वासुदेवदास छकड़ासे) कहो छकड़ा ! तुम्हें तो अब भूख लग ही आयी होगी !

वासुदेवदास छकड़ा—भूख तो मुझे सदा बनी ही रहती है ।

माधोभट्ट काश्मीरी—इतना अधिक खानेपर भी ?

वासुदेवदास छकड़ा—यह तो अपनी-अपनी पाचन-

शक्तिका विषय है। फिर मैं शरीरसे कितना काम करता हूँ! तुम तो बैठे-बैठे लिखा करते हो। जब कभी अधिक चलनेका काम पड़ जाता है, तब तुम्हारा मुख देखने योग्य होता है!

दामोदरदास हरसानी—हाँ, भाई! इतना तो मानना ही होगा कि यह छकड़ा, जितना बोझ छकड़ा ढो सकता है, उतना ढोता है।

जादवेन्द्रदास कुम्हार—और छकड़ेके दो बैल मिलकर भी जितना नहीं खा सकते, उतना यह अकेला खा भी जाता है।

वासुदेवदास छकड़ा—देखो, भाई! इस सम्बन्धमें बात न किया करो। तुममेंसे किसीकी भी यदि मेरे खानेपर नजर लग गयी तो मेरी भूख बंद हो जायगी। यदि भूख बंद हुई तो खा न सकूँगा। यदि खा न सका तो इतना बोझ लेकर चल न सकूँगा और यदि मैं न चल सका तो यह पृथ्वी-परिक्रमा समाप्त हो जायगी।

दामोदरदास हरसानी—पृथ्वी-परिक्रमा क्यों समाप्त हो जायगी? यदि मनुष्यका छकड़ा साथ न रहा तो बैलोंका छकड़ा साथ हो जायगा।

वासुदेवदास छकड़ा—पर जहाँ मनुष्यका छकड़ा चलता है, वहाँ कभी बैलोंका छकड़ा चल सकता है? कैसे-कैसे बीहड़ मार्गोंसे चलते हुए यह पृथ्वी-परिक्रमा हो रही है।

कृष्णदास मेघन—हाँ, इसमें तो संदेह नहीं।

दामोदरदास हरसानी—और देखो तो! इस पृथ्वी-परिक्रमाके लिये हम पाँचोंका कैसा समुदाय इकठा हुआ है और कैसा हमारा भाग्य चमका है!

कृष्णदास मेघन—हाँ, वासुदेवदास छकड़ा सारा शारीरिक कार्य करते हैं। माधोभट्ट काश्मीरी समस्त बौद्धिक कार्य, लेखक ठहरे न! भोजनमें भोज्य-पदार्थोंके पश्चात् सबसे अधिक आवश्यक पात्र होते हैं, वे नित नये बनाते हैं जादवेन्द्रदास कुम्हार! और हरसानीजी आप तथा मैं·······

वासुदेवदास छकड़ा—(बीचहीमें) दोनों सर्वथा निरर्थक!

दामोदरदास हरसानी और कृष्णदास मेघन (हँसते हुए एक साथ) ऐसा!

वासुदेवदास छकड़ा—इसमें भी कोई संदेह है! आप दोनोंका काम ही क्या है?

जादवेन्द्रदास कुम्हार—महाप्रभुके संग रहना क्या छोटा काम है?

माधोभट्ट काश्मीरी—फिर हरसानीजीको तो महाप्रभुने कितना सुन्दर नाम दिया है·····दमला! और महाप्रभु कहते हैं कि पुष्टि-सम्प्रदायका यह मार्ग ही उन्होंने दमलाके लिये प्रकट किया है।

दामोदरदास हरसानी—यह तो महाप्रभुकी कृपा, उदारता और महानता है।

कृष्णदास मेघन—हाँ, ऐसे कृपालु, उदार और महान् इस विश्वमें कौन हैं?

दामोदरदास हरसानी—वर्तमान कालमें ही नहीं; भूतकाल-में भी संसारमें कौन ऐसे कृपालु, उदार और महान् हुए?

जादवेन्द्रदास कुम्हार—और भविष्यमें भी कोई होनेवाले नहीं हैं।

माधोभट्ट काश्मीरी—फिर कितना सादा जीवन है उनका!

वासुदेवदास छकड़ा—बिना पदत्राणोंके कठिन-से-कठिन पर्वत-पर्थोंतकको पार करना।

जादवेन्द्रदास कुम्हार—हर प्रकारकी ऋतुमें एक धोती और एक उपरना।

कृष्णदास मेघन—थोड़ा-सा प्रसादी भोजन।

दामोदरदास हरसानी—पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं अवतीर्ण हुए हैं।

माधोभट्ट काश्मीरी—और इस सादगीके साथ महान् विद्वत्ता।

कृष्णदास मेघन—और विद्वत्ताके सङ्ग असीम भगवत्प्रेम!

जादवेन्द्रदास कुम्हार—और भगवत्प्रेमके साथ अपूर्व भक्तवत्सलता!

दामोदरदास हरसानी—इसी··इसी कारण तो हम साथी ही उनपर मुग्ध नहीं हैं, परंतु जहाँ पधारते हैं, सारा जनसमुदाय मुग्ध होकर बावरा-सा हो जाता है।

वासुदेवदास छकड़ा—हाँ, दर्शन पाते ही आबालयुवा-वृद्ध नर-नारी सब बावरे हो जाते हैं!

[वल्लभाचार्यका प्रवेश]

वल्लभाचार्य—साथियो! हमारी पृथ्वी-परिक्रमा स्थगित हो गयी।

दामोदरदास हरसानी—(आश्चर्यसे) स्थगित हो गयी?

कृष्णदास मेघन—(आश्चर्यसे) पृथ्वी-परिक्रमा स्थगित हो गयी!

दामोदरदास हरसानी–यह क्यों ''यह क्यों, महाप्रभु !

वल्लभाचार्य–दमला ! स्वप्नमें भगवदादेश हुआ है—पृथ्वी-परिक्रमा स्थगित कर व्रजमण्डलमें गोवर्धनपर आनेका।

माधोभट्ट काश्मीरी–(उत्सुकतासे) भगवदादेश, महाप्रभु !

वल्लभाचार्य–हाँ, भगवदादेश।

दामोदरदास हरसानी–प्रयोजन !

वल्लभाचार्य–गोवर्धनपर भगवान् स्वयं श्रीगोवर्धननाथजीके स्वरूपमें प्रकट हो रहे हैं।

पाँचों–(आनन्दातिरेकसे एक साथ) ऐसा, महाप्रभु !

वल्लभाचार्य–हाँ, साथियो ! मुझे आदेश हुआ है—गोवर्धनपर जाकर गोवर्धननाथजीके प्रकट कराने, उनके पाट बैठाने और उनकी सेवाकी व्यवस्था करनेका।

पाँचों–(उसी मुद्रामें फिर एक साथ) धन्य है, धन्य है, महाप्रभु !

वासुदेवदास छकड़ा–और हम सब धन्य नहीं हैं !

माधोभट्ट काश्मीरी–सारा संसार इससे धन्य हो जायगा।

[वल्लभाचार्य आनन्दातिरेकके कारण स्वयं गाते हैं, जिसे उनके पाँचों साथी दुहराते हैं।]

जो पै चोंप मिलनकी होय।
तो क्यों रह्यो परौ बिनु देखे लाख करो किन कोय॥
जो पै बिरह परस्पर ब्यापै तौ कछु जिये बनै।
लोक-लाज कुलकी मर्जादा एको चित न गनै॥
कुम्भनदास जाहि तन लागी और न कछू सुहाय।
गिरधरलाल तोहि बिनु देखे पल छिन कल्प बिहाय॥

(लघुयवनिका)

तीसरा दृश्य

स्थान–गोवर्धनपर्वतपर श्रीनाथजीका मन्दिर।

समय–प्रातःकाल।

[पीछेकी ओर गोवर्धनपर्वतका कुछ भाग दिखायी पड़ता है। उसके आगे श्रीनाथजीके मन्दिरका कुछ हिस्सा दृष्टिगोचर होता है। मन्दिरके बाहर खुली जगह है, जिसमें मन्दिरके निकटकी जगहका थोड़ा-सा भाग रिक्त है, इसके आगेकी जगहमें मन्दिरकी ओर मुख किये दर्शनार्थियोंका एक समुदाय एकत्रित है। इनमें नर और नारियाँ दोनों हैं। श्रीनाथजीके मन्दिरके पट इस समय बंद हैं। दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन, माधोभट्ट काश्मीरी, वासुदेवदास छकड़ा तथा जादवेन्द्रदास कुम्हार आते हैं और दर्शनार्थियोंका जो जनसमुदाय एकत्रित है, उसींमें बैठ जाते हैं। इनके बाद सद्दू पाँड़े आते हैं। सद्दू पाँडे अत्यन्त वृद्धावस्था और गेहुँए वर्णके ऊँचे पूरे व्यक्ति हैं, परंतु शरीर दुर्बल हो गया है। नीचेके शरीरपर धोती और ऊपरके शरीरपर बगलबंदी पहने हैं, उत्तरीय सिरपर बाँधे हैं। ललाटपर मोटा वल्लभसम्प्रदायका कुमकुमका लाल तिलक है, जिसके बीचमें गोपीचन्दनके श्वेत छापे हैं।]

सद्दू पाँडे–(मन्दिरके सामने जो स्थान रिक्त है, उसमें इस प्रकार आड़े ढंगसे खड़े हो, जिससे मन्दिरकी ओर पीठ भी नहीं होती और जनसमुदायको वे तथा जनसमुदाय उन्हें देख सकता है) व्रजवासिनको, भइया हो, बड़ो भाग है। नन्दनन्दनकों या व्रजभूमि ऐसी प्रिय हती कि उनने कह्यो हतो 'व्रज तज अनत न जाहि हौं' सो भइया हो, नन्दनन्दन तो सदा याही ठौर रहत रहे। अब वे श्रीनाथजीके स्वरूपमें प्रगट भये हैं। तुम सब जानत हो संवत् १४६६ की सावन सुदी ५ को मोकूँ सर्वप्रथम श्रीनाथजीकी ऊर्ध्व भुजाके दर्शन भये हते। ये दर्शन भये हते मेरी धूसर गौकी कृपा सों। या दर्शनके पाछे मैं आन्योरगाँवके वृद्ध जननको वा ठौर ले गयो, जहाँ श्रीनाथजीकी ऊर्ध्व भुजा प्रकटी हती। फेर हम सबनने दुग्ध सों वा भुजाके स्नान कराये और हम सब या निर्णयपर पहुँचे कि यो वोही देव है जाने द्वापरमें गिरिराजको अँगुरीपर धार या बूड़त व्रज और बूड़त व्रजवासिनकी रच्छा करी हती। फेर संवत् १५३५के बैसाख कृष्ण एकादशीको हम सबनकौ श्रीनाथजीने स्वतः मुखारविन्दके दर्शन दये। ता पाछे यहाँ स्वामी माधवानन्दजी महाराज पधारे और उनहूँने बहुत दिनाँतक कन्दरामें ही स्थित श्रीनाथजीकी सेवा कीनी। या संवत् १५४९में जब पृथ्वी-परिक्रमा करत करत श्रीआचार्यजी महाप्रभु झारखण्ड पहुँचे, तब फाल्गुन सुदी एकादशीको श्रीनाथजीने श्रीआचार्यजी महाप्रभुनकों स्वप्नमें दर्शन दे यह आज्ञा दई कि वे गोवर्धन आयके श्रीनाथजीको सगरो स्वरूप प्रकटाय उन्हें यहाँ पाट बैठायें। भइया हो, आज हम व्रजवासिनको अहौभाग्य कि श्रीनाथजी पाट बैठे हैं और नन्दनन्दनके व्रजमें पुनः प्रकट होइबे पै वैसो ही नन्दमहोत्सव यहाँ होयगो जैसो द्वापरमें गोकुलमें भयो हतो। भोग सरि रहे हैं अब प्रथम कुम्भनदासजी कीर्तन करिहैंगे जिन्हें श्रीआचार्यजी महाप्रभुने श्रीनाथजीके प्रथम कीर्तनियाँ नियुक्त करे हैं।

[सद्दू पाँडेका प्रस्थान और कुम्भनदासजी तथा उनके साथके

कुछ वाद्य-वादकोंके संग पुनः प्रवेश । कुम्भनदासजी अधेड़ अवस्थाके कुछ साँवले रंगके ऊँचे पूरे किंतु दुबले शरीरके व्यक्ति हैं । वेशभूषा सद्दू पाँडेके सदृश । मन्दिरके सम्मुखके रिक्त स्थानके एक ओर कुम्भनदासजी तँबूरा लेकर बैठते हैं । उनके साथी वाद्य-वादक उनके पीछे बैठते हैं । सद्दू पाँडे जनसमुदायमें बैठ जाते हैं । कुम्भनदासजी कीर्तन आरम्भ करते हैं । कुम्भनदासजीके कीर्तनका प्रथम शब्द उच्चारित होते ही श्रीनाथजीके मन्दिरके पट खुलते हैं और श्रीनाथजीके दर्शन होते हैं । श्रीनाथजीका वही स्वरूप है, जो इस समय श्रीनाथद्वारेमें प्रतिष्ठित है । श्रीनाथजीके वस्त्र केशरी रंगके हैं । सारे आभूषण गुंजाके हैं । सिरपर मोरपंख है । श्रीनाथजीकी मूर्तिके सम्मुख एक छोटा-सा काष्ठका पालना है, जिसमें श्रीनाथजीकी गोदके ठाकुरजी झूल रहे हैं । इस पालनेके दोनों ओर नन्दराय और यशोदाके वेषमें दो वैष्णव बैठे हुए पालना झुला रहे हैं । वल्लभाचार्यजी खड़े हुए पंखा झल रहे हैं ।]

जनसमुदाय–श्रीगोवर्धननाथकी जय । महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी जय ।

[बार-बार उच्च स्वरसे जयघोष होता है ।]

भयो सुत नन्द कें चलो ब्रजजन सबै ।
होत मंगल, सकल जगत कौ तिमिर मिटि गयो,
तन कौ त्रिविध ताप सुन्यौ काननि जबै ॥
उड़त नवनीत, दूध, दधि, हरद, तेल,
बहि चली आतुर सिंधु सरिता सबै ॥
'दास कुंभन' प्रगट गिरिवरधरन
यहै सुख कोउ दिन भयो नाहीं कबै ॥

[वृजनारियाँ सुन्दर श्रृंगार किये हुए हाथोंमें थाल लिये श्रीनन्दरायजीको बधाई देने आती हैं । इस समय कीर्त्तन हो रहा है ।]

जुर चली हैं बधावन नंद महर घर सुंदर ब्रजकी बाला ।
कंचन थार हार चंचल छबि कहि न परत तिहि काला ॥
डहडेह मुख कुमकुम रँग रंजित राजत रसके ऐना ।
कंजनपर खेलत मानो खंजन, अंजन जुत बने नैना ॥
दमकत कंठ पदिक मनि कुंडल नवल प्रेम रँग बोरी ।
आतुर गति मानो चंद उदै भये, धावत लिखित चकोरी ॥
खसि खसि परत सुमन सीसनते, उपमा कहा बखानौं ।
चरन चलन पर रीझि चिकुरबर, बरखत फूलन मानौं ॥
गावत गीत पुनीत करत जग, जसुमति मंदिर आई ।
बदन बिलौकि बलैयौं लै लै, देत असीस सुहाई ॥
मंगल कलस निकट दीपावलि ठाँय ठाँय देख मन भूल्यो ।
मानौं आगम नंद सुवनके सुवन फूल बृज फूल्यो ॥

[इन्हीं व्रजनारियोंके साथ व्रजके गोप-ग्वाल काँवरोंमें हरदी-मिश्रित दधिसे भरे हुए मटके ले-लेकर आते हैं और हाथमें दूब भी लाते हैं । नन्दरायजीको दहीका टीका करके दूब बधाई स्वरूप भेंट करते हैं । फिर आपसमें दही छिड़कते हैं । नन्द-यशोदा सबको बधाईमें वस्त्र आदि बाँटते हैं । तदनन्तर व्रजाङ्गनाएँ और ग्वाल आपसमें झूमर खेलते हैं और खूब नाचते हैं । इस समय गान होता है ।]

सब ग्वाल नाचैं गोपी गावैं । प्रेम मगन कछु कहत न आवैं ॥
हमारे राय घर ढोटा जायो । सुनि सब लोग बधाये आयो ॥
दूध दही घृत काँवरि ढोरी । तंदुल दूब अलंकृत रारी ॥
हरद दूध दधि छिरकत अंगा । लसत पीत पट बसन सुरंगा ॥
ताल पखावज दुंदुभि ढोला । हँसत परस्पर करत कलोला ॥
अजिर पंक गुल्फन चढ़ि आये । रपटत फिरत पग न ठहराये ॥
बारि बारि पट भूषण दीने । लटकत फिरत महारस भीने ॥
सुधि न परे को काकी नारी । हँसि हँसि देत परस्पर तारी ॥
सुर विमान सब कौतुक भूले । मुदित त्रिलोक विमोहित फूले ॥

[इतनेमें ही ढाढी अपनी ढाढिनको लिये हुए आते हैं और नन्दरायजीके वंशका बखान करते हुए बधाई माँगते हैं तथा नृत्य-गान करते हैं ।]

हौ बृज माँगनो जू बृज तज अनत न जाऊँ ।
बडडे भूपति भूतल महिमा दाता सूर सुजान ॥
कर न पसारौं सोस न नाऊँ, या बृज के अभिमान ॥
सुरपति नरपति नाग लोकपति, मेरे रंक समान ।
भाँति भाँति मेरी आसा पूजी, ये बृज जन जिजमान ॥
मैं व्रत करि करि देव मनाये, अपनी घरनि सपूत ।
दियो बिधाता सब सुखदाता, गोकुलपतिके पूत ॥
हौं अपनौ मनभावो लैहौं, कित बौरावत बात ।
औरन को धन घन ज्यों बरखत मो देखत हँसि जात ॥
अष्ट सिद्धि नव निधि मेरे मंदिर तुव प्रताप बृज ईस ।
कहत कल्यान मुकुंद लाल की कमल धरो मम सीस ॥

[इसी उत्सवके बीच शिवजी श्रीकृष्णके दर्शनार्थ पधारते हैं । उनका डरावना रूप देखकर यशोदा अपने अंचलसे श्रीनाथजी और पालनेके ठाकुरको छिपा लेती हैं । शिवजी गाते हैं ।]

बाला मैं जोगी जस गाया ।
धन्य जसोमति तेरे तन का जिन ऐसा सुत जाया ॥
गुनन बड़ा छोटा जिन जानौ, अलख पुरुष घर आया ।
जाको ध्यान धरत हैं मुनि जन निगम खोज नहिं पाया ॥

[शिवका गान सुनकर यशोदा कहती हैं—]

जो चाहो सो लीजिये राउर करौं आपनी दाया।
देहु असीस मेरे या सुत को बाढ़े अविचल काया॥
[शिव कहते हैं—]
ना हौं लैहौं पाट पटंबर, ना लैहौं कंचन माया।
अपने सुत के दरस दिखावो जो मोय गुरुने बताया॥
[यह सुनकर यशोदा विनय करती हैं—]
विनती करत हो हाथ जोड़ मैं सुन योगिन के राया।
देखन न देहूँ तोहि दिगंबर, बालक जात दिठाया॥
[शिव आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं—]
जाकी दृष्टि सकल जग ऊपर सो क्यों जाय दिठाया।
अलख पुरुष है मेरा स्वामी सो तैंने भवन छिपाया॥

[अन्तमें यशोदा अपना आँचल हटा शिवको श्रीनाथजी और पलनेके ठाकुरजीके दर्शन कराती हैं। शिव शृंगीनाद करते हैं और सब जाते हैं। अब वल्लभाचार्य आरती करते हैं। आरतीके समय गान होता है।]

रानी तेरो चिर जीयो गोपाल।
बेगि बढ़ो बड़ होय विरह लट महरि मनोहर बाल॥
उपजि पर्‌यो यह कूखि भाग्यबल समुद्र सीप जैसे लाल।
सब गोकुल के प्रान जीवन धन, बैरिन के उर साल॥
नाथ कितो जिय सुख पावत है, निरखत स्याम तमाल।
रज आरज लाग्यो मेरी अँखियन, रोग दोष जंजाल॥
रानी तेरो० ॥

(यवनिका)

तीसरा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—गोकुलमें ठकुरानीघाटपर वल्लभाचार्यकी बैठकका शयनागार।

समय—रात्रिका तीसरा पहर।

[शयनागारमें दीपकका मन्द प्रकाश है, जिससे शयनागार और उसकी कुछ वस्तुएँ दीख पड़ती हैं। शयनागारके तीन ओरकी भित्तियाँ स्वच्छ पुती हुई हैं, एक ओर एक चारपाईपर वल्लभाचार्य निद्रामग्न, उन्हींके निकट भूमिपर दामोदरदास हरसानी सो रहे हैं। पीछेकी भित्तिपर एकाएक प्रकाश फैलता है, उस प्रकाशमें श्रीनाथजीका स्वरूप दिखायी देता है। इसके सामने हाथ जोड़े नतमस्तक वल्लभाचार्य दीख पड़ते हैं। स्वरूप बोलता है।]

स्वरूप—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सूत्रके अनुसार समस्त सृष्टिमें मेरे दर्शनके अनन्तर ब्रह्मवाद सिद्धान्तका वल्लभ! तुमने प्रस्थापन कर अपने शुद्धाद्वैतवाले पुष्टिमार्गीय सम्प्रदायको विद्वान् दार्शनिकोंके मनमें प्रतिष्ठित कर दिया और मुझसे बिछुड़े जीवके लिये मुझे पुनः प्राप्त करनेका सरल मार्ग भक्ति ही है, यह भी सिद्ध कर दिया। वह भक्ति यदि साकारकी हो तो यह भक्तिमार्ग और सरल हो जाता है, यह भी तुमने प्रियवल्लभ! प्रतिपादित किया तथा उस सगुण भक्तिके लिये मेरे आदेशानुसार गोवर्धनपर आ मुझे तुमने पाट भी बैठाया। परंतु वल्लभ! अब और आगे बढ़ना है।

वल्लभाचार्य—क्यों प्रभो! क्या गोवर्धनपर आपकी सेवामें कोई त्रुटि हो रही है?

स्वरूप—नहीं, नहीं। मेरी सेवा सब प्रकारसे साङ्गोपाङ्ग है।

वल्लभाचार्य—तब, नाथ!

स्वरूप—तुम्हारे सम्प्रदायके 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मन्त्रका अर्थ तो जीवका मेरे शरण आना ही है न!

वल्लभाचार्य—अवश्य।

स्वरूप—तो प्रिय वल्लभ! इस शरणकी और विशद व्याख्या आवश्यक है।

वल्लभाचार्य—अर्थात्।

स्वरूप—अर्थात्, यह कि मेरी लीलाके लिये जो यह जगत् है और जिसे तुम सत्य कहते हो, उस जगत्में मेरी ही मायासे व्याप्त मेरा ही अंश यह जीव अपना और अपनेसे सम्बन्धित समस्त वस्तुओंका 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत्' उक्तिके अनुसार मुझे ही समर्पित कर भगवद्गीताके सिद्धान्तोंके अनुसार आचरण करे। इसके लिये 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मन्त्रके आगे एक और विशद व्याख्यावाले आत्मनिवेदनके मन्त्रकी आवश्यकता है। (कुछ रुककर) और ········ और इसीके साथ एक और आवश्यकता है।

वल्लभाचार्य—वह क्या, प्रभो!

स्वरूप—मेरी लीलाके लिये जो यह सृष्टि है, इसमें कोई ऊँचा और कोई नीचा नहीं। खेलके लिये नाना प्रकारकी जड और चेतन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। सृष्टिकी सर्वश्रेष्ठ रचना मानव है। मानवोंमें यह जीव पुरुषके रूपमें, नारीके रूपमें आता है और जाता है। अलग-अलग खेलके

लिये भिन्न-भिन्न वर्णों और रूपोंमें उत्पन्न होता है । अतः मानवोंमें जो पुरुषोंका ऊँचा और नारियोंका नीचा स्थान माना जाता है, कुछ वर्णोंका ऊँचा और कुछ वर्णोंका नीचा स्थान समझा जाता है और नारियाँ तथा जो वर्ण नीचे माने जाते हैं, उन्हें जो वेदोंके अधिकारसे वञ्चित रक्खा गया है, यह भेदभाव तुम्हारी दीक्षाओंमें नहीं रहना चाहिये ।

[पीछेकी दीवालका सारा दृश्य लुप्त हो जाता है । चारपाईपर लेटे हुए वल्लभाचार्य हड़बड़ाकर उठते हैं और आँखें मलते हुए पासमें सोये हुए दामोदरदास हरसानीको कहते हैं ।]

वल्लभाचार्य–दमला.....दमला !

दामोदरदास हरसानी–(हड़बड़ाकर उठते हुए) महाप्रभु !

वल्लभाचार्य–कुछ सुना ?

दामोदरदास हरसानी–हाँ, महाप्रभु ! नींदमें ही कानमें कुछ भनक पड़ी ।

वल्लभाचार्य–कैसी ?

दामोदरदास हरसानी–आपका किसीसे कोई संवाद हो रहा था !

वल्लभाचार्य–किससे ?

दामोदरदास हरसानी–सो नहीं कह सकता !

वल्लभाचार्य–किस विषयपर ?

दामोदरदास हरसानी–यह भी नहीं समझा ।

वल्लभाचार्य–केवल भनक पड़ी, किससे संवाद हुआ और क्या, यह पता नहीं ?

दामोदरदास हरसानी–हाँ, कृपानाथ ! केवल कुछ सुना, परंतु समझा नहीं ।

वल्लभाचार्य–जैसी आज्ञा झारखण्डमें श्रीनाथजीने गोवर्धन आकर अपने स्वरूपको प्रकटा पाट बिठानेकी दी थी, वैसी ही दूसरी आज्ञा हुई 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मन्त्रकी विशद और व्यापक व्याख्या करनेके लिये आत्मनिवेदनके मन्त्रकी ।

दामोदरदास हरसानी–धन्य हैं, आप महाप्रभु ! और आपके कारण धन्य हो जायगी यह समस्त सृष्टि ।

वल्लभाचार्य–और.....और, दमला ! एक आज्ञा और हुई है !

दामोदरदास हरसानी–वह कौन-सी नाथ !

वल्लभाचार्य–मानव-मानवमें कोई विभेद न रखनेकी । पुरुषों और स्त्रियों तथा समस्त वर्णोंको समान अधिकार देनेकी ।

दामोदरदास हरसानी–मैंने कहा न, कृपानाथ ! यह समस्त सृष्टि आपके कारण धन्य हो जायगी । आजतक किस आचार्यने भेदरहित समान दीक्षाका प्रतिपादन किया था ?

वल्लभाचार्य–परंतु, दमला ! मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवद्-आज्ञासे ।

दामोदरदास हरसानी–यही तो इस सोनेमें सुगन्धका कारण है ।

वल्लभाचार्य–अब मैं इस आत्मनिवेदनके मन्त्रका निर्माण करूँगा, इसका नाम होगा ब्रह्मसम्बन्धमन्त्र और जानते हो इसकी दीक्षा सर्वप्रथम किसे दी जायगी ?

दामोदरदास हरसानी–कौन वह बड़भागी है, महाप्रभु !

वल्लभाचार्य–किसी उच्चवर्णके ब्राह्मणको नहीं ।

दामोदरदास हरसानी–तब ?

वल्लभाचार्य–तुम्हें दूँगा, तुम्हें ! श्रीनाथजीके सांनिध्यमें ।

दामोदरदास हरसानी–(गद्गद स्वरसे) मैं.....मैं ऐसा भाग्यशाली !

वल्लभाचार्य—मैंने अनेक बार कहा नहीं दमला ! यह पुष्टिमार्ग मैंने तेरे लिये प्रकट किया है ।

[नेपथ्यमें गानकी ध्वनि आती है ।]

वल्लभाचार्य–उषःकाल हो रहा है, ये नये कीर्तनियाँ सूरका स्वर है ।

दामोदरदास हरसानी—इस सूरमें तो विलक्षण प्रतिभा है, कृपानाथ !

वल्लभाचार्य—क्या पूछना है । (कुछ कहकर) सुनो, थोड़ा ध्यानसे सुनो, सूर क्या गा रहे हैं ?

[नेपथ्यका गान स्पष्ट होता है]

भज सखि भाव भाविक देव ।
कोटि साधन करौ कोऊ, तौउ न मानै सेव ॥
धूमकेतु कुमार माँग्यो कौन मारग नीति ।
पुरुष तैं त्रिय भाव उपज्यो, सबै उल्टी रीति ॥
बसन भूषन पलट पहरे, भाव सौं संजोय ।
उलट मुद्रा दई अंकन, बरन सूधे होय ॥
बेद बिधि को नैम नाहीं, प्रीति की पहचान ।
ब्रज बधू बस किये मोहन, सूर चतुर सुजान ॥
भज सखि ॥

(लघुयवनिका)

दूसरा दृश्य

स्थान—गोवर्धनपर्वतपर श्रीनाथजीका मन्दिर।

समय—प्रातःकाल।

[दृश्य वैसा ही है, जैसा दूसरे अङ्कका तीसरा दृश्य था। श्रीनाथजीके मन्दिरके पट इस समय बंद हैं। दृश्य खुलते ही पट खुलते हैं और श्रीनाथजीके दर्शन होते हैं। श्रीनाथजीके स्वरूपका वैसा ही गुंजा और मोरपंखका शृङ्गार है जैसा दूसरे अङ्कके तीसरे दृश्यमें था। पट खुलते ही वल्लभाचार्य और दामोदरदास हरसानी आते हैं और श्रीनाथजीको दण्डवत् करते हैं। इसके पश्चात् वल्लभाचार्य दामोदरदास हरसानीको संकेतसे हाथ धोनेकी आज्ञा देते हैं। हरसानीके हाथ धोनेके पश्चात् वल्लभाचार्य उन्हें बैठनेका संकेत करते हैं। हरसानी बैठ जाते हैं। हरसानीके बैठनेके पश्चात् वल्लभाचार्य उन्हें तुलसीदल हाथमें देते हैं और मन्त्र बोलते हैं, जिसे हरसानी दुहराते हैं। वल्लभाचार्यका स्वर धीमा होनेके कारण सुनायी नहीं देता, पर हरसानीका सुन पड़ता है।]

दामोदरदास हरसानी—अनन्त वर्षोंसे मैं आपसे विलग हूँ। इस विरहकी वेदनाके कारण जिस ताप और क्लेशका मुझे अनुभव होना चाहिये एवं आपके स्वरूप-प्राप्ति-सम्बन्धी जिस आनन्दका, इन दोनों अनुभवोंसे मैं वञ्चित हूँ। सांसारिक ताप और क्लेश तथा सांसारिक आनन्दसे मैं परिप्लावित हूँ; अतः सच्चे ताप एवं क्लेशकी और सच्चे आनन्दकी अनुभूतिके लिये हे भगवान् कृष्ण! मैं आपको देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण और इनके धर्म तथा स्त्री, गृह, पुत्र, अपने इष्ट-मित्र, सम्बन्धी एवं धन, इहलोक, परलोक, इन सबको अपनी आत्माके साथ समर्पित करता हूँ। हे प्रभो! मैं आपका दास हूँ, आपका हूँ, आपका हूँ, आपका हूँ।

(लघुयवनिका)

तीसरा दृश्य

स्थान—गोवर्धनपर्वतपर श्रीनाथजीका मन्दिर।

समय—रात्रि।

[दृश्य वैसा ही है, जैसा दूसरे अङ्कका तीसरा और इस अङ्कका दूसरा दृश्य था। मन्दिरके बाहरकी खुली जगहमें एक ओर सूरदास, परमानन्ददास, कुंभनदास और कृष्णदास कीर्तनियोंके रूपमें बैठे हैं। चारों प्रौढ़ हैं, वेश-भूषा चारोंकी एक-सी। ऊपरके अंगपर बगलबंदी, नीचेके अंगपर धोती, सिरपर व्रजवासियोंका छोटा टोपा और ललाटपर वल्लभसम्प्रदायका लाल कुमकुमाका तिलक, जिसके बीचमें गोपीचन्दनके श्वेत छापे। सूरदासजीके नेत्र बंद हैं। चारों कीर्तनियोंके पीछे उनके साथी वाद्य-वादक हैं। मन्दिरके निकटकी जगहका कुछ भाग छोड़ शेष भागमें मन्दिरकी ओर मुँह किये दर्शनार्थी बैठे हैं। इनमें नर-नारियाँ दोनों ही हैं। इन्हींमें दामोदरदास हरसानी, कृष्णदास मेघन, माधोभट्ट काश्मीरी, वासुदेवदास छकड़ा, यादवेन्द्रदास कुम्हार, सदू पाँड़े आदि भी हैं। श्रीनाथजीके मन्दिरके पट बंद हैं। आकाशमें पूर्णचन्द्र उदित है, जिसके प्रकाशसे सारा दृश्य आलोकित है। दृश्य खुलते ही मन्दिरके पट खुल श्रीनाथजीके दर्शन होते हैं। शरत्पूर्णिमा होनेके कारण श्रीनाथजीके वस्त्र श्वेत हैं। पट खुलते ही सूरदासजीका गान आरम्भ होता है और मन्दिरके सामनेकी खुली जगहमें रास।]

घोष नागरी मंडल मध्य नाचत गिरधारी लाल
 लेत गति अनेक भाँति चरन पटकनी।
गिडगिडता गिडगिडता ताता तत तत तत थेई
 थेई थेई बीच बीच अधर मधुर मुरलिका मटकनी॥
भुज सों भुज जोर जोर लेत तान नवकिसोर
 गावत श्रीराग मिल ग्रीव लहकिनी।
सूरदास प्रभु सुजान नंद नंदन कुँवर कान्ह
 मदन मोहन छबि निरखत काम सटकनी॥

[सूरदासके गानके पश्चात् परमानन्ददास, कुम्भनदास और कृष्णदासके गान होते हैं और इन गायकोंकी भावनाओंके अनुसार हावभावपूर्ण रास चलता रहता है।]

नर्तत मंडल मध्य नंदलाल।
मोर मुकुट मुरली पीताम्बर गुंज वनमाल॥
ताल मृदंग संगीत बजत, ततथेई बोलत बाल।
उरप तिरप तान लेत नटनागर गंधर्व गुनि रसाल॥
बाम भाग बृषभान नंदिनी गजगति मंद मराल।
परमानंद प्रभुकी छबि निरखत मेटत उरके साल॥

चलहु राधिके सुजान तेरे हित गुन निधान रास रच्यो कुँवर
 कान्ह तट कलिंद नंदिनी॥
नर्तत जुवती समूह रास रंग अति कौतूह बाजत रस मूल मुरलिका
 आनंदिनी॥
बंसी बट निकट जहाँ परम रमन भूमि तहाँ सकल सुखद बहत
 मलय वायु मंदिनी॥
जाती ईषद विकास कानन अतिशय सुवास, राका-निसि शरद
 मास विमल चाँदिनी॥
कुंभनदास प्रभु निहार लोचन भरि घोष नारि नख-शिख सौन्दर्य
 सीम दुख निकंदिनी॥

विकसो भुज ग्रीव मेलि भामिनी सुख सिंधु झेलि गोवर्द्धन धरन केलि जगत बंदिनी ॥

× × ×

रास बिलास रच्यो नागर नट ।
जुर मंडल नर्तत ब्रज बनिता, नवल निकुंज सुभग जमुनातट ॥
उपजत तान बँधान सप्त स्वर बाजत ताल मृदंग बीन रट ।
सनमुख ह्वै नाचत पिय प्यारी, लेत सुधंग चाल गति अटपट ॥
रसिक बिहार निरख ससि हारयो, सरद निसा भूल्यो अपनी अट ।
कृष्णदास गिरधर श्रीराधा, राजत मेघ मानौ दामिनि घट ॥

[चौथे गानके समाप्त होते ही रास बंद हो जाता है । फिर-से सूरदासजीका कीर्तन आरम्भ होता है और इस कीर्तनके अन्तिम चरणके गाये जाते समय वल्लभाचार्य आकर श्रीनाथजीकी आरती करते हैं—]

नटवर गति नृत्यत हैं, भक्तन उर परसत हैं,
पुलकित तन हरषत हैं, रासमें लाल विहारी ।
बाजत ताल मृदंग उपंग बाँसुरी बीना स्वर तरंग
ग्रग्रता ग्रग्रता थुंग थुंग लेत छंद भारी ॥
काटि काछिनी पीत सुरंग मोर मुकुट अति सुधंग
राख्यो अर्धभाग ललित सीस पेच सँवारी ॥
आरति बारत जसोदा माय लेत कंठ उर लगाय
देखत सुर नर मुनि और रामदास बलिहारी ॥

(यवनिका)

हमारा पतन

(लेखक— पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)

निःसंदेह इसमें किसीका भी मत-भेद न होगा कि छात्रोंमें दुराचारकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, यानी भावी भारत दुराचारी हो रहा है । दुराचार याने राष्ट्रका पतन ! किसी भी राष्ट्रका इतिहास देख लीजिये—सदाचारके बलपर अभ्युदय और दुराचारसे पतन दिखायी देगा । जो बात व्यक्तिके लिये है, वही राष्ट्रके लिये । व्यक्तियोंकी समष्टि ही तो राष्ट्र है न !

यों राष्ट्र पतनकी ओर जा रहा है और हम ढोल पीटकर विज्ञापन कर रहे हैं कि राष्ट्रकी उन्नति हो रही है ! बढ़िया सड़कें और विनोद-गृह हमें बचा न लेंगे, जब दुराचार जर्जरताकी स्थितिमें एक भी दुर्दैवका धक्का लग जायगा ! हमें ये चमचमाती बढ़िया सड़कें और जगमगाते भवन न बचा लेंगे । खतरेसे सावधान रहना ही राजनीति है ।

अनुशासनहीनता ?

परंतु आज हम दुराचारका निरोध कैसे हो, यह न सोचकर केवल 'अनुशासन-हीनता' की बात करते हैं ! लोग बड़े चिन्तित हैं कि छात्र अनुशासन-हीन होते जा रहे हैं ! मतलब इतना कि छात्र चाहे जो करें, हमें मतलब नहीं; केवल शिक्षा-संस्थाओंके संचालनमें गड़बड़ी न डालें और संचालकोंकी व्यवस्थामें बाधा न दें ! परंतु यह भूल जाते हैं कि अनुशासन भी सदाचारका एक अङ्ग है । यह नहीं हो सकता कि विविध दुराचारोंमें फँसे हुए छात्र अनुशासनका आदर करें । वे तभीतक अनुशासन मान सकते हैं, जबतक उनकी मौज-बहारमें कोई रुकावट न पैदा की जाय । किसी छात्रावासका व्यवस्थापक यदि आँखें दूसरी ओर कर देता है, तब तो ठीक; किंतु यदि उसने जरा भी बाधा दी तो उसकी खैर नहीं । यही हाल अध्यापकोंका और प्रधानाध्यापकोंका है । तब अनुशासन कैसे रहे ?

दुराचारके अनन्त रूप हैं । परीक्षाओंमें जो छल-बल चल रहा है और जिसके कारण कई कितने ही अध्यापक प्रतिवर्ष बुरी तरह अपमानित किये जाते हैं, वह भी एक दुराचार है; परंतु इस तरहके दुराचारोंका मूल कारण विलासिता है, जो सिनेमाओं और सह-शिक्षाके कुप्रभावका दुष्परिणाम है । अब एक और

चीज सामने आ रही है । प्रति वर्ष नई दिल्लीमें, देश भरसे, सहस्रोंकी संख्यामें प्रौढ़ छात्र-छात्राओंको इकट्ठा किया जाता है । ये सब साथ-साथ रहकर मौज करते हैं, आनन्द लेते हैं । खूब नृत्य-सङ्गीत चलता है । एक छात्राने एक छात्रको सार्वजनिक रूपसे केवल इसलिये धन्यवाद दिया कि उसकी नाकको इसने 'बहुत सुन्दर' कह दिया था । सन् १९५५ के जमघटका वर्णन करते हुए दिल्लीके एक प्रतिष्ठित समाचार-पत्रने लिखा था—'तालकटोरेपर इस समय जीवन थिरक रहा है । छात्राएँ अपने दकियानूसी माता-पिताओंकी आँखोंसे दूर हटकर यहाँ इस समय जीवनका प्रतिक्षण आनन्द ले रही हैं !' स्थितिकी कल्पना कीजिये ! ये छात्र-छात्राएँ हैं, जिनसे अनुशासनमें रहनेकी अपील नेतालोग अपने भाषणोंमें करते हैं ! आगमें मिट्टीका तेल उड़ेलते हैं और फिर कहते हैं कि आगको भड़कना न चाहिये ।

सो, गंदे उपन्यास, गंदे सिनेमा, सहशिक्षा और विशेषत: ये विलास-यात्राएँ छात्र-छात्राओंको कुमार्गकी ओर ले जाते हैं । ऐसे साँचेमें ढले छात्रोंको फिर अनुशासनमें रखना कैसे सम्भव है ? दूसरे देशोंकी पूरी-की-पूरी नकल हमें डुबो देगी, इसमें संदेह नहीं । यह भारतवर्ष है । यहाँकी अपनी परम्परा है, अपनी पद्धति है । उस पद्धतिका आधार संयम और सदाचार है । उसकी उपेक्षा करके आप अनुशासनमें छात्रोंको नहीं रख सकते ।

शिक्षकोंका प्रभाव

शिक्षा-संस्थाओंमें शिक्षकोंका भी कोई अच्छा प्रभाव छात्रोंपर नहीं पड़ता । यह बात अंग्रेजी राज्यके समयसे ही चली आ रही है कि नियुक्तिके समय केवल सार्टिफिकेट-डिप्लोमा देखे जाते हैं, 'पास' होनेकी श्रेणी देखी जाती है, पढ़ानेका अनुभव देखा जाता है और बस ! यह नहीं देखा जाता कि इसका आचरण कैसा है । प्रथम श्रेणीका एम्० ए० चाहिये, चाहे फिर वह कैसे भी आचरणका क्यों न हो ! कहते हैं—'हमें किसीके व्यक्तिगत जीवनसे क्या मतलब !' ऐसे शिक्षक छात्रोंको सदाचारी बनायेंगे ? ये लोग धनी-मानी लोगोंके लड़कों-को जान-बूझकर कुमार्गमें फँसाते हैं कि अपना भी काम बनेगा । मैं जानता हूँ—पचीस वर्षतक अध्यापन कार्य किया है—शराबी शिक्षकोंने न जाने कितने छात्रोंको शराबी बना दिया । इसके साथ सभी कुछ है । ऐसे शिक्षक 'पापुलर' कहलाते हैं ।

कौन बोले ? ये 'शिक्षक' भी इन्हीं भट्ठोंकी ईंटे हैं ! परम्परा चल रही है । कोई छात्र अपने-आप बचा रहे, यह भाग्यकी बात । अच्छे अध्यापक चुपचाप सब देखते रहते हैं । बोल नहीं सकते । बोलें, तो रोटीसे जायँ और अपनी दुर्गति करा लें । सम्भव है करोड़ों शिक्षकोंमें कोई कुछ वैसे निकल भी आयें, पर इससे होता क्या है ? अपनी दुर्गति और करा लेंगे । मैं स्वयं 'सुधार' का शिकार हूँ ।

हरिद्वारके हाई स्कूलमें संस्कृतका अध्यापक था । कुछ बड़े और 'नामी' लड़के कुछ छोटे लड़कोंको लेकर निकल गये । घण्टों नहरके किनारे जङ्गलमें मारे-मारे फिरते रहे, न जाने क्या करते रहे । सदाकी यह बात थी; परंतु मेरे 'पीरियड' में भी एक दिन वे गायब रहे । मुझे मौका मिल गया । बहुत दिनसे जला बैठा था । मैंने बड़े लड़कोंको तो डाँट-फटकार कर छोड़ दिया; परंतु छोटे लड़कोंके हाथोंपर पतली छड़ीसे कुछ मार भी लगायी और यह कहलाकर छोड़ा कि 'अब आगे फिर कभी ऐसा न होगा ।'

पढ़ाई-लिखाईके बारेमें कभी भी छड़ीसे काम मैंने नहीं लिया; जब कि दूसरे सभी अध्यापक प्रतिदिन छात्रोंको ठोंकते-पीटते थे और आज भी यह प्रथा जारी

हैं; परंतु मेरी उस एक दिनकी छड़ी ही आफत बन गयी ! शोर मच गया—'वाजपेयीने छात्रोंको छड़ीसे मारा !' बात यहाँतक बढ़ी कि म्यूनि० वोर्डके अंग्रेज अध्यक्ष मि० कुक तक शिकायत पहुँची और उसने मुझे नौकरीसे निकाल दिया । यह बात सन् १९३९ की है । इस घटनाने मेरी आँखें खोल दीं । मैंने सोचा, अंग्रेजी राज्यमें सुधार होना कठिन है । अध्यापकीसे मन हट गया । सोचा, न आँखों कुछ देखूँगा, न जलन पैदा होगी । तबसे ऐसे ही कुछ लिख-पढ़कर काम चला रहा हूँ।

परंतु स्वराज्य आनेपर वह दशा बदसे बदतर होती जा रही है । हद हो गयी है । क्या होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता । हाँ, एक बात मैं कह सकता हूँ । सरकार यदि चाहे, तो सब कुछ हो सकता है—'राजा कालस्य कारणम् ।' शासन समयको, युगको, बदल सकता है । गंदे सिनेमा एक हुक्मसे बंद हो सकते हैं; गंदे उपन्यास रातोंरात भट्ठीमें जलाये जा सकते हैं और अच्छे सदाचारी अध्यापक रक्खे जा सकते हैं; दूसरी तरहके अध्यापकोंको भी बदला जा सकता है । रोटीका डर सबको भला बना सकता है ।

परंतु सरकार वैसा कुछ क्यों नहीं करती ? इसका उत्तर मैं क्या दूँ ! एक बात बड़े जोरसे मैं कह सकता हूँ कि आपका अनुशासन तबतक नहीं जम सकता, जबतक छात्रोंमें सदाचारके सभी अङ्गोंकी प्रतिष्ठा न हो जायगी ।

भोजनमें महान् ईश्वरीय शक्तिका प्रवेश कीजिये

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०)

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

अर्थात् शुद्ध आहार ग्रहण करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और अन्तःशुद्धिसे स्मृतिरूप ध्यान निश्चल हो जाता है और निश्चल ध्यानकी सिद्धिसे जप-यज्ञ सिद्ध होता है ।

जो भोजन हम खाते हैं, केवल उसीके द्वारा हमारे शरीरका पोषण और नव निर्माण नहीं होता, प्रत्युत भोजन करते समय हमारी जो मनःस्थिति होती है, हमारा मन जैसे सूक्ष्म प्रभाव फेंकता है और जिन संस्कारों या वातावरणमें हम भोजन ग्रहण करते हैं, वे मनोभाव, विचार एवं भावनाएँ अलक्षित रूपमें भोजन और जलके साथ हम ग्रहण करते हैं, वे हमारे शरीरमें बसते और मांस-रक्त-मज्जा आदिका निर्माण करते हैं । अतः भोजन करते समय हमारे कैसे विचार और भावनाएँ हैं, इस तत्त्वपर हिंदू-शास्त्रोंमें बड़ा महत्त्व प्रदान किया गया है । भोजन करते समयकी आन्तरिक मनःस्थितिकी स्वच्छता आवश्यक मानी गयी है । जैसी अच्छी-बुरी हमारी मनःस्थिति होगी, उसका वैसा ही प्रभाव हमारे शरीरपर पड़ेगा ।

स्मरण रखिये, उत्तम-से-उत्तम भोजन दूषित मनःस्थितिसे विकार और विषमय हो सकता है । क्रोध, उद्वेग, चिन्ता, चिड़चिड़ापन, आवेश आदिकी उद्विग्न मनःस्थितियोंमें किया हुआ भोजन विषैला हो जाता है । पुष्ट करनेके स्थानपर उलटा शरीरको हानि पहुँचाता और पाचन-क्रियाको विकारमय कर देता है । क्रोधकी स्थितिका भोजन न ठीक तरह चबाया जाता है, न उचित रीतिसे पचता ही है । इसी प्रकार चिन्तित मनःस्थितिका भोजन नसोंमें घाव उत्पन्न कर देता है । हमारी कोमल पाचन नलिकाएँ शिथिल हो जाती हैं । इसके विपरीत प्रफुल्ल मुद्रा एवं शान्त मनोऽवस्थामें खाया हुआ अन्न हास्य तथा प्रसन्नताके वातावरणमें

लिया हुआ भोजन शरीर और मनके स्वास्थ्यपर जादू-जैसा गुणकारी प्रभाव डालता है। अन्तःकरणकी शान्त सुखद वृत्तिमें किये हुए भोजनके साथ-साथ हम प्रसन्नता, सुख-शान्ति और उत्साहकी स्वस्थ भावनाएँ भी खाते हैं, जिसका स्वास्थ्यप्रद प्रभाव हमारे शरीरपर पड़ता है। आनन्द एवं प्रफुल्लता ईश्वरीय गुण हैं, क्लेश, चिन्ता, उद्वेग आसुरी प्रवृत्तियाँ। इन दोनों प्रकारकी चित्तवृत्तियोंके अनुसार ही हमारा दैनिक भोजन दैवी या आसुरी गुणोंसे युक्त बनता है।

क्या तुमने ध्यानसे देखा है कि हँसते-हँसते दूध पीनेवाला प्रशान्त, निर्दोष शिशु किस सरलतासे साधारण-सा दूध और मामूली अन्न खा-पचाकर कैसा मोटा-ताजा, सुडौल, सात्त्विक और निर्विकार बनता जाता है। उसके मुख-मण्डलपर सरलता खेलती है। उसी प्रकार निर्दोष, शान्त, प्रफुल्ल, निर्विकार वृत्तिसे आनन्दपूर्वक किया हुआ भोजन हमारे शरीरको आनन्द, आरोग्य और स्वास्थ्य दे सकता है।

हमारे जीवनके विकासके साथ-साथ हमारे गुप्त मनका भी विकास चलता रहता है और गुप्त मन हमारे शरीरमें अज्ञात रूपसे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रियाएँ किया करता है। इन प्रतिक्रियाओंका प्रभाव निरन्तर चलता रहता है। पोषण, रुधिराभिसरण, मलविसर्जन, नवनिर्माण, नूतन शक्तिका उत्पादन आदि सभी कार्य-व्यापार अन्तर्मनसे होते रहते हैं।

सुन्दर स्वास्थ्यके लिये प्रथम आवश्यक तत्त्व है निर्लेप, भव्य और उत्तम मनःस्थिति। भव्य मनःस्थितिके बिना उन्नत स्वास्थ्य प्राप्त नहीं हो सकता। क्लान्त, भयपूर्ण या उद्विग्न मनःस्थितियोंमें भोजन करना रोग, शोकको निमन्त्रण देना है।

थियोसोफिकल सोसाइटीके प्रसिद्ध नेता महात्मा लेडबीटरने 'वस्तुकी आन्तरिक दशा' नामक एक बहुत ही खोजपूर्ण पुस्तक इस विषयपर लिखी है। उसमें उन्होंने एक स्थलपर लिखा है, 'जो कुछ भोजन हम खाते हैं, वह पाचनके उपरान्त शरीरका एक भाग बन जाता है। उस भोजनपर जिस प्रकारके सूक्ष्म प्रभाव अंकित हो जाते हैं, वे भी हमारे शरीरमें बस जाते हैं। लोग खाद्य वस्तुओंकी केवल बाहरी सफाईपर ध्यान देते हैं, किंतु वे यह भूल जाते हैं कि बाहरी सफाईपर ध्यान देना जितना आवश्यक है, उससे कहीं अधिक आवश्यक उसकी आन्तरिक स्वच्छतापर ध्यान देना है।

भारतवर्षमें भोजनकी आन्तरिक स्वच्छताको अधिक महत्त्व दिया जाता है। हिंदूलोग अपनेसे नीच विचारके लोगोंके हाथका बना हुआ या उनके साथ बैठकर खाना इसलिये नापसंद करते हैं कि उनके गुप्त, हीन विचारोंसे प्रभावित होनेसे भोजनकी पवित्रता जाती रहेगी। विलायतमें लोग बाहरी सफाईको ही पर्याप्त समझते हैं। वे नहीं जानते कि केवल इतनेसे ही भोज्यपदार्थ उत्तम गुणवाले नहीं बन जाते।

भोजनपर सर्वप्रथम तो बनानेवाले व्यक्तिका बहुत प्रभाव पड़ता है। अतृप्त, भूखा, लालची, अधिक निम्न जातिका या गंदा रसोइया अपने सम्पर्कसे ही भोजनको दूषित कर देता है। एक तो वह शरीर या वस्त्रोंसे स्वच्छ नहीं होता और उसके शरीर या वस्त्रोंकी अस्वच्छता ही भोजनको दूषित कर देती है। दूसरे उसकी लालची मनोवृत्ति, स्वयं भोजन ग्रहण करनेकी इच्छा निरन्तर भोजनपर विषैला प्रभाव डाला करती है। बाजारू भोजन, दूकानोंपर बिकनेवाली मिठाइयाँ, नमकीन, दूध इत्यादिपर असंख्य अतृप्त भूखे व्यक्तियोंकी लुब्ध दृष्टियाँ पड़कर उन्हें दूषित बना देती हैं। अतः वे न पचती हैं, न शरीरको ही लाभ पहुँचता है। होटलोंमें रसोइया या परोसनेवाले व्यक्ति मशीन-जैसे सहानुभूतिशून्य बन जाते हैं। अतः इस बाजारू भोजनसे कोई लाभ नहीं।

सावधान रहिये, भोजन सात्त्विक वृत्तिके व्यक्तिका बनाया हुआ हो। वह तृप्त तथा स्वच्छ हो। निर्विकार हो अर्थात् रोगी न हो। वह स्नान कर, शरीरको स्वच्छ कर स्वच्छ वस्त्र धारण किये रहे और प्रेमपूर्ण मन:स्थिति-में भोजन तैयार करे। माता, पत्नी, बहिनोंके द्वारा बनाये हुए भोजनमें प्राय: ये शुभ वृत्तियाँ मिल जाती हैं।

भोजन स्वच्छ स्थानपर शान्तिपूर्वक प्रसन्न मुद्रासे ग्रहण करें। जो कुछ रूखा-सूखा प्राप्त हुआ है, उसे भगवान्का प्रसाद मानकर ग्रहण करें। भोजन जब सामने आये, तब नेत्र मूँद ईश्वरीय चिन्तन करते हुए धीरे-धीरे यह मन्त्र उच्चारण करें—

'तेजोऽसि सहोऽसि बलमसि भ्राजोऽसि देवानां धामनामासि विश्वमसि विश्वायुः।'

(वेद)

अर्थात् हे अन्न! तुम (तेज) वीर्य हो। तुम उत्साह हो। तुम बल हो। तुम दीप्ति हो। तुम ही चराचर विश्वरूप हो। तुम ही विश्वके जीवन हो।

'ॐ द्यौस्त्वा परिददातु ॐ पृथिवी त्वा गृह्णातु।'

अर्थात् हे अन्न! आकाश तुझे देता है और पृथ्वी तुझे ग्रहण करती है।

'ॐ अन्नपतेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः प्र प्रदातारं तारिष उर्जन्नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे।'

अर्थात् हे अन्नपते अग्ने! इस यज्ञका भाग हमें दीजिये। यह अन्न (जो हम ग्रहण कर रहे हैं) नीरोग और बलयुक्त हो। हे अन्नपते! हमारे परिवारके लिये और गौ आदि पशुओंके लिये बलकारी अन्न दो।

'अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।'

अर्थात् अन्न ब्रह्मा है, रस विष्णु है और भोक्ता महेश्वर देव हैं।

इस प्रकार मनमें शुभ भाव धारण कर ब्रह्मार्पण करके जो भोजन किया जाता है, वह मनमें शुद्ध, सात्त्विक संस्कार उत्पन्न करता है। ईश्वरत्वके तत्त्वोंका समावेश करनेसे साधारण रूखा-सूखा भोजन भी आश्चर्य-जनक शक्ति उत्पन्न करता है। ईश्वरीय वातावरण तथा मनमें सात्त्विक मनोभाव रखनेसे शुद्ध रक्त और पौष्टिक तत्त्व चारों ओर पहुँचता रहता है। यदि ईश्वरीय चिन्तन साथ है तो रूखे-सूखे भोजनमें ही सुख है, आनन्द है और सब कुछ है।

आत्मोत्सर्ग

अमृत-पद

(कीर्तन-ध्वनि)

(रचयिता—श्रीकेदारनाथजी बेकल, एम्० ए०, एल्-टी०)

बोलो सब प्रेम सहित बोलो राधे कृष्ण राधे कृष्ण।
रसनासे अमृत-रस घोलो राधे कृष्ण राधे कृष्ण॥
मिल जाओ प्रभो! मिट जाऊँ मैं, काया न रहे, माया न रहे।
'मैं' 'तू' न रहे, तुमही तुम हो, राधे कृष्ण राधे कृष्ण॥
बन्धन न रहे, तन-मन न रहे, कूटस्थ सनातन बन जाऊँ।
मैं तुममें रमूँ, तुम मुझमें रमो, राधे कृष्ण राधे कृष्ण॥
मिलना न रहे तुमसे मिलकर, करना न रहे कुछ शेष मुझे।
उस आत्मानन्दका अनुभव हो राधे कृष्ण राधे कृष्ण॥
तुम पारस हो, चिन्तामणि हो, मैं विषयानल संतप्त प्रभो।
अपना-सा कर लो बेकलको, राधे कृष्ण राधे कृष्ण॥

संत स्पिनोज़ा

(लेखक—श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-एट्-ला, विद्यावारिधि)

बरूच डी स्पिनोज़ाकी गणना उन संतोंकी श्रेणीमें होने योग्य है, जिनके लिये भर्तृहरिकी उक्ति 'सन्ति सन्तः कियन्तः' सार्थक होती है। उनके पिता पुर्तगालके यहूदी थे और हौलेंडके एमस्टर्डम नामक नगरमें आ बसे थे। इसी नगरमें सन् १६३२में स्पिनोज़ाका जन्म हुआ। उनका निधन १६७७ में हुआ। यद्यपि उनके समयमें गेलीलियो और न्यूटनके भौतिकवादका प्रसार था, तथापि उन्होंने निज दर्शन-शास्त्रद्वारा प्राज्ञ पुरुषों-को प्रभु-प्रेमका पीयूष पिलाकर विमुग्ध कर डाला। वास्तवमें वे 'साँईके सुरंग राते' थे, अतएव कैथोलिक कवि और दार्शनिक नोवालिस (Novalis) उन्हें 'The God-intoxicated man' अर्थात् प्रभुका मतवाला मनुष्य कहा करता था।

निज धर्मग्रन्थोंका अध्ययन करनेके बाद वे अपने स्वतन्त्र विचारद्वारा इस निष्कर्षपर पहुँचे कि सत्ता एक ही है और वह ईश्वरीय सत्ता है। श्रीरामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैतके सदृश वे चित् या जीव (thought) और अचित् या जड (extinsion) को इसी सत्ताके गुण (attributes) मानते थे। उन्होंने इस सिद्धान्त-का ऐसी अकाट्य युक्तियों और निर्भीकतासे प्रतिपादन किया कि यहूदी धर्माचार्योंके आसन डगमगा उठे। उन्हें यह प्रलोभन दिया गया कि यदि वे प्रकटरूपसे यहूदी-धर्मके मतका खण्डन न करें तो उन्हें प्रतिवर्ष विपुल द्रव्य दिया जाता रहेगा। पर सत्यके उस पुजारीने इस प्रस्तावको ठुकरा दिया। फिर उन्हें मार डालनेकी धमकी दी गयी और वह कार्यमें इस प्रकार परिणत हुई कि एक दिन जब वे शामको घर लौट रहे थे किसी धर्मान्ध यहूदीने उनकी गर्दनपर छुरेसे आक्रमण किया। उस वारसे छुरा उनके कोटको फाड़ता हुआ चमड़ीपर खरोंट लगा सका। जब ये प्रयास विफल हुए, तब वे यहूदी जातिसे सविधि बहिष्कृत कर दिये गये। पिता-के आश्रयसे वे विहीन हो गये और घरसे निकाल दिये गये। पर वे अपने सिद्धान्तपर अटल रहे। सच है कि 'न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।'

गृहहीन और बन्धुविहीन वे अपना समय तत्त्व-चिन्तनमें बिताने लगे। उस अवस्थाका वर्णन उन्होंने अपने एक मित्रके पत्रमें इस प्रकार किया है कि अपने दिन आहें भरने और शोक करनेके बजाय मैं शान्ति, चिन्तन और आनन्दमें विता रहा हूँ। जिसे प्रतिकूल परिस्थिति समझा जाता है, वही उनके लिये इतनी अनुकूल सिद्ध हुई कि उन्होंने चार महान् ग्रन्थोंकी रचना कर डाली, जिनमें नीतिशास्त्र (Ethica) का प्रमुख स्थान है। फ्रांसके तत्त्वविद् और साहित्यकार अनातोले फ्रांस कहा करते थे कि यदि नेपोलियनमें स्पिनोज़ा-सरीखी क्षमता होती तो वे भी कारागारके कालमें चार पुस्तकें लिख डालते।

स्पिनोज़ाके रहन-सहनकी सादगी देखकर सहृदय पुरुष मुग्ध हो जाते थे। जिस प्रकार वैशेषिक दर्शन-के रचयिता महर्षि कणाद खेतोंमेंसे कण-कणका संग्रह कर अपना निर्वाह कर लेते थे, उसी प्रकार वे दूरबीन आदि यन्त्रोंके लिये काच तैयार कर अपनी कमाईसे संतुष्ट रहते थे। उनका प्रतिदिनका भोजन-व्यय बहुधा चार आनेसे अधिक नहीं होता था। किसी मित्रकी दावतमें अनेक व्यंजनोंका आस्वादन करनेके बजाय वे अपने सादा भोजनको ही पसंद करते थे। जो थोड़ी-सी कमाई होती थी, उसीसे सारा खर्च चलाते थे। किसी कविकी उक्ति कि 'जब आवत संतोष धन सब धन धूलि समान' उनके जीवनमें चरितार्थ होती थी।

एक बार उनका साइमननामक धनिक शिष्य उन्हें एक सहस्र स्वर्णमुद्राएँ भेंटमें देने लगा। इस भेंटको सविनय अस्वीकार करते हुए उन्होंने कहा कि मुझे धन नहीं चाहिये, क्योंकि वह मेरा मन विकृत कर देगा। पर वह भी ऐसा गुरुभक्त था कि उसने अपनी सारी विपुल सम्पत्तिकी वसीयत उनके नाम कर डाली। यह समाचार मिलते ही वे शिष्यके पास पहुँचे और उसे समझाकर उसके सहोदरके नाम वसीयत करवाकर अपने नामकी वसीयतको फाड़ डाला। जब उनकी बहिनोंने पिताकी सम्पत्तिसे उन्हें वञ्चित करना चाहा तो न्यायालय-का निर्णय उनके पक्षमें हो चुकनेके बाद उन्होंने अपने भागको उन्हें उपहारमें देकर उदारताका ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित किया।

उनके स्वतन्त्र विचार और पावन जीवन-चर्याकी चर्चा सर्वत्र फैलने लगी। फ्रांसके महान् सम्राट् लुई चौदहवें उन्हें बहुत बड़ी पेन्शन इस शर्तपर देने लगे कि वे अपने अगले ग्रन्थको उनके नामपर समर्पित करें, पर स्पिनोज़ाने ऐसा करना सविनय अस्वीकार कर दिया। कारण यह था कि वे अपने किसी ग्रन्थकी गरिमा-को द्रव्यके सम्पर्कसे दूर ही रखना चाहते थे। वे तो दरिद्रनारायणके सच्चे पुजारी थे।

विचारोंकी वेदीपर वे सर्वस्व बलि देनेको सदा कटि-बद्ध रहते थे। सन् १६७३ में हीडलवर्ग विश्वविद्यालयके दर्शनाचार्यका आसन उन्हें दिया जाने लगा, पर शर्त यह थी कि राज्यके धार्मिक सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें वे कोई बात न कहें। विचार-स्वतन्त्रतामें बाधा उपस्थित होनेकी आशंकासे इस महान् पदको वे स्वीकार न कर सके और अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए लिखा कि इस समय मुझे जो स्थान प्राप्त है, उससे, बढ़कर अन्य कोई पद मुझे संसारमें दिखायी नहीं देता और अपने ही विचारोंमें मुझे जो शान्ति प्राप्त है, वह मुझे और किसी जगह नहीं मिल सकती।

संत स्पिनोज़ा कथनी और करनी दोनोंके धनी थे। जैसे उच्च उनके विचार थे, वैसे ही पवित्र उनके कार्य थे। ऐसे महान् पुरुषका प्रभाव यूरोपमें व्यापक होना स्वाभाविक था। उनके अद्वैतवाद या ईश्वरवादने अनेक विचारवान् पुरुषोंको प्रेरणा प्रदान की। उनके इस सिद्धान्तने कि 'ईश्वर ही सब कुछ है और जो कुछ है वह सब ईश्वरमय है, सारे यूरोपमें हलचल मचा दी।' जर्मन कवि लेसिंगका वचन है कि स्पिनोज़ाके दर्शन-शास्त्रके सिवा अन्य कोई दर्शन नहीं है और प्रसिद्ध कवि गेटे (Goethe) कहता है कि स्पिनोज़ामें मुझे वह दर्शन देखनेको मिला जिसके लिये मेरा मन बरसों-से प्यासा था। प्रकाण्ड जर्मन दार्शनिक हेगल (Hegel) तो यहाँतक कहता है कि तत्त्वविद् बननेके लिये प्रथम स्पिनोज़ाके दर्शनका अनुशीलन करना अनिवार्य है। इंग्लैंडके कवि कोलरिज, वर्डस्वर्थ और शैलेके काव्योंमें स्पिनोज़ाके अद्वैतवादकी झलक है। दो सौ वर्ष बाद जब हेंगमें उनका स्मारक बनाया गया तो संसारके प्रत्येक भागसे चन्दा प्राप्त हुआ और उस समयके प्रमुख भाषणके अन्तिम शब्द ये थे कि यदि किसीको ईश्वरका सत्यतम दर्शन मिला तो इस महात्माको प्राप्त हुआ। कविका निम्न कवित्त इस संतपर कितना फबता है—

छोडे सुत नारी तात मात भ्रात गोत नात,
झूठ ना सोहात बात कै बिबेक बोलहीं।
काम क्रोध बोध भये, सील व संतोष लये,
कर्मबीज भूँजि बोये, कायामें कलोलहीं॥
धरनी सुहाते हिये साँईके सुरंग राते,
राव रंक ते निसंक तौलि तौलि बोलहीं।
काहू ते न शत्रुता न काहू ते सनेह नेह,
प्रभुके पियारे ते निरारे पंथ डोलहीं॥

तीर्थयात्रा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'भगवन् ! हमलोग आज कहाँ हैं ?' एक काषाय-वस्त्रधारी तरुणने पूछा। यात्रियोंके इस दलमें संन्यासी कोई नहीं है; किंतु तीर्थयात्री होनेके कारण सभी काषाय-वस्त्र पहनते हैं। सबके मस्तक तथा दाढ़ी-मूँछके बाल बढ़ गये हैं, नख लंबे हो गये हैं और वस्त्र मलिन हो रहे हैं, घरसे सब सम्पूर्ण केश मुण्डित कराके चले थे; किंतु केश तो घासकी भाँति बढ़ते हैं और ये ठहरे तीर्थ-यात्री, घर छोड़े इन्हें कई मास हो गये। अभी तो कई मास और लगने हैं इन्हें। तीर्थयात्रामें न क्षौर कराया जा सकता, न वस्त्र धुलवाये जा सकते और न तैल-मर्दन ही उपयुक्त है।

'भगवान्‌के मार्गमें भद्र ! तुम आकुल क्यों होते हो ? हम मार्ग भूल गये हैं; किंतु ऐसा कौन-सा मार्ग है जिसमें वह नहीं है। वह जानता है कि हम उसकी ओर चले हैं।' बड़ा स्थिर स्वर, बड़ी भव्य शान्ति थी त्रिपुण्ड्र-मण्डित भव्य भालपर। हाथमें लाठी और कमण्डलु, कंधेपर झोला और कटिके वस्त्रोंको समेटकर ऊपर बँधा एक वस्त्रखण्ड। सबसे वृद्ध होनेपर भी यात्रामें वे सबसे आगे चल रहे थे।

'बाबा ! आज हम कहाँ ठहरेंगे ?' कृषक-जैसे दीखते एक व्यक्तिने पूछा, जो सम्भवतः थक चुका था। उसकी आधी पकी मूँछोंपर धूलि जम रही है और भौंहोंके केश ललाटके बहे पसीने और धूलिसे मिलकर कीचड़में लथपथ-से लगते हैं, इसकी ओर उसका ध्यान नहीं था। उसके श्वासकी गति बढ़ी हुई थी। दूसरों-की भाँति उसके पैर भी बिवाइयोंसे चिथड़े हो रहे थे और उन बिवाइयोंमेंसे निकली रक्तकी बूँदे धूलिमें सनकर जम गयी थीं।

'जहाँ कहीं जल मिलेगा, वहीं हम आज रात्रि-विश्राम करेंगे। तनिक पैर दबाये आओ भाई !' आगे चलनेवाले वृद्धने केवल क्षणभरको गति मन्द की और फिर वे शीघ्रतासे चल पड़े। उनकी त्वरा समझमें आने योग्य है। भगवान् भास्कर पश्चिम क्षितिजपर पहुँच चुके हैं। घंटेभरमें वनमें अँधेरा हो जायगा और तब आगे बढ़ना शक्य नहीं रहेगा। 'रात्रिके आगमनके पूर्व एक जलस्रोत मिल जाय या सरोवर………'वृद्धके चरण बढ़ते जा रहे थे।

'हम इस वनमें ही रात्रि व्यतीत करेंगे ?' वृद्धके पीछे चलनेवाले तरुणने चारों ओर देखा। उसे स्मरण आया—चलते समय उसके दोनों पुत्र फूट-फूटकर रोये थे। दोनों पुत्रवधुएँ घूँघटके भीतर हिचकियाँ ले रही थीं और उसका नन्हा पौत्र उसकी गोदसे उतरना ही नहीं चाहता था। यह घोर कानन—आज दिनमें ही चीतेकी गन्ध मिली है। रीछ दीखा है समीपके बेरके वृक्षपर बेर खाता और वाराहयूथ आगे-आगे जा रहा है, यह बात तो रौंदे तृणों तथा तत्काल खोदी भूमिसे सहज अनुमान की जा सकती है। इस वनमें रात्रि-विश्राम—परंतु दूसरा कोई मार्ग तो दीखता नहीं।

'भद्र ! भयका तो कोई कारण नहीं है। जिसने आह्वान किया है, वही अपने श्रीचरणोंके समीप पहुँचायेगा। वह ग्राममें है और वनमें नहीं, ऐसा क्यों सोचते हो ?' आगे चलनेवाले वृद्धकी श्रद्धा अडिग थी। उनकी श्रद्धाका ही बल है, जो यह दल अबतक चला आ रहा है।

'जो कुछ था डाकुओंने ले लिया और मार पड़ी वह ऊपरसे। अब तो मृत्यु ही रही है, उसे आना है तो

वह भी आ जाय !' एक यात्री कुछ स्थूल शरीर है। स्वभावतः चलनेमें उसे अधिक श्रम होता है। वह झुँझला उठा है। इधर उसके स्वभावमें चिड़चिड़ापन भी अधिक आ गया है।

'डाकू आये, यह तो हमारा ही पाप था।' आगे चलनेवाले वृद्धने तनिक रुककर पीछे देखा—'तीर्थयात्री स्वर्णमुद्रा लेकर चलेगा तो दस्यु आयेंगे ही। हमारे पास कलके लिये भी संग्रह रहे तो हम विश्वम्भरपर विश्वास कहाँ करते हैं। संग्रह न हो तो छीनने कोई क्यों आये ?'

'महाराज ! वैसे तो यह शरीर भी संग्रह है और वनमें उसे छीनकर पेट भरनेवाले प्राणी भी आ ही सकते हैं !' स्थूल पुरुषने व्यंग किया।

'भैया ! भगवान् मल्लिकार्जुन मृत्युञ्जय हैं। उनके चरणका दर्शन करने जो चला है उसकी आयु पूरी हो जाय मध्यमें, तो भी मृत्युको प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।' वृद्ध कुछ पद लौट आये और स्नेहपूर्वक उन्होंने उस पुरुषके कंधेपर हाथ रख दिया—'तीर्थयात्राका अर्थ कहीं जाकर जलमें डुबकी लगा लेना और किसी प्रतिमा मात्रके दर्शन कर लेना नहीं है। यात्राका अर्थ है तितिक्षा—कष्ट-सहिष्णुता, त्याग, भगवत्स्मरण और एकमात्र प्रभुका आश्रय। जो प्रभु श्रीशैलपर विराजमान हैं, वे ही प्रत्येक प्राणीमें, प्रत्येक वन्य पशुमें हैं। हमपर आपत्ति आती है तब, जब हम प्रमाद करते हैं, जब हम यात्राके नियम भंग करके कोई सुख-सुविधाकी व्यवस्था करते हैं अथवा संग्रह करने लगते हैं। यदि हम प्रमत्त न हों तो प्रलयङ्करके आश्रितोंकी ओर रोग, शोक आदि कोई नेत्र उठाकर देख नहीं सकता।'

× × ×

बात कई शताब्दी पहलेकी है। देशमें सड़कें नहीं थीं। रेल और मोटरोंका स्वप्न भी मनुष्यने नहीं देखा था। फलतः मनुष्य आज-जैसी धोखा-धड़ी एवं छल-प्रपञ्चसे भी अपरिचित था और आजके रोगोंसे भी। उसका शरीर स्वस्थ था, सुदृढ़ था और उसका मानस श्रद्धा-परिपूत था।

मध्यप्रदेशके एक छोटे-से ग्रामके एक वृद्ध ब्राह्मण-के मनमें लालसा जाग्रत् हुई तीर्थयात्राकी। उन्होंने अपनी इच्छा व्यक्त की और कई सहयोगी मिल गये। लगभग डेढ़ वर्ष लगा यात्राके लिये प्रस्तुत होनेमें। सभी सगे-सम्बन्धियोंसे मिल लेना था। घरकी पूरी व्यवस्था कर देनी थी। सबसे विदा ले लेनी थी। तीर्थयात्राका अर्थ था घर न लौटनेको प्रस्तुत होकर जाना। मार्गमें वन थे—लंबे-चौड़े व्यापक अरण्य। वनोंमें हिंस्र जन्तु भरे थे और उनसे भी हिंस्र दस्यु तथा वन्य मानव मिलते थे। जब दीर्घकालतक अनिश्चित भटकना हो तो कौन कह सकता है कि कोई कब अस्वस्थ हो जायगा। तीर्थयात्री तो मृत्युको चुनौती देकर ही यात्रा प्रारम्भ करता है।

मुहूर्त निश्चित हुआ। यात्रियोंने अपने वस्त्र गैरिक कर लिये, झोले सिलवा लिये, मुण्डन कराया और हवन हुआ। अन्तमें ग्राम-परिक्रमा करके पूरे ग्रामके लोगोंने ग्रामसीमातक जाकर जयजयकार करते हुए उन्हें विदा दी।

हाथोंमें लाठियाँ और जलपात्र, कंधेपर झोले, मुण्डित मस्तक, नंगे पैर यात्रियोंका दल चल पड़ा। जहाँतक ग्राम-सीमा मिलती रही, बड़ा उत्साह रहा सबमें। प्रत्येक ग्राममें उनका स्वागत हुआ, उनकी पूजा हुई, सोल्लास उनका आतिथ्य हुआ; परंतु वन आना था और वह आया। वनकी यात्रा चलती रही और एक दिन दस्युओंने उन्हें घेर लिया। बिना पूछे तड़ातड़ डंडे पड़ गये दो-दो चार-चार सबपर।

'अरे ! किसीके पास कुछ हो तो दे क्यों नहीं देते।' अग्रणी वृद्धने अपने साथियोंको पुकारा। साथमें एक

कुछ स्थूलकाय श्यामवर्ण वैश्य यात्री थे । उनकी धोतीमें दो स्वर्णमुद्राएँ छिपी थीं । डाकुओंकी मार भी अधिक उनपर ही पड़ी । अन्तमें वे मुद्राएँ डाकुओंको प्राप्त हो गयीं ।

'धन्यवाद बन्धुओ !' वृद्ध ब्राह्मणने दस्युओंको हाथ जोड़कर प्रणाम किया—'तुम हमारे प्रभुके भेजे आये हो । यह पाप था हमारे साथ, जिससे तुमने हमें मुक्त कर दिया । आओ भाई ! अब हमारी यात्रा निरुपद्रव हो गयी । अमङ्गल बहुत कम उपद्रव करके विदा हो गया ।' स्थूलकाय वृद्धको उन्होंने आश्वासन दिया ।

इस धमाचौकड़ीमें यात्रियोंके साथ जो मार्ग-दर्शक था, वह भाग चुका था । दस्यु स्वर्णमुद्राएँ लेकर ऐसे अदृश्य हुए जैसे शशकके सिरसे सींग । यात्रियोंको अब अपने अनुमानके आधारपर आगे बढ़ना था । घोर वनमें कोई क्या अनुमान करे । वे भटक गये और भटकते ही चले गये । वनके कन्दों तथा पत्तों और सरोवर या निर्झरके जलपर कई दिन काट दिये उन्होंने और तब एक दिन ऐसा आया जब मध्याह्नोत्तर चलनेपर उन्हें जल मिलना भी कठिन हो गया था ।

× × ×

'हम श्रीशैलकी ही ओर जा रहे हैं ?' तरुण भी अत्यन्त श्रान्त हो चुका था । उसकी श्रान्ति इतनी अधिक थी कि आगे भटकनेकी अपेक्षा वन्य पशुओंद्वारा आखेट हो जाना उसे कम भयप्रद प्रतीत होने लगा था ।

'भगवान् आशुतोष जानते हैं कि हम श्रीशैल जाना चाहते हैं, इसलिये हम श्रीशैल ही जा रहे हैं और वहाँ निश्चय पहुँचेंगे ।' अग्रणी वृद्धका विश्वास अलौकिक था । वैसे न वे मार्ग जानते थे और न उन्हें यही पता था कि श्रीशैल उनके सम्मुख है या पीठकी ओर ।

'इस जन्ममें तो पहुँचते नहीं ।' स्थूलकाय व्यक्तिके लिये चलना अब अत्यन्त कठिन हो रहा था । वह खड़ा हो गया और देखने लगा कि 'कोई बैठने योग्य वृक्षकी जड़ भी मिल जाय तो उसीपर बैठ जाय ।'

'हम इसी जीवनमें पहुँचेंगे और····।' किंतु वृद्धको अधिक बोलना नहीं पड़ा । कोई आ रहा था उनके सम्मुखकी दिशासे । सबका ध्यान आगन्तुककी ओर आकृष्ट हो गया था ।

'आप सब श्रीशैलपर ही हैं ।' दूरसे ही आगन्तुकने यात्रियोंकी थकावट, व्याकुलता तथा उत्सुकता समझ ली और आश्वस्त करनेके लिये बोला—'वनमें भटक जानेके कारण आप विपरीत दिशासे आये हैं । कुछ दूर आगे बढ़ते ही आपको शिखरकी ध्वजाके दर्शन होंगे ।'

'भगवान् मल्लिकार्जुनकी जय !' यात्रियोंमें नवीन उत्साह आ गया । उन्हें यह पता नहीं लगा कि उनको मार्ग बताने जो कृपा करके पधारे थे, वे थे कौन और उत्साहके इन क्षणोंमें सहसा किधर अदृश्य हो गये ।

दोष किसका ?

मालिकने कब डूबने दिया ?
मालिकने कब बिगड़ने दिया ?
आस्था डगमगाये और तुम निर्द्वन्द्व न रह सको,
तो—दोष किसका ?

—बालकृष्ण बलदुवा

ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

[द्वितीय भूमिका—विचारणा]

(लेखक—आत्मलीन स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्कसे आगे]

अधिकारी

जिस जिज्ञासुको बुद्धिकी उपयुक्त सूक्ष्मताके अभावके कारण अथवा अन्य प्रतिबन्धोंके कारण श्रवणमात्रसे अखण्ड चिन्मात्र तत्त्वका प्रत्यक्ष नहीं हुआ और न श्रवणके अन्तर्गत सामान्य उपपत्तिरूप लिङ्गसे उसके बुद्धिगत असम्भावना दोषकी निवृत्ति हुई। जिसे उपनिषद्के परम तात्पर्यके विषयमें संदेह नहीं; परंतु इस परम तात्पर्यके विषयमें अनेक विरोधी युक्तियाँ स्फुरित होती हैं। शास्त्रका निर्णय निश्चित होनेपर भी युक्त प्रतीत नहीं होता; जीव-ईश्वरका एकत्व, जगन्मिथ्यात्व असम्भव दीखता है। अब शास्त्रान्तर्गत विरोधी वचनोंके कारण उनमें परस्पर विरोध नहीं दीखता, शास्त्रमें समन्वय हो चुका है, शब्द-प्रमाणमें कोई संदेह नहीं; परंतु शब्दप्रमाण तथा अनुमानमें परस्पर विरोध भासता है। दोनों भिन्न-भिन्न राग अलापते प्रतीत होते हैं। शब्दप्रमाण अभेदका निर्णय करता है तो तर्क-अनुमान-भेदको सिद्ध करता दीखता है। ऐसा जिज्ञासु ही ज्ञानकी दूसरी कक्षाका अधिकारी है।

साधन

मनन इस कक्षाका मुख्य साधन है, जैसा कि इस भूमिका-का विचारणा नाम प्रकट करता है। उसकी शास्त्रमें अश्रद्धा नहीं होती; यदि ऐसा हो तो मनन-साधनाका हो सकना असम्भव हो। शास्त्र-तात्पर्यमें जो असम्भावना उसे प्रतीत होती है, उसका कारण वह अपनी बुद्धिके दोषको समझता है। इसलिये शास्त्र-तात्पर्यके अनुकूल युक्तिप्रधान ग्रन्थोंका वह दिन-रात गुरु-संनिधिमें मनन करता है। उसे शास्त्रमें इतनी दृढ़ श्रद्धा होती है कि जबतक कोई विरोधी युक्ति स्फुरण करती है, तबतक मननका त्याग नहीं करता। शास्त्रनिर्णयमें उसकी पूर्ण श्रद्धा होती है। ऐसी नहीं कि विरोधी युक्तिके आधारपर नास्तिकके समान शास्त्रमें ही अश्रद्धा कर दे अथवा अखण्ड-चिन्मात्र ब्रह्मरूप परम तात्पर्यसे भिन्न संसारमें प्रचलित अन्य अनेक सिद्धान्तोंका आश्रय ले ले। उसके पूर्वपुण्यजन्य संस्कार ऐसे सहकारी होते हैं कि परमतत्त्व अद्वैत-सिद्धान्तकी विरोधी युक्ति उपस्थित होनेपर और तत्काल उसका कोई उत्तर न सूझनेपर भी उसकी यथार्थ जिज्ञासा तथा अद्वैत-तत्त्वमें श्रद्धा बनी रहती है। ऐसी तीव्र तथा शुद्ध बुद्धि भी नहीं होती कि अद्वैत तत्त्व झट जँच जाय। परंतु ऐसी मूढ़ श्रद्धा भी नहीं कि बिना सोचे-विचारे झट स्वीकार कर ले। श्रद्धा भी है और सोचता भी है। शास्त्रविरोधी युक्तिका निराकरण भी बुद्धिमें शीघ्र नहीं टिकता; परंतु फिर भी अश्रद्धा नहीं होती, यत्न नहीं छोड़ता; इसमें अपनी बुद्धिका ही दोष समझता है और मननमें तत्पर रहता है, जबतक कि अद्वैत-सिद्धान्त युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार शास्त्रानुकूल अनेक युक्तियोंका निरन्तर आलोडनरूप मनन करता रहता है। यथा—

(क) जीव-ईश्वर चेतनोंमें उपाधिकृत भेद-प्रतीति है, वास्तवमें अभेद है। जैसे घटाकाश-मठाकाशका उपाधिकृत भेद है।

(ख) अन्वयव्यतिरेक युक्ति—चेतन आत्माके परमार्थ अखण्ड चेतन स्वरूपके निर्धारणके लिये।

(ग) स्वप्न-अध्यास आदिके समान किसी पदार्थके अस्तित्वमें सामान्य प्रतीतिमात्र अकाट्य युक्ति नहीं है।

(घ) दर्पणमें प्रतिबिम्बके दृष्टान्तसे सजातीय भेदका खण्डन।

(ङ) स्फटिक मणि तथा जपाकुसुमके दृष्टान्तसे स्वगत-भेदका खण्डन।

(च) सजातीय-विजातीय भेद-प्रतीतिका मूल कारण स्वगत-भेदकी मिथ्या प्रतीति है इत्यादि। इस प्रकार वेदान्त शास्त्रके परम तात्पर्य अभेदकी अनुकूल युक्तियोंसे विरोधी युक्तियोंके खण्डनरूप शास्त्रोक्त मननको चालू रखता है; जबतक कि कोई भी विरोधी युक्ति शेष रहती है। इस विरोधको निर्मूल करना ही मननका कार्य-फल या अवधि है। शब्द-प्रमाणका निश्चित असंदिग्ध निर्णय तथा अनुमान-प्रमाणका इससे विरोधसे इस भूमिकाका आरम्भ होता है। अर्थात् उपर्युक्त स्थितिवाला जिज्ञासु ही द्वितीय विचारणा

कक्षाका अधिकारी है। मनन इस कक्षाका प्रधान साधन है। शास्त्रानुकूल युक्तियोंसे विरोधी युक्तियोंका निराकरण करना मननका स्वरूप है। शब्द-प्रमाण तथा अनुमान-प्रमाणमें परस्परविरोधके परिहारके द्वारा समन्वय करना इसका लक्ष्य है। यह समन्वय ही इस कक्षाकी परमावधि है। अनुमानका शास्त्र-निर्णीत सिद्धान्त अभेदका समर्थन करना ही मननका फल है। इसके सिद्ध हो जानेपर जिज्ञासुको युक्ति-प्रधान शास्त्रकी भी आवश्यकता नहीं रहती और न उसकी मननमें रुचि रहती है, जैसे कि प्रथम भूमिकाके अन्तमें श्रवणमें रुचि नहीं रही थी; क्योंकि मननका कारण जिज्ञासामात्र तथा प्रमेयगत असम्भावना दोष ही था। मननका शास्त्र-व्यसन, धन, वैभव, मान-प्रतिष्ठा आदि कोई लौकिक प्रयोजन नहीं था जो कि उस असम्भावना दोषके निवृत्त हो जानेपर भी मनन चलता रहे।

तीसरी तनुमानसा भूमिका—लक्ष्य तथा अधिकारी

प्रथम भूमिकामें श्रवणके द्वारा शब्दप्रमाणान्तर्गत विरोधका परिहार हो चुका, मननके द्वारा शब्दप्रमाण तथा अनुमान-प्रमाणके विरोधका परिहार भी हो गया। दोनों प्रमाणोंसे अखण्ड चिन्मात्र परमार्थ सत्का निर्णीत बोध होता है; परंतु फिर भी बुद्धि इतनी सूक्ष्म, शुद्ध तथा एकाग्र नहीं हुई कि परमतत्त्वका साक्षात्कार हो जाय। कोई प्रतिबन्ध विद्यमान है। प्रमाणगत संशय तथा प्रमेयगत असम्भावना दोषकी निवृत्ति प्रथम दो भूमिकाओंमें उपयुक्त साधनाद्वारा हो गयी। परंतु अभीतक साधकके निज प्रत्यक्षमें भेद-सत्यत्वबुद्धि तथा देहादिमें आत्मत्वबुद्धिके कारण शास्त्र तथा अनुमानके द्वारा निर्णीत अभेदसे विरोध विद्यमान है। अखण्ड तत्त्वके प्रत्यक्षके विना उपर्युक्त वर्णित रीतिसे शोक-मोहकी निवृत्ति तथा परमरसकी उपलब्धि नहीं हो सकती; क्योंकि शोक-मोहका मूल कारण भेदकी प्रत्यक्ष प्रतीति विद्यमान है। शास्त्र तथा अनुमानजन्य अभेदविषयक परोक्ष बुद्धि इसका उन्मूलन नहीं कर सकती और न मनुष्यकी बुद्धि इस विरोधको सहन कर सकती है। यदि यह शब्द, अनुमान तथा प्रत्यक्षका आपसमें भेद विद्यमान रहे तो अशान्तिका एक प्रबल कारण सदा उपस्थित रहता है। संदेह होनेपर किसी व्यवहारका भी फलकी सिद्धिका होना असम्भव है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
(गीता ४। ४०)

'आत्माके यथार्थ स्वरूपसे अनभिज्ञ, गुरु तथा शास्त्र-वाक्यमें अश्रद्धा करनेवाले तथा संशयात्माका विनाश हो जाता है, उसके किसी लक्ष्यकी सिद्धि नहीं होती। परंतु संशयमें सबसे अधिक आपत्ति तो यह है कि ऐसे महान् अभागे तथा पापीको न तो इस लोकमें और न परलोकमें कहीं भी सुख नहीं मिलता है।'

यद्यपि विचारवान् अनुभवी महात्माओं तथा श्रद्धालु जिज्ञासुओंकी दृष्टिमें परमार्थ विषयमें परम तथा अपूर्व प्रमाण श्रुति (शब्द) ही है; परंतु केवल श्रद्धासे परम लक्ष्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। परमानन्दकी प्राप्ति उस अखण्ड चिन्मात्र आनन्दस्वरूप तत्त्वकी प्रत्यक्ष अनुभूतिसे ही हो सकती है। किसी स्वादु पदार्थके श्रवणसे ही तृप्ति नहीं होती। इसमें संदेह नहीं कि श्रवणमात्रमें भी प्रत्यक्षानुभूति उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य विद्यमान है। परंतु किसी पूर्वोक्त प्रतिबन्धके कारण अखण्ड तत्त्व प्रत्यक्ष अनुभूत नहीं होता। इसलिये बुद्धिके सामञ्जस्य तथा फलसिद्धिके लिये अखण्ड चिन्मात्रका प्रत्यक्ष जरूरी है। शब्द तथा अनुमान और प्रकृत लौकिक भेदविषयक प्रत्यक्ष प्रमाणके विरोधका परिहार करना तृतीय भूमिकाका काम है। इस विरोधसे युक्त जिज्ञासु ही तनुमानसा-की इस कक्षाका अधिकारी है और प्रत्यगभिन्न ब्रह्मप्रत्ययका प्रवाहरूप निदिध्यासन ही इस कक्षाका मुख्य साधन है। बुद्धिको साधनाद्वारा क्रमशः सूक्ष्म करके अखण्ड आत्माके साक्षात्कारके योग्य बनाना इस साधनाका काम है। जो कि इस कक्षाके 'तनुमानस' निर्वचनसे ही स्पष्ट है। इसकी परम अवधि प्रत्यगभिन्न ब्रह्मात्मसाक्षात्कारके द्वारा अज्ञान अथवा उसके कार्यभेदकी निवृत्तिरूप मनुष्यजीवनके परम ध्येयकी प्राप्ति है। इस साधनासे शब्दप्रमाण, अनुमानप्रमाण तथा प्रत्यक्ष-प्रमाणमें विरोधके परिहारके द्वारा समन्वय सम्पादन करना है। इसके पश्चात् ज्ञानके तीन प्रमाणोंका कोई विरोध नहीं रहता। सम्पूर्ण साधनाके लक्ष्य अखण्डात्मतत्त्वके दर्शनके द्वारा मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। कोई साधना शेष नहीं रहती। अब जिज्ञासु सिद्ध ज्ञानी होकर चतुर्थ भूमिका 'सत्त्वापत्ति'में प्रवेश करता है।

प्रथम तीन साधन-भूमियाँ

अभेद-दृष्टिके क्रमशः विकासका द्वार होनेके कारण ये तीन भूमियाँ ज्ञानकी साधना-भूमियाँ कहलाती हैं। अखण्ड

चिन्मात्र परमार्थ तत्त्व (सत्य) की यथार्थ अनुभूति ही तथ्य परम ज्ञान है। भेद-अनुभूति अयथार्थ भ्रान्त है। इसलिये ऐसी अवस्था अज्ञान-भूमि कही जाती है। प्रथम भूमिमें शब्द-प्रमाणके द्वारा परमार्थ अखण्ड तत्त्वका परोक्ष ज्ञान होता है; यद्यपि अनुमान तथा प्रत्यक्षके द्वारा भेद सिद्ध होता है, यह न्यूनता रहती है; परंतु पूर्वके समान नितान्त भेद-प्रतीति नहीं होती; अतः इसे ज्ञानकी भूमि कहा गया है। यद्यपि उपर्युक्त कमीके कारण इसकी निवृत्तिके लिये अभी और साधना आवश्यक है। श्रवणसाधनाके द्वारा उपर्युक्त परोक्ष अभेद-बुद्धि प्राप्त होती है, इसलिये इसे साधन-भूमि कहा जाता है। द्वितीय भूमिमें मननके द्वारा अनुमान-प्रमाणसे भी अखण्ड तत्त्वका परोक्ष बोध होता है, अतः यह भी ज्ञानकी साधन-भूमि है। प्रत्यक्षसिद्ध भेदकी जो भ्रान्ति शेष रह गयी थी, वह भी इस भूमिमें निदिध्यासनके द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कारसे निवृत्त हो जाती है, अतः यह भी साधन-भूमि है। इसके बाद अब साधनाका अन्त हो जाता है और ४ से ७ तककी भूमियाँ सिद्ध ज्ञानीकी भूमियाँ हैं।

निदिध्यासन-साधन

तृतीय भूमिके साधन निदिध्यासनके विषयमें आवश्यक विवेचन शेष रहता है। (इसका विस्तृत विवेचन निदिध्यासन-योग-साधना-खण्ड तथा ब्रह्माकारवृत्ति आदि अन्य प्रकरणोंमें मिलेगा।) उनका ही साररूपसे संक्षिप्त उल्लेख यहाँ किया जाता है। तृतीय भूमिके अधिकारी, कार्य तथा फलका यत्किंचित् निर्देश ऊपर हो चुका है। इन सबके विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि निदिध्यासन अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिका प्रवाह नहीं है; क्योंकि तीसरी कक्षाका अधिकारी ही वह है, जो जिसे कि प्रथम तथा दूसरी कक्षाके साधन श्रवण तथा मननके द्वारा प्रत्यगभिन्न अखण्ड ब्रह्मका परोक्ष बोध है; परंतु बुद्धिकी उपयुक्त सूक्ष्मताके अभाव आदि प्रतिबन्धकोंके कारण वृत्ति ब्रह्मसे संस्पृष्ट होकर साक्षात् ब्रह्माकार नहीं होती, जिससे ब्रह्मका प्रत्यक्ष ज्ञान हो। श्रवण तथा मननके द्वारा अखण्ड ब्रह्मविषयक परोक्ष ज्ञानमें संदेह-कालिमा नहीं रही; परंतु देह आदि विशिष्ट चेतन-जीवका ही प्रत्यक्ष होता है। यह विपरीत भावना दृढ़ है। प्रत्यगभिन्नविषयक प्रवाहरूप निदिध्यासन ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये उपयुक्त सूक्ष्मता सम्पादन-के निमित्त है। जिसके द्वारा विपरीत भावना दूर हो। इस विवेचनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि तीसरी भूमिकाके जिज्ञासुको ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान तो है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। इसके प्रत्यक्ष ज्ञानके लिये ही निदिध्यासन इस तीसरी भूमिकाका साधन है और अपरोक्ष ज्ञान इस भूमिकाका साध्य है—लक्ष्य है। निदिध्यासन-साधनका आरम्भ परोक्ष ज्ञानसे होता है और ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान निदिध्यासनका परिपाक-फल है।

किसी प्राणीको भी आत्मा सर्वथा अज्ञात नहीं है; क्योंकि आत्मा प्राणीका अपना आपा है और अपने आपसे कोई भी नितान्त अनभिज्ञ नहीं होता। इसके अतिरिक्त चेतन अथवा चेतनता किसी-न-किसी रूपमें आत्माके रूपमें सबको इष्ट है। औपनिषद अखण्ड तत्त्व भी चेतन है। प्रत्येक प्राणी चेतन अथवा चेतनताको किसी रूपमें जानता है; इसलिये औपनिषद अखण्ड चेतन आत्मा नितान्त अज्ञात नहीं है, विशिष्ट चेतनरूपसे प्रत्यक्ष है, अखण्ड चेतनरूपसे प्रत्यक्ष नहीं। तृतीय कक्षामें परोक्षरूपसे अखण्ड चेतन आत्मा ज्ञात है, परंतु अपरोक्षरूपसे अज्ञात है। इस दृष्टिसे अज्ञानीको भी तो चेतन अथवा चेतनता एक प्रकारसे प्रत्यक्ष है, नितान्त परोक्ष तो नहीं। परंतु सामान्य अज्ञानीका तो कहना ही क्या, ज्ञानकी तृतीय भूमिकामें भी जिज्ञासुको भी अखण्ड चेतन प्रत्यक्ष नहीं है।

जैसे ऊपर वर्णन किया गया है कि चेतन आत्मा एक दृष्टिसे अज्ञात अथवा अप्रत्यक्ष कभी भी नहीं है। यथा किसीको अनुमान या शब्द-प्रमाणसे अग्निका परोक्ष ज्ञान होता है; आत्माका ऐसा सर्वथा परोक्ष ज्ञान कभी भी किसीको नहीं होता; प्रत्युत एक अंशमें तो आत्मा प्रत्यक्ष भी है। आत्माके विषयमें प्रत्यक्षकी ही भ्रान्ति है। परोक्ष-भ्रान्ति नहीं है। प्रत्यक्ष-भ्रान्तिमें पदार्थ प्रायः सामान्यरूपसे ज्ञात-प्रत्यक्ष होता है और विशेषरूपसे अज्ञात होता है। विशेष अंशमें ही भ्रान्ति होती है। इसी प्रकार औपनिषद प्रत्यग-भिन्न ब्रह्म चेतनरूपसे तो ज्ञात—प्रत्यक्ष है; विशेष अखण्ड अंशमें अज्ञात—अप्रत्यक्ष है। विशेष अंशमें ही भ्रान्ति है। (अखण्ड आत्माके सामान्य तथा विशेष अंश होना असम्भव है, भेदयुक्त विशिष्ट आत्माकी दृष्टिसे तथा उसकी अपेक्षासे अर्थात् आरोपकी दृष्टिसे अंशोंका निरूपण किया जा रहा है।) आत्मा देहादि उपाधि-भेदसे विशिष्ट प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार चेतनरूपसे आत्मा सबको प्रत्यक्ष है; परंतु उपनिषद्-निर्दिष्ट परमार्थ अखण्डरूपसे अज्ञात—अप्रत्यक्ष है। इसी विषयमें सामान्य मनुष्यकी भ्रान्ति है और इस

भूमिकावाले जिज्ञासुको अखण्डरूपसे परोक्ष है, नितान्त अज्ञात नहीं है।

इस दृष्टिसे ऐसे जिज्ञासुके लिये कहा जा सकता है कि उसे अखण्ड चेतनरूप परमार्थ आत्मा नितान्त अप्रत्यक्ष नहीं। तीसरी भूमिकावालेको भी सब प्राणियोंके समान ही चेतनरूपसे प्रत्यक्ष है, अखण्डरूपसे परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है। (दृष्टान्त) जैसे सूर्यको लें, इसके विषयमें हम सबकी यही धारणा है कि सूर्यका हमें यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान है। परंतु विचार करनेपर हमारी यह धारणा अयथार्थ सिद्ध होती है। यह बात ठीक है कि सूर्य हमें नितान्त अज्ञात या अप्रत्यक्ष नहीं है। वह स्वतः प्रकाशरूपसे तो हम सबको प्रत्यक्ष है; परंतु उसके आकारके विषयमें प्रत्यक्ष भ्रान्ति है। ज्योतिष-शास्त्रके विज्ञ यन्त्रों तथा अन्य विचारके आधारपर यह निर्णय करते हैं कि सूर्य पृथिवीके आकारसे भी लगभग लाख गुना अधिक बड़ा है; परंतु (एक प्रकारसे) ज्योतिषियोंको अथवा उनके द्वारा अन्य साधारणको होनेवाला यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष है। चक्षुके द्वारा जो प्रत्यक्ष-अपरोक्ष ज्ञान होता है, वह इसके अल्प आकारका ही होता है। इसलिये हम कह सकते हैं कि सूर्य हमारे लिये नितान्त अप्रत्यक्ष नहीं, भौतिक स्वतःप्रकाश-रूपसे तो प्रत्यक्ष है, परंतु तथ्य महान् आकाररूपसे परोक्ष है, प्रत्यक्ष-अपरोक्ष नहीं है। (दार्ष्टान्त) ठीक ऐसे ही आत्मा स्वतः चेतन प्रकाशरूपसे सबको प्रत्यक्ष है; परंतु अखण्डरूपसे साधारणजनोंको अज्ञातमात्र है। न प्रत्यक्ष है, न परोक्ष। परंतु तृतीय भूमिकामें शब्द तथा अनुमान-प्रमाणके आधारपर अखण्ड-रूपसे परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं। परंतु सूर्य तथा आत्माके ज्ञानमें एक अन्य महान् विलक्षणता है कि सूर्यके विशेष तथ्य आकारके विषयमें प्रत्यक्ष ज्ञानका हो सकना प्रायः असम्भव है; क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष ज्ञानकी भ्रान्तिका कारण दूरी है, जिसका निवारण नहीं किया जा सकता। यदि हम निष्पक्षभावसे विचार करें तो आकारके ज्ञानके विषयमें हमारी यह भ्रान्ति सम्पूर्ण आकारोंके ज्ञानमें सम्भव है; क्योंकि प्रत्येक पदार्थके आकारका ज्ञान जब द्रष्टाको होता है, तब द्रष्टासे उस पदार्थकी कुछ-न-कुछ दूरी रहती ही है। इस प्रकार हमारा आकारविषयक सम्पूर्ण ज्ञान सापेक्ष है, अतः अविश्वसनीय है; क्योंकि हम सबको ही यह भ्रान्ति है, इसलिये हम इस भ्रान्त ज्ञानको नहीं समझते और सब-के-सब इस भ्रान्त ज्ञानको ही ठीक मानते हैं। यदि किसी अलौकिक विशेषताके कारण कोई इस निरपेक्ष आकारका ज्ञान प्राप्त कर सके, तो हम अपने आपको—साधारण जनके ज्ञानको—यथार्थ तथा इस विशेष व्यक्तिके ज्ञानको अयथार्थ कहेंगे। ठीक ऐसी ही स्थिति प्राकृत जन तथा ब्रह्मवित्‌के आत्मसम्बन्धी ज्ञानमें है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
(गीता २। ६९)

'साधारण मनुष्यों तथा अन्य सम्पूर्ण प्राणियोंकी जो आत्मतत्त्व रात्रि है, जिसके विषयमें उनकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। संयमी, जितेन्द्रिय, अन्तर्मुखी, सूक्ष्मदर्शीके लिये वह अखण्ड आत्मतत्त्व दिन है—प्रत्यक्ष है और जिन लौकिक भोग तथा अनात्मदेह-अभिमानको प्राणी—प्राकृत पुरुष—सत्य मानते हैं, ब्रह्मवित् मुनिकी दृष्टिमें वह अत्यन्त असत्य है।'

एक और विलक्षणता यह है कि सूर्यविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान सदा ही सापेक्ष-सत्य अथवा भ्रान्त ही रहेगा; परंतु अनुभवियोंका कथन है कि आत्माका द्रष्टासे नितान्त अभेद है, किसी प्रकारकी दूरी नहीं है। निदिध्यासनके द्वारा आत्माके विशेष अखण्ड चिन्मात्ररूपका यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है।

समाधिके भेद

उपर्युक्त विवेचनका सार यही है कि आत्माके अखण्ड चेतनरूपके परोक्ष-प्रत्यक्षका प्रवाह ही निदिध्यासन है। आत्म-विषयक समाधिके दो भेद हैं—(१) सविकल्प और (२) निर्विकल्प। सविकल्प समाधिरूपी निदिध्यासन अखण्ड आत्म-विषयक 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि परोक्ष प्रत्ययहीका निरवच्छिन्न प्रवाह है, अपरोक्ष प्रत्ययका प्रवाह नहीं। अभी हम देखेंगे कि अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिका प्रवाह हो सकना असम्भव है। निर्वि-कल्प समाधि भी दो प्रकारकी होती है—(१) अखण्डात्माके प्रत्यक्ष ज्ञानसे युक्त तथा (२) आत्माके परोक्ष ज्ञानसे युक्त। निर्वि-कल्प समाधि 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्तिका केवल निरोध है। पातञ्जल-योगदर्शनको भी असम्प्रज्ञातके अनेक भेद अभिमत हैं; जैसे आत्मज्ञानशून्य विदेह तथा प्रकृतिलयरूपी असम्प्रज्ञात तथा पातञ्जल-अभिमत चिन्मात्र आत्माकी स्वरूपस्थिति अथवा अनुभूतिरूप असम्प्रज्ञात; क्योंकि किसी अनात्मप्रत्यय तथा आत्मविवेकख्याति-प्रत्यय (वृत्ति) के निरोधमात्रसे अस-म्प्रज्ञात लाभ हो सकती है। असम्प्रज्ञात होनेकी दृष्टिसे तो इन समाधियोंमें समानता है; क्योंकि इनमें आत्म तथा अनात्म-

विषयक प्रज्ञा-वृत्तिका अभाव होता है; परंतु विदेह तथा प्रकृतिलय एक प्रकारसे आत्माके स्वरूपज्ञानसे शून्य हैं और विवेकख्यातिके निरोधके द्वारा प्राप्त पातञ्जल-अभिमत असम्प्रज्ञात चेतनात्मा अथवा चिन्मात्र ज्ञानस्वरूप है। इसी प्रकार परोक्ष अथवा अपरोक्ष 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्तियोंके निरोध-से वेदान्तसम्मत निर्विकल्प समाधिका लाभ हो सकता है। इसलिये इन दोनोंमें भेद-बीज भाव तथा अभाव सम्भव है। तृतीय कक्षाके साधकको यदि निर्विकल्प समाधिका लाभ हो भी जाय, तो भी भेदका बीज बना रहता है; क्योंकि तृतीय भूमिमें परोक्ष ब्रह्माकार वृत्तिके प्रवाहरूप निदिध्यासन-समाधि—का अभ्यास होता है। परोक्ष ब्रह्माकार वृत्तिके प्रवाहरूप निदिध्यासनसे जब बुद्धि सूक्ष्म हो जाती है, तब अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिसे ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान उदय होता है। यह निदिध्यासनका परिपाक है। यदि इस अपरोक्ष ज्ञानके होनेसे पूर्व ही परोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिलय हो जाय तो अखण्ड चेतनाकार निर्विकल्प समाधिका लाभ नहीं होता। ऐसी निर्विकल्प समाधि ज्ञान-साधनकी तृतीय भूमिमें नहीं होती। निदिध्यासनके परिपाकस्वरूप अपरोक्ष ब्रह्माकार-वृत्तिके उदय होनेपर जब ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होता है, तब साधक सिद्धज्ञानी हो जाता है। तब वह सत्त्वापत्ति नामवाली चतुर्थ भूमिमें प्रवेश कर जाता है। अर्थात् अखण्ड चेतनाकार निर्विकल्प समाधि चारसे सात तककी सिद्ध ज्ञानभूमियोंमें होती है। यह समाधि कैसे लाभ होती है, इसका निरूपण उन-उन भूमिकाओंके प्रसङ्गमें किया जायगा। इस स्थानपर केवल इस विषयका संक्षिप्त विवेचन करना है कि अपरोक्ष ब्रह्माकार-वृत्तिके प्रवाहका हो सकना सम्भव नहीं। (इसका विशद विवेचन ब्रह्माकारवृत्तिके प्रकरणमें दिया गया है।)

(१) शुद्ध, उपाधिरहित, ब्रह्म निर्व्यवहार है, वाङ्-मनसागोचर है। वह स्वयंप्रकाश है तथा आवरणरहित है। अन्य सब जड-चेतन जगत्‌के अस्तित्वका अधिष्ठान तथा उनके प्रकाशका कारण है। शुद्ध ब्रह्म सबकी सत्ता-स्फूर्तिका कारण है। इसलिये स्वतःप्रकाश, निरावृत, निर्व्यवहार ब्रह्मके ज्ञानके लिये परोक्ष अथवा अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिमेंसे किसीका कोई उपयोग नहीं और न इन वृत्तियोंमें यह सामर्थ्य है कि ये ब्रह्मका प्रकाश कर सकें; क्योंकि इन परोक्ष अथवा अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तियोंकी सत्ता-स्फूर्तिका कारण भी शुद्ध ब्रह्म है। जैसे कि वह अन्य जगत्‌के पदार्थों अथवा वृत्तियोंकी सत्ता-स्फूर्तिका कारण है। परोक्ष अथवा अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तियोंका विषय अज्ञानावृत आत्मा ही है। इन दो-में भेद इतना ही है कि परोक्ष ब्रह्माकारवृत्ति मूलाज्ञानको निवृत्त नहीं कर सकती और अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्ति इस मूल अज्ञानको निवृत्त कर देती है। इन वृत्तियोंके प्रकाशका हेतु भी शुद्ध ब्रह्म ही है। शुद्ध ब्रह्मके प्रतिबिम्ब-आभास-के द्वारा प्रकाशित होती हुई ये ब्रह्माकारवृत्तियाँ किसी रूपमें अज्ञानावृत ब्रह्मको तो प्रकाशित करती हैं; परंतु ये अपने प्रकाशित करनेवाले शुद्ध ब्रह्मको प्रकाशित नहीं कर सकतीं।

वृत्तिका स्वरूप तथा कार्य

वृत्तिमात्रके सदैव दो भाग होते हैं—(१) चेतन—यह अखण्ड-चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्मका प्रतिबिम्ब आभास होता है। (२) अचेतन—यह जड अन्तःकरण—मन—का विकार होता है, जो जड विषयके अनुरूप होता है। वृत्ति अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा स्वच्छ होती है; और इसमें चेतनका प्रतिबिम्ब सहज पड़ता है। वृत्ति कभी अज्ञात नहीं होती। वृत्तिका कार्य चेतन तथा अचेतनका संयोग करना है। वृत्ति-का अचेतन भाग घट, पट आदि अज्ञात विषयोंके अज्ञानरूपी आवरणको अभिभव करता है और वृत्ति-आरूढ़ चेतन भाग जडविषयका प्रकाश करता है।

स्वतःप्रकाश चेतन (ब्रह्म) तथा जड घट, पट-विषयक वृत्तियोंके कार्यमें भेद

यह पहले कहा गया है कि शुद्ध निरुपाधिक ब्रह्म अखण्ड ब्रह्माकारवृत्तिका विषय नहीं हो सकता। अज्ञानोपहित—अज्ञानावृत—ब्रह्म ही अखण्ड ब्रह्माकारवृत्तिका विषय है। घट, पट स्वयं जड हैं, इसलिये उनके प्रकाश—ज्ञान—के लिये वृत्तिके जड तथा चेतन दोनों भागोंकी आवश्यकता है। जैसे पूर्व प्रकरणमें वर्णित हुआ है कि अज्ञानोपहित ब्रह्ममें मूल अज्ञानका आवरण है; परंतु चेतन स्वयंप्रकाश है। इसलिये आवरण-निवृत्तिके लिये ब्रह्माकारवृत्तिके जड भागका तो उपयोग है; परंतु जब आवरणकी निवृत्ति ब्रह्माकारवृत्तिके जड भागसे हो चुकी, तब उसके पश्चात् ब्रह्मके निरावरण हो जानेके कारण स्वतःप्रकाश ब्रह्मके लिये वृत्ति आरूढ़ चेतन भागका कोई उपयोग नहीं। यही कारण है कि शुद्ध ब्रह्मको वृत्तिका अविषय कहा गया है; क्योंकि वृत्तिका केवल आवरणकी निवृत्तिमें ही उपयोग है और आवरणसे रहित शुद्ध ब्रह्मके लिये वृत्तिके किसी भागका उपयोग नहीं है।

आत्रेय दर्शन

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

महर्षि आत्रेयका उपदेशामृत चरकसंहितामें मिलता है। वे संसारबन्धनसे मुक्त, आत्मज्ञानी और लोकसंग्रही महर्षि थे, ऐसा उनके अनुभवपूर्ण वचनोंसे विदित होता है। महर्षि आत्रेय और ब्रह्मसूत्रकार महर्षि बादरायण समकालीन होंगे, यह ब्रह्मसूत्र 'स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेय' अ० ३। ४। ४४। के उल्लेखसे विदित होता है।

जिस तरह न्याय आदि षड्दर्शनोंने ईश्वर-आत्मा, पुण्य-पाप, कर्मवाद और पुनर्जन्म आदिकी मीमांसा की है, उसी तरह चरकसंहितामें भी पारमार्थिक विषयोंकी विचारणा की है।

षड्दर्शनोंके विषय और विचार-धारामें मर्मात्मक मतभेद रहा है। उसी तरह आयुर्वेदके विषय और विचार-धारा भी पृथक् हैं, फिर भी सब दर्शनोंने जिस तरह श्रुतिप्रमाणको स्वीकार किया है, उसी तरह आयुर्वेदने भी श्रुतिप्रमाणको स्वीकार किया है।

श्रुतिने आत्माको नित्य माना है, उसके अनुरूप आयुर्वेदने भी आत्माकी नित्यताको स्वीकार किया है। देहकी मृत्यु होनेपर आत्मा जीवित रहता है, या आत्माका भी नाश होता है, यह इन्द्रियोंद्वारा या बाह्य प्रमाणोंद्वारा विदित नहीं हो सकता, इस हेतुसे महर्षि आत्रेयने कहा है—

तत्र बुद्धिमान् नास्तिक्यबुद्धिं जह्याद् विचिकित्सां च, कस्मात्, प्रत्यक्षं ह्यल्पमनल्पमप्रत्यक्षमस्ति, यदा आगमानुमान-युक्तिभिरुपलभ्यते यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि। (सू० ११। ७)

आत्मा नित्य है या अनित्य ? आत्माका नाश होता है या नहीं, इस सम्बन्धमें बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिये कि नास्तिक-बुद्धि और संशयको त्याग दें। कारण, प्रत्यक्ष, जो हम अनुभव कर सकते, हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मनद्वारा वह स्वल्प है, अप्रत्यक्ष जो है वह अत्यधिक—सीमारहित है, उसका अनुभव (ज्ञान) श्रुति-अनुकूल अनुमानप्रमाण और युक्तिसे होता है, जो ये शब्द, स्पर्श आदि विषय प्रत्यक्ष उपलब्ध हो रहे हैं, ये सब प्रत्यक्ष अप्रमाणरूप हैं, यह तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेपर ही विदित होता है।

जैसे सम्मोहन विद्या (Mesmerism) द्वारा विधेयक-को वशमें करके अफीम खिलानेपर वश करनेवालेके संकल्पानुसार वह मधुर मिश्रीरूप भासता है, स्वाद मिश्रीका आता है, अफीमकी हानि (विषप्रकोप चिह्न) प्रतीत नहीं होती और मिश्रीका गुण ही प्राप्त होता है, वैसे इस संसारके जीवोंको 'मायया संनिरुद्धः' अर्थात् अविद्याके वशीभूत (श्वेता० ४। ९) मान-कर उक्त वचन महर्षिजीने कहा है।

श्रुतिवचनोंके अर्थोंको आँख मूँदकर स्वीकार न करें, किंतु श्रुति-अनुकूल अनुमानप्रमाण और युक्तिसे निर्णय करें, यह भी महर्षिजीने स्पष्ट कह दिया है।

चरकसंहिताके भिन्न-भिन्न स्थानोंपर दार्शनिक निर्णय मिलता है, इनमें विशेष महत्त्वका स्थान शारीरस्थानका प्रथम अध्याय है, वहाँ प्रश्नोत्तररूपसे महत्त्वके विषयोंकी मीमांसा की है। प्रारम्भमें अग्निवेशाचार्यने बारह श्लोकोंमें कई प्रश्न पूछे हैं, उनमेंसे पहले दो श्लोकोंमें पूछे हुए प्रश्नोंकी चर्चा इस लेखमें की जायगी।

कतिधा पुरुषो धीमन् धातुभेदेन भिद्यते।
पुरुषं कारणं कस्मात् प्रभवः पुरुषस्य कः॥
किमज्ञो ज्ञः स नित्यः किं किमनित्यो निदर्शितः।
प्रकृतिः का विकाराः के किं लिङ्गं पुरुषस्य च॥

१. पुरुष (आत्मा) के धातु-भेदसे कितने प्रकार हैं ?
२. जन्म-मरणरूप संसारका प्रधान कारण पुरुषोंको क्यों माना है ?
३. पुरुषकी उत्पत्ति किससे होती है ?
४. पुरुष अज्ञानी है या ज्ञानी ?
५. पुरुष नित्य है या अनित्य ?
६. प्रकृति किसे कहते हैं ?
७. विकार कितने हैं ?
८. पुरुषका चिह्न क्या है ? इस देहमें कोई अविकारी चेतन है, यह कैसे जाने ?

उक्त सब प्रश्न अद्वैतवादके सिद्धान्तके अनुरूप उठाये गये हैं, न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य और पूर्वमीमांसा—इन दर्शनों-के सिद्धान्तोंमें आत्मा अनेक है एवं उत्तरमीमांसाके भाष्यकार रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य, विज्ञान-भिक्षु आदिके मतमें भी आत्मा नाना माना गया है, तथापि शङ्कराचार्यके मतानुसार उत्तरमीमांसाके अद्वैतवादका समर्थन किया है।

महर्षि आत्रेय शङ्कराचार्यजीसे अनेक शतक पहले हुए हैं, अतः भाष्यकार शङ्कराचार्यके वचनोंका अनुकरण किया है, ऐसा नहीं मान सकेंगे, किंतु सूत्रकारके वचन और श्रुतिकथित अद्वैतवादका अनुसरण किया है।

यह भी यहाँ दर्शा देता हूँ कि भगवान् आत्रेय और भगवान् धन्वन्तरिजी, दोनोंकी विचारधारा भिन्न-भिन्न है, आत्रेयजी दृढ़ अद्वैतवादी हैं, एक आत्माको ही मानते हैं। किंतु धन्वन्तरिजी सांख्य-दर्शनके अनुयायी हैं। वे नाना

आत्मा मानते हैं, इस सम्बन्धमें आगे जहाँ-जहाँ मतभेद होगा, वहाँ स्पष्टीकरण किया जायगा।

आत्माके दो स्वरूप

प्रश्न १—पुरुषके धातुभेदसे कितने प्रकार हैं? इसके उत्तरमें महर्षिजीने कहा है—

खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः॥
(शारीर० १। १४)

बुद्धियुक्त पञ्चभूतात्मक देह तथा चेतना (पञ्चप्राणात्मक, चेतनाधार आत्मा) इन छःका सम्मिलन (संयोग) होनेपर पुरुष (संयोगपुरुष, राशिपुरुष, जीव, कर्मजपुरुष) कहलाता है और केवल चेतना धातु एकको भी पुरुष (निर्विशेष पुरुष, ब्रह्म, ईश्वर, पर आत्मा) संज्ञा दी है।

जीवका स्वरूप कठोपनिषद्के वचन—

'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।'

(१। २। ४) तथा भगवद्गीताके (अ० १३। २१) के अनुरूप लिखा गया है।

सुश्रुतसंहिताकारने भी 'अस्मिञ्शास्त्रे पञ्चमहाभूत-शरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते' (सू० १। २२।)से उपर्युक्त भाव ही दर्शाया है।

ऊपर महर्षि आत्रेयने पुरुष शब्द एकवचनमें लिखा है और धन्वन्तरिजीने शारीरस्थान (अ० १। १६) में इन कर्म-पुरुषोंको इस शास्त्रकी मर्यादाके अनुरूप नाना कहा है।

निर्विशेष आत्मा

चरकसंहिताकारने निर्विशेष आत्माके लक्षण सूत्रस्थान (अ० १। ५५) में निम्न शब्दोंमें दर्शाया है—

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥

देहमें उपस्थित बुद्धि, मन, प्राण और इन्द्रियोंसे युक्त यह चेतन पुरुष निर्विकार, पर (प्रकृतिसे श्रेष्ठ), आत्मा (प्राणिमात्रके अन्तरमें चैतन्यरूप), कारण (विश्वोत्पत्तिका निमित्त कारण) रूप, नित्य (तीनों कालोंमें समभावसे रहनेवाला); द्रष्टा (कर्मोंका साक्षी) होकर सर्व क्रियाओंको देखता रहता है।

नित्य शब्दकी व्याख्या करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्तने न्यायदर्शनके सिद्धान्तके अनुरूप संदेह-वचन उपस्थित करके समाधान किया है। आत्मा नित्य है और आत्माका ज्ञान गुण क्या अनित्य है? समाधान करते हैं कि ज्ञानरूप धर्म यदि अनित्य—उत्पत्ति-नाशवाला माना जायगा, तो धर्म (ज्ञान) की अनित्यताके साथ आत्मा (धर्मी) को भी अनित्य मानना पड़ेगा, अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञान नित्य है।

महर्षिजीने शारीरस्थान (अ० १। ८३, १। १००-१०१) के इन वचनोंसे बुद्धिके वृत्तिजन्य ज्ञानको पृथक् करके ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव (शा० १। १५१ में) स्पष्ट दर्शाया है।

महर्षि धन्वन्तरिजीने—

'तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेष-निमेषौ बुद्धिर्मनःसंकल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्य-वसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः।'

(शा० १। १७ से) ज्ञान आदि गुणोंको कर्मपुरुष-(चैतन्य) आश्रित माना है, ऐसा सांख्यदर्शनने भी नहीं माना; किंतु यह अनुकरण न्यायदर्शनके विचारका किया गया है।

महर्षि आत्रेयने दार्शनिक विचारोंकी छान-बीन गम्भीरता-से की है, किंतु धन्वन्तरिजी दार्शनिक चर्चामें अधिक नहीं उतरे हैं। धन्वन्तरिजीने लिखा है—

बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणाऽबीजधर्माणोऽप्रसव-धर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति।

(शा० १। ९) अर्थात् पुरुष नाना, चेतनावान्, निर्गुण (सत्त्व आदि गुणसे रहित), अबीजधर्मी (प्रलयकालमें महत्तत्त्वादि जिसमें लय होते हैं, वह बीजधर्मी, ऐसा न हो वह अबीजधर्मी), अप्रसवधर्मी (युगारम्भमें जिसमेंसे महत्तत्त्वादिकी सृष्टि होती है, वह प्रसवधर्मी, ऐसा न हो वह अप्रसवधर्मी) और मध्यस्थधर्मी (साक्षी) रूप है।

यह वचन सांख्यशास्त्रके अनुरूप है। सांख्यकारिकाके—

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।
तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य॥

आर्या १८-१९ के ठीक अनुरूप सिद्धान्त स्थापित किया है। शारीरस्थानमें आगे पुनः दर्शाते हैं—

तत्र पूर्वं चेतना धातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय प्रवर्तते स हि हेतुः कारणं निमित्तमक्षरं कर्ता मन्ता वेदिता बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुषः प्रभवोऽव्ययो नित्यो गुणी ग्रहणं प्रधानमव्यक्तं जीवो ज्ञः पुद्गलश्चेतनावान् विभुर्भूतात्मा चेन्द्रियात्मा चान्तरात्मा चेति।
(शा० ४-८)

मन-बुद्धिरूप करण (अन्तःकरण) युक्त संयोगपुरुष गुणोंके कार्यरूप महाभूतोंके ग्रहणार्थ प्रवृत्ति करता है, यथार्थमें वही चेतन धातु हेतु (समवायी या उपादान कारण), निमित्त कारण, अक्षर (अविनाशी), कर्ता—

'खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः'

वचनसे यही क्रियाओंका कर्ता), मन्ता (देहमें अहंताके कारण मनन करनेवाला), वेदिता (जाननेवाला), बोध्य (बुद्धिरूप कारणके संयोगसे विषयोंका ज्ञाता), द्रष्टा (निरीक्षण करनेवाला), धाता (धारण करनेवाला), विश्वरूप (सर्वस्वरूप), पुरुष (प्राणिमात्रके अन्तःकरणमें चैतन्यरूप), प्रभव (विविध रूपमें उत्पन्न होनेवाला या विश्वोत्पादक), अव्यय (सर्वदा सम अवस्था और सम परिमाणमें रहनेवाला), नित्य (उत्पत्ति-नाशरहित), गुणी (सत्त्वादिगुणमयी प्रकृतिको धारण करनेवाला), ग्रहण (प्रकृतिका आश्रय), प्रधान (मुख्य आधाररूप), अव्यक्त (मन-इन्द्रियोंसे अतीत), जीव (जीवभावको प्राप्त), अज्ञ (अज्ञानी भी वही चैतन्य), पुद्गल (परमाणुसंघ या देहमय), चेतनावान्, विभु, भूतात्मा (प्राणिमात्रके अन्तरमें साक्षीस्वरूप), इन्द्रियात्मा(इन्द्रियोंका स्वामी) और अन्तरात्मा भी वही है । सक्षेपमें निर्विशेष आत्मा है, वही संयोग-पुरुष भी है । तथापि पुनः भ्रान्तिके निराकरणार्थ कहते हैं—

निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषसत्त्वशरीर-योस्तु विशेषाद् विशेषोपलब्धिः । (शा० ४ । ३४)

प्राणिमात्रके हृदयमें अवस्थित यह श्रेष्ठ (निर्विशेष) आत्मा निर्विकार बुद्धि-शरीर आदिके हेतुसे सुख-दुःखाकार विशेष वृत्तिवाला प्रतीत होता है, किंतु विवेक करनेपर इन कारणों या हेतुसे ही विशेष था, यह निर्णय हो जाता है ।

श्रीचक्रपाणि आचार्यने भी परमात्माको निर्विकार और प्रतीत होनेवाले विकारोंको मनके धर्म दर्शाये हैं ।

महर्षि आत्रेयने यह अद्वैतात्माका ग्रहण श्रुतिवचनोंके अनुरूप ही किया है । श्वेताश्वतर श्रुति कहती है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥
नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष-
स्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो
जातानि भुवनानि विश्वा ॥

(अ० ४-२-४)

निर्विशेष आत्मा ही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्र, शुक्र, शुद्ध ब्रह्म, जल और प्रजापति हैं । हे देव ! तू स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी रूप धारण करता है, वृद्ध होकर दण्ड धारणकर भ्रमोत्पन्न कराता है, विश्वरूपसे उत्पन्न होनेपर तू ही 'एकोऽहं बहु स्याम' इति श्रुतिकथनके अनुरूप अनेक रूप हो जाता है ।

श्रीमद्भगवद्गीताके १३वें अध्यायमें भी पुरुष विश्वरूप (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूप) बन गया है, ऐसा स्पष्ट समझाया गया है, उसीके अनुरूप महर्षि आत्रेयने संयोगपुरुषको पृथक् दर्शाया है ।

प्रश्न २–संसारका प्रधान कारण पुरुषको क्यों माना जाय ? इसके उत्तरमें महर्षिजीने कहा है—

रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगो यमनन्तवान् ।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्ध्या निवर्तते ॥

(शा० १ । ३४)

रजोगुण और तमोगुणयुक्त राशिपुरुषका संयोग अन्तररहित है (पुनः-पुनः जन्म-मरण देनेवाला है) । जब रजोगुण और तमोगुणकी प्रधानता निवृत्त होती है, सत्त्वगुणकी प्रधानता होनेसे मनोनाश, वासनाक्षय और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है, तब संसारसे मुक्ति मिलती है ।

राशिपुरुषोंके दो प्रकार हैं—ज्ञानी और अज्ञानी । सत्त्वगुण-वृद्धिके कारण सत्त्व, रज, तमोगुणके कार्यरूप संसारमें ज्ञानीको आसक्ति नहीं होती । इस हेतुसे आगे १४० और १४८-१४९ श्लोकमें मोक्षप्राप्ति दर्शायी है ।

शेष जो अज्ञानी रहे, वे मोह, सुख, दुःख, जीवन, मरण— इन व्यावहारिक वृत्तियोंमें अहंता-ममता करके बँध जाते हैं और सुख-दुःखरूप फल भोगते रहते हैं । (शा० १ । ५१)

भगवान् धन्वन्तरिजीने भी कर्मज पुरुषका परिचय—

'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः'

(सू० १ । २२)

—इस वचनसे दिया है एवं शारीरस्थान अध्याय पहलेमें—

'न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च; असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषख्यापकान् हेतुमुदाहरन्ति; आयुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु संचरन्ति धर्माधर्मनिमित्तम्, त एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वता लोहितरेतसोः संनिपातेष्वभिव्यज्यन्ते, यतोऽभिहितं 'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः, इति' स एष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः॥१६॥

उक्त वचनसे चरकसहिताके संयोगपुरुषके समान कर्मपुरुषकी व्याख्या की है, निर्विशेष पुरुषोंकी व्याख्या सांख्य दर्शनके अनुरूप करनेके हेतुसे इस प्रकार पिष्टपेषण करना पड़ा है ।

प्रश्न ३–पुरुषका उत्पत्ति-कारण क्या है ? इसके उत्तरमें महर्षिजीने कहा है—

प्रभवो न ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः ।
पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥

(शा० १ । ५३)

'प्रभवः पुरुषस्य कः' इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि पर आत्मा अनादि (आदिरहित) है, राशिपुरुष मोह, इच्छा, द्वेष आदि पूर्वजन्मार्जित संस्कारोंसे धर्माधर्मका फल भोगनेके लिये देह धारण करता रहता है ।

आत्माको सब दर्शनकारोंने नित्य माना है, महर्षि आत्रेयने वेदान्तदर्शनका अनुसरण किया है । वेदान्तदर्शनमें विश्वोत्पत्तिके पहले ब्रह्म, माया (प्रकृति), ईश्वर (सत्त्वगुण-प्रधान माया-उपहित चैतन्य), जीव (रजस्तमोगुणप्रधान अविद्याविशिष्ट चैतन्य), इनका सम्बन्ध और भेद—ये छः अनादि माने हैं अर्थात् पहलेसे ही उपस्थित थे। इनमेंसे ब्रह्म-को अनादि अनन्त कहा है, शेष पाँचको अनादि सान्त माना है । मायाकी अनादि व्याख्या—

'अनादेरीश्वरस्य शक्तित्वात् प्रकृतिरनादिः, पुरुषोऽपि तदंशत्वादनादिरेव ।'

—इस वचनसे ब्रह्मकी अनादि व्युत्पत्तिसे पृथक् व्युत्पत्ति की है।

राशिपुरुषकी देहका जन्म-मरण ऊपर कहे हुए 'मोहेच्छा-द्वेषकर्मजः' के समान भगवद्गीताकारने निम्न वचनसे गुणसङ्ग दर्शाया है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
(१३ । २१)

प्रकृतिस्थ पुरुष प्रकृतिके गुणों (शब्द, स्पर्श आदि विषयों) को भोगता है, इसका कारण सत्त्व आदि गुणों (विषयों) में आसक्ति है । इस हेतुसे सद् और असद् योनियोंमें पुनर्जन्म लेता रहता है ।

यथार्थमें आत्मा क्रिया नहीं करता । लोह-चुम्बकसे लोहके समान इस आत्मासे मन सत्ता-स्फूर्ति प्राप्त करके क्रियावाला बन जाता है । मन जड होनेसे उसे कर्तापन नहीं दिया गया । इसलिये राशिपुरुषको कर्ता कहा है। (चरक शा० १ । ७३-७४) ।

प्रश्न ४–पुरुष अज्ञानी है या ज्ञानी ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा है—

लक्षणो मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव वा ।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां संनिकर्षे न वर्तते ॥
वैवृत्यान् मनसो ज्ञानं सांनिध्यात्तच्च वर्तते ।
अणुत्वमपि चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ ॥
(शा० १ । १६-१७)

ज्ञान (वृत्तिज्ञान) का भाव और अभाव—यह लक्षण मनका है, आत्मा, इन्द्रिय और विषयका संनिकर्ष होनेपर भी मनका यदि असंयोग हो, तो ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, इसके विपरीत मनका भी संयोग-सहयोग, तभी ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है । मन अण्ड है और प्रत्येक शरीरमें एक-एक है । ये दो गुण मनके हैं ।

न्याय और वैशेषिक दर्शनके अनुसार आत्मासे मन और विषयोंका संयोग होनेपर आत्मामें ज्ञानगुणकी उत्पत्ति होती है । सांख्य, योग और वेदान्त—इन तीनों दर्शनोंने आत्माको अविकारी, निर्गुण (गुणातीत) और समावस्थामें स्थित रहनेवाला माना है । इसलिये तीनोंके मतमें वृत्तिज्ञानकी प्राप्ति बुद्धिको होती है, यद्यपि तीनोंकी समझानेकी शैलीमें अन्तर है; तथापि विनाशी (वृत्तिजन्य ज्ञान) किसीने निर्विशेष आत्मा-का गुण नहीं माना ।

चरकसंहिताकार और सुश्रुतसंहिताकारने ज्ञान गुण (या वृत्तिजन्य ज्ञान) राशिपुरुषमें ही प्रतीत होनेवाला माना है, निर्विशेष पुरुषको ज्ञानस्वरूप माना है ।

ऊपर १९ वें श्लोकमें मनको अणुरूप और प्रत्येक देहमें एक-एक, ये दो गुणयुक्त कहा है, उनमें अणु गुण न्याय-दर्शनके अनुरूप कहा है। वेदान्तदर्शनमें अन्तःकरणका परिमाण शरीर जितना फैला हुआ माना है, एक समयमें एकाधिक विषयोंका ज्ञान नहीं होता, इसलिये स्थूल दृष्टिसे अणुरूप यहाँ मान लिया है ।

मन और इन्द्रियोंके सम्बन्धमें सूत्रस्थान इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय (अ० ८) में विशेष विचार किया है ।

मनके विषय—चिन्त्य (कर्तव्य या अकर्तव्यरूपसे चिन्तवन योग्य), विचार्य (युक्तिपूर्वक विचार करना), ऊह्य (भविष्यमें होनहारका विचार), ध्येय (ज्ञानप्राप्तिका विषय—लक्ष्य), संकल्प्य (ग्रहण-त्याग या धारण योग्य) और ज्ञेय (इन्द्रिय-निरपेक्ष शेष ग्राह्य विषय)—ये सब मनके विषय हैं, पहले मन इन्द्रियोंके संनिकर्षद्वारा करने योग्य कार्य करता है तथा अपना निग्रह; ऊह (आलोचन-सामान्यरूपसे ज्ञानेन्द्रियोंके विषयोंको जानना सांख्यकारिका २८ के अनुरूप) और विचार (हेयोपादेयरूपसे संकल्प) करना है, फिर बुद्धि उस सम्बन्धमें प्रवृत्ति करती है । (चरकशा० १-१८-१९)

आगे बुद्धिके विषयका भी अधिक स्पष्टीकरण किया है, आत्मा ज्ञानी है या अज्ञानी ? इस प्रश्नके उत्तरमें पहले आत्मा-को ज्ञानस्वरूप कहा है, फिर व्यावहारिक ज्ञान अथवा पारमार्थिक ज्ञान किसे होता है, इसका स्पष्टीकरण किया है । राशिपुरुष (बुद्धिविशिष्ट जीव) ज्ञानी या अज्ञानी है, यह प्रश्न उपस्थित हुआ है, निर्विशेष पुरुषके लिये यह प्रश्न पूछना अनुचित है ।

प्रश्न ५–पुरुष नित्य है या अनित्य ? इसके उत्तरमें कहते हैं—

अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः ।
सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुजमन्यथा ॥
(शा० १ । ५७)

वह अनादि पुरुष नित्य है । इसके विपरीत जो किसी कारणसे उत्पन्न होते हैं, वे विनाशी होते हैं । जो कारणरहित सत् (तीनों कालमें समस्वरूपमें रहनेवाला) है, वह नित्य ही रहता है । इसके विपरीत हेतुज हैं, वह अनित्य होते हैं ।

यह भाव छान्दोग्य श्रुतिके 'कथमसतः सज्जायेत' (अ० ६ । २ । २) और भगवद्गीताके 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (अ० २ । १६) के अनुरूप दर्शाया है।

सांख्यदर्शनकारने सत्कार्यवाद माना है । उनके मतके भी अनुकूल है । उन्होंने प्रकृतिको परिणामी किंतु नित्य माना है । नित्य नूतन आकार धारण करनेपर भी उसके मूलतत्त्वका नाश नहीं होता ।

प्रश्न ६–प्रकृति किसे कहते हैं ? इसके उत्तरमें महर्षि कहते हैं—

अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः ।
तस्माद् यदन्यद् व्यक्तं वक्ष्यते चापरं द्वयम् ॥
(शा० १ । ५९)

आत्मा अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु और अव्यय (न्यूनताको प्राप्त न होनेवाला) है । इसके अतिरिक्त जो कुछ है, उसे अव्यक्त और व्यक्त प्रकृति कहते हैं ।

प्रकृति, महत्तत्त्व आदिका अनुभव यद्यपि इन्द्रियोंद्वारा नहीं होता तथापि लिङ्ग-ग्राह्य (अनुमानप्रमाणसे ग्रहण करने योग्य) होनेसे वह व्यक्त और अव्यक्त कहलाती है ।

चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता दोनोंमें विश्वका मूलतत्त्व अव्यक्त प्रकृति है, तथापि दोनोंकी दर्शायी हुई प्रकृति पृथक्-पृथक् है । सुश्रुतसंहिताकार स्पष्ट शब्दोंमें सांख्यदर्शित प्रकृतिका ही ग्रहण करते हैं, तब चरकसंहिताकारने आत्माकी अपरा प्रकृतिका ग्रहण किया है, यह निम्न वचनसे विदित होता है—

स गुणोपादानकालेऽन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते ।

यथा—

प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति । ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः । (शा० ४ । ८)

निर्विशेष आत्मा गुणों (भूतों) का ग्रहण करनेके समय पूर्वतर (पहले ही) इतर गुणोंसे अन्तरिक्ष (आकाश) का ग्रहण करता है । जैसे प्रलयके अन्तमें महाभूतोंकी सृष्टिकी रचना करनेकी इच्छावाला अविनाशी आत्मा सत्त्व (पराप्रकृति या महत्तत्त्वरूप) रूपोपादान कारणसे युक्त होकर पहले आकाशकी उत्पत्ति करता है । फिर क्रमशः आकाश-उपहित बनकर वायुकी, वायु-उपाधिको धारणकर अग्निकी, इस तरह आगे जल, पृथ्वी आदिकी सृष्टिका निर्माण करता है ।

छान्दोग्यश्रुतिके 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' (छां० अ० ६ २ । ३) कथनके अनुरूप ईक्षणपूर्वक रचना की है । ऐसा महर्षि आत्रेयने 'अणुना कालेन भवति' इस वचनसे स्वल्पकालमें सृष्टिकी रचना हो जानेका दर्शाया है, एवं यह रचना भी तैत्तिरीयश्रुतिकथित 'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथ्वी ।' (ब्रह्मा० वल्ली २ । १) के अनुरूप दर्शायी है । सांख्यदर्शनके समान प्रकृतिके परिणामरूप नहीं ।

प्रश्न ७—'विकाराः के' इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये महर्षिजी कहते हैं—

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः ।
मूलप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥
(शा० १ । ६१)

पञ्च सूक्ष्म महाभूत, बुद्धि, अपराप्रकृति, अहंकार—ये ८ तथा १६ विकार (५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ शब्द आदि विषय और मन), ये २४ तत्त्वोंके संयोगको क्षेत्र संज्ञा दी है, इनमें प्रकृतिको अन्य विकारोंका मूल और शेष २३ रहे, वे सब कार्य विकार हैं ।

यह कथन मुण्डकश्रुति (२ । १ । ३) तथा भगवद्गीता (अ० ७ । ४) के अनुरूप दर्शाया है, सांख्यका आश्रय नहीं लिया है ।

प्रश्न ८—पुरुषका चिह्न क्या है ? इस देहमें कोई अविकारी नित्य चैतन्य है, यह कैसे जान सके ? इसके उत्तरमें महर्षिजी कहते हैं—

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः ।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा ।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः ।
बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥
(शा० १ । ६८-७०)

प्राणापानौ (श्वासग्रहण और निःश्वासत्याग), निमेषोन्मेष, जीवन (देहमें सतत होनेवाला नैसर्गिक व्यापार), मनकी गति, भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंमें गमन, प्रेरणा, धारणवृत्ति (विपरीत विषयोंकी निरोधकवृत्ति), स्वप्नमें देशान्तरगति (देहके भीतर नूतन उत्पत्ति करके उस ओर गमन, बृ० उ० ४ । ३ । १०), स्वप्नमें मृत्युकी प्राप्तिका अनुभव, दायीं आँखसे देखे हुएका बायीं आँखको बोध (सव्यदृष्टस्येतरेण

प्रत्यभिज्ञानात्, न्या० ३।१।७ के अनुरूप), इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना (सामान्य ज्ञान या चेतनावस्था), धृति (मन, प्राण, इन्द्रियोंकी क्रियाका धारण, गीता अ० १८।३३), बुद्धि (निर्णय करनेवाली शक्ति), स्मृति और अहंकार,—ये सब चिह्न जीवितावस्थामें विदित होते हैं (इनके अतिरिक्त देहमें उष्णताकी भी प्रतीति होती है—अस्यैव चोपपत्तेरेष उष्मा—ब्रह्मसूत्र ४।२।१०)। भगवान् धन्वन्तरिजीने भी कर्मपुरुषके जीवित देहके निम्न १६ गुण दर्शाये हैं—

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनःसंकल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः। (शा० १।१७)

कर्मपुरुषका अस्तित्व होनेपर सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, श्वासग्रहण, श्वासत्याग, निमेषोन्मेष, निश्चयात्मक ज्ञानरूपवृत्ति, संशयात्मकवृत्ति, संकल्प, विचारणा (हित-अहित सोचना), स्मरण, विज्ञान (विविध कलाओंका अनुभूत ज्ञान), अध्यवसाय (बुद्धिका व्यापार) और शब्दादि विषयोंको जानना—ये १६ गुण प्रतीत होते हैं।

उक्त प्रश्नोंके समान आगे अग्निवेशाचार्यने अन्य प्रश्न भी पूछे हैं; उनका विचार अन्य लेखमें किया जा सकता है।

स्त्रियोंके लिये चार आवश्यक नियम

तीर्थयात्रा स्पेशलट्रेनके प्रसंगमें एक जगह एक सम्भ्रान्तकुलकी महिलाने आकर मुझसे कहा—'मैं आपसे एक बात पूछना चाहती हूँ। मैं चार चीजोंसे परहेज करती हूँ—(१) किसी महात्माका जूँठा प्रसाद नहीं खाती, (२) किसी महात्माका चरण धोकर नहीं पीती, (३) किसी महात्माका चरण-स्पर्श नहीं करती और (४) किसी भी पर-पुरुषको माला या हार नहीं पहनाती। मेरे साथकी बहिनें तथा भाई इसको मेरा बहुत बड़ा दोष बतलाते हैं और कहते हैं कि 'तुम यह पाप करती हो। तुम्हारी शरीरपर दृष्टि है, तुम आत्माका महत्त्व नहीं मानती इत्यादि।' उस बहिनने यह कहकर पूछा कि क्या यह पाप है ? क्या मैं ऐसा करके दोष करती हूँ ?'

मैंने उस बहिनसे कहा कि 'तुम्हारी चारों ही बातें आदर्श और शास्त्रसम्मत हैं। इनमें कोई भी दोष या पाप नहीं है। हाँ, इनके विपरीत करना दोष या पाप अवश्य हो सकता है। किसी भी पुरुष या स्त्रीका जूँठन खाना और उसका चरणधोवन पीना उचित नहीं है। इससे नाना प्रकारके रोग फैलते हैं; अनाचारका प्रचार होता है। मिथ्यावादी तथा ढोंगी लोगोंको सीधे-सादे नर-नारियोंको फुसलाकर अनुचित लाभ उठानेका अवसर मिलता है।

रहा चरण-स्पर्श और माला पहनाना, सो माता-पिताका चरण-स्पर्श करना, अपने स्वामीका चरण-स्पर्श करना तथा पत्नीकी हैसियतसे पतिको माला पहनाना अथवा आशीर्वादरूपसे पुत्रको माला पहनाना दोषकी बात नहीं है। बहिन भाईको भी माला पहना सकती है, परंतु आर्यनारीका आदर्श यही है कि वह न किसी परपुरुषका कभी स्पर्श करे, न किसी परपुरुषको माला ही पहनाये। ये भी अनाचारके सहायक सिद्ध हुए हैं।

अतएव इन चारोंका परहेज करके तुम बहुत ही श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित कर रही हो और अपने धर्मका पालन कर रही हो।

रही शरीरदृष्टिकी बात। सो शरीरदृष्टि तो असलमें गलेमें माला पहनने, चरण-स्पर्श कराने, चरणधोवन पिलाने तथा जूँठन खानेको देनेमें ही है; क्योंकि कण्ठ, चरण तथा मुख—ये अपवित्र, विनाशी तथा पाञ्चभौतिक शरीरके ही अङ्ग हैं।

मेरी इन बातोंसे बाई बहुत प्रसन्न हुई और फिर कई बाइयोंने इस बाईका अनुकरण करनेका नियम लिया। मैं समझता हूँ 'कल्याण'की पाठिका प्रत्येक माता-बहिनको इन चारों नियमोंका ग्रहण करना चाहिये—

१—परपुरुषका चरण-स्पर्श न करे।
२—परपुरुषका चरण-धोवन न पीवे।
३—किसीकी भी जूँठन न खाय।
और
४—परपुरुषके गलेमें हार न पहनावे।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

कामके पत्र

(१)

भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण ।

आपका कृपापत्र मिला । आपके प्रश्नोंके संक्षिप्त उत्तर निम्नलिखित हैं—

मैं भगवान् श्रीकृष्णको अखिल विश्वव्यापी, विश्वातीत, सर्वसद्गुणसागर, सर्वगुणाधार, गुणातीत, निर्गुण, निराकार, भगवत्स्वरूप, दिव्य सौन्दर्यमाधुर्यसुधाम्बुधि, सच्चिदानन्दघन परात्पर पूर्ण ब्रह्म मानता हूँ ।

उनको जो नारायणका, महाविष्णुका अवतार मानते हैं, वे सब यथार्थ ही मानते हैं । पूर्ण ब्रह्ममें सबका समावेश होता है ।

श्रीकृष्णको जो साक्षात् भगवान् या पूर्ण पुरुषोत्तम न मानकर महापुरुष मानते हैं, उनसे मेरा विरोध नहीं है । वे अपनी मान्यताके अनुसार मान सकते हैं । परंतु उनकी मान्यता सब लोग स्वीकार कर लें, यह आग्रह क्यों होना चाहिये ? स्वामीजी श्रीदयानन्दजी भगवान् श्रीकृष्णको महापुरुष मानते हैं, यह सत्य है और महात्मा गाँधीजी श्रीकृष्णके ऐतिहासिक पुरुष होनेमें संदेह करते हैं, यह भी सत्य है । ये अपनी-अपनी मान्यतामें स्वतन्त्र हैं । इसी प्रकार दूसरे भी स्वतन्त्र हैं । वरं श्रीकृष्णको भगवान् या अवतार माननेवालोंका पक्ष इनकी अपेक्षा निश्चय ही प्रबल है; इनकी केवल अपनी मान्यता भर है, उनके पास शास्त्र-प्रमाण है; क्योंकि जिन महाभारत और पुराणादि ग्रन्थोंमें श्रीकृष्णके लीलाचरित्रोंका वर्णन है, उन सभीमें उनको साक्षात् भगवान् या अवतार बतलाया गया है । गीतामें तो स्पष्ट ही उनकी भगवत्ताका वर्णन है। गीतापर जितने भी भाष्य या टीकाएँ संस्कृतमें हुई हैं, सभीमें उनको भगवान् या अवतार स्वीकार किया गया है। जिन ग्रन्थोंके आधारपर श्रीकृष्णका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, उन्हीं ग्रन्थोंके आधारपर उन्हें भगवान् मानना भी अनिवार्य है । एक ग्रन्थकी एक बात मानी जाय और दूसरी नहीं, यह कदापि न्यायसंगत नहीं है ।

स्वामीजी श्रीशङ्कराचार्यजीने भगवान् श्रीकृष्णको स्पष्ट रूपसे अवतार तथा भगवान् माना है । आपको उनके गीताभाष्यमें यह बात नहीं मिली, यही आश्चर्य है । श्रीशङ्कराचार्यके स्तोत्रग्रन्थोंमें भी श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् मानकर सैकड़ों जगह स्तुति की गयी है । गीताभाष्यमें देखिये—

भाष्यभूमिकामें श्रीशङ्कराचार्य लिखते हैं—

'…स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुर्भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवाद् अंशेन किल सम्बभूव ।'

× × × ×

'स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नः त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजः अव्ययो भूतानाम् ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः अपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् इव लक्ष्यते ।'

'….वे आदिकर्ता नारायण नामक श्रीविष्णुभगवान् भूलोकके ब्रह्म (ब्राह्मण) के ब्राह्मणत्वकी रक्षा करनेके लिये श्रीवसुदेवजीसे श्रीदेवकीमें अपने अंशसे श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए ।'

'ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदिसे सदा सम्पन्न वे भगवान् यद्यपि अज, अविनाशी, सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर और नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव हैं, तथापि अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति वैष्णवी मायाको वशमें करके अपनी लीलासे शरीरधारीकी तरह उत्पन्न हुए-से और लोगोंपर अनुग्रह करते-से दीखते हैं ।'

गीता चतुर्थ अध्यायके पञ्चम श्लोककी उत्थानिकामें श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

'या वासुदेवे अनीश्वरा सर्वज्ञाशङ्का मूर्खाणां तां परिहरन् श्रीभगवानुवाच यदर्थो हि अर्जुनस्य प्रश्नः…'

'भगवान् वासुदेवके सम्बन्धमें (दुर्योधन-शकुनि आदि) मूर्खोंकी जो ऐसी शङ्का है कि 'ये ईश्वर तथा सर्वज्ञ नहीं हैं तथा जिस शङ्काको दूर करनेके लिये ही

अर्जुनका यह प्रश्न है, उसका निवारण करते हुए भगवान् बोले ।

इससे स्पष्ट है कि श्रीशङ्कराचार्यने भगवान् श्रीकृष्णको ईश्वर तथा अवतार माना है । इसी प्रकार अन्यान्य सभी आचार्योंने इन्हें भगवान् माना है । महात्मा श्रीगाँधीजीने नहीं माना, इसलिये पूर्वाचार्यों, प्रकाण्ड विद्वानों एवं अनुभवी भक्तोंके अनुभवकी तथा अपनी मान्यताकी अवहेलना करके सब लोग श्रीकृष्णको भगवान् मानना छोड़ दें—यह कथन तो श्रीगाँधीजीको भी स्वीकार नहीं हो सकता ।

महात्मा श्रीगाँधीजीने श्रीकृष्णको भगवान् क्यों नहीं माना, इसका उत्तर तो वे ही दे सकते हैं । मैं क्या उत्तर दूँ ।

इसी प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रको भी मैं श्रीकृष्णकी भाँति ही पूर्णब्रह्म परात्पर भगवान् मानता हूँ । रामचरितमानसको पढ़कर भी महात्मा गाँधीजी श्रीरामको भगवान् स्वीकार क्यों नहीं करते, इसका उत्तर मैं क्या दूँ । श्रीगाँधीजीके राम निर्गुण निरञ्जन राम हैं—यह सत्य है । श्रीतुलसीदासजीके राम भी निर्गुण निरञ्जन राम हैं, पर वे साथ ही दशरथनन्दन कौसल्यासुवन सीतापति श्रीरामभद्र भी हैं—

श्रीतुलसीदासजीके समस्त ग्रन्थ इस सिद्धान्तसे परिपूर्ण हैं—श्रीरामचरितमानसके निम्नलिखित कुछ शब्दोंपर आप कृपया ध्यान दीजिये—

राम सच्चिदानंद दिनेसा । नहिं तहँ मोहनिसा लवलेसा ॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना । परमानंद परेस पुराना ॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नाएहु माथ ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥
राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी । सर्बरहित सब उर पुर बासी ॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ बिधि नाना ।
आननरहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा ॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान ॥
बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार ।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ॥
ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद ॥

ऐसे सैकड़ों प्रमाण-वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं ।

इसी प्रकार प्राचीन संस्कृतके रामायण ग्रन्थोंमें, पुराणोंमें, महाभारत आदिमें भी श्रीरामचन्द्रको साक्षात् भगवान् या अवतार कहा गया है ।

संसारमें मनुष्य उन्नति करते-करते जब उच्च शिखरपर पहुँच जाता है, तब उसे 'अवतार' कहने लगते हैं, यह बात ठीक नहीं है । 'अवतार' शब्दसे ही यह सिद्ध नहीं होता । अवतारका अर्थ है—अवतरण—उतरना और चढ़नेको कहते हैं आरोहण ।

रही आपकी बात सो आप अपने इच्छानुसार मान सकते हैं; परंतु मेरी समझसे तो भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् श्रीरामको सच्चिदानन्दघन साक्षात् परब्रह्म मानना ही यथार्थ मानना है । आपने मेरे विषयमें पूछा, सो मैं ऐसा ही मानता हूँ । लोग मुझे अन्ध-विश्वासी और अज्ञानी कहेंगे, तो कहें—इसके लिये मैं क्या कर सकता हूँ ।

आप स्वस्थ और सानन्द होंगे । शेष भगवत्कृपा ।

(२)

चमत्कारसे सावधान रहिये

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण ।

आपका पत्र मिला । उत्तरमें निवेदन है कि जो लोग आपका गुणगान करते हैं, आपके अनुकूल ही सब बातें करते हैं, आपकी हाँ-में-हाँ मिलाते हैं, आपको व्यसनोंमें लगाते हैं, आपको इन्द्रिय-सुख तथा सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिका प्रलोभन देते हैं अथवा चमत्कार दिखाकर तुरंत भगवान्‌को मिला देनेकी बात कहते हैं—उनसे सदा सावधान रहना चाहिये ।

आपने जो चमत्कारकी बातें लिखी हैं—भगवान्‌का

प्रत्यक्ष प्रसाद मँगा देना, भगवान्‌के साक्षात् दर्शन कराना, भगवान्‌की दिव्य-ज्योतिके दर्शन कराना, भगवान्‌की आरती दिखाना और खास करके तरुणी स्त्रियोंको ही इन सब भगवत्कृपाओंकी अधिकारिणी बताना-- मेरी समझसे तो धोखामात्र है। मुझे ऐसे कई प्रसङ्गोंका पता है, जहाँ लोग ऐसे चमत्कारोंके नामपर बुरी तरह ठगे गये हैं। आपको सावधान हो जाना चाहिये तथा अपने यहाँके लोगोंको खास करके स्त्रियोंको सावधान कर देना चाहिये। नहीं तो वे बुरी तरह चमत्कारके चंगुलमें फँसकर अपने धन-धर्मका नाश कर सकती हैं।

वे महात्मा पूजा करवाते हैं, धन भी प्रकारान्तरसे खूब लेते हैं। लोग उन्हें भगवान् मानते हैं—यह सब भी खतरेकी चीजें हैं।

साधु-सेवा करना तथा साधुसङ्गसे लाभ उठाकर भगवान्‌के भजनमें प्रवृत्त होना तो मनुष्यमात्रके लिये आवश्यक कर्तव्य है, पर जहाँ स्त्री तथा शरीर-पूजाकी माँग हो, वहाँ सावधान हो जाना चाहिये, चाहे वहाँ भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन करानेकी ही बात कही जाती हो।

संध्या-वन्दन प्रतिदिन कम-से-कम दोनों समय करना चाहिये। कम-से-कम एक माला गायत्रीका जप द्विजमात्रको करना चाहिये। जो महात्मा संध्या-गायत्रीके त्याग, सदाचारके त्याग तथा शास्त्रोंको न माननेका आदेश देते हैं, उनसे भी सावधान रहना चाहिये। फिर जो असत्य तथा छलका उपदेश देते हों, सदाचारके त्यागको तथा यथेच्छाचारको ही प्रेम बताते हों, भगवान्‌के नामके बदले अपने नाम तथा भगवान्‌के स्वरूपके बदले अपने स्वरूपका ध्यान करनेकी बात कहते हों, उनसे तो विशेष सावधान रहना है।

समय कलियुगका है। सभी ओर दम्भ छाया है। भेड़की खालमें भेड़िये घुसे हैं, संतके नामपर लोभी, लालची सर्वत्र फैल रहे हैं, साहूकारके नामसे चोरोंका बाजार चल रहा है। इस समय विशेष सावधानी रखिये।

बस, भगवान्‌का भजन कीजिये, सदाचारका पालन कीजिये। माता-पिताकी सेवा कीजिये। प्रभु-प्रीत्यर्थ घरका काम सचाई, ईमानदारी तथा परिश्रमसे कीजिये। इसीमें कल्याण है, शेष भगवत्कृपा।

'सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा'

(रचयिता—श्रीहरिशङ्करजी शर्मा)

कर-कर तुम सुखकी याद व्यर्थ रोते हो,
भौतिक भावोंपर क्यों गति-मति खोते हो,
निज कर्मोंपर अधिकार तुम्हें रखना है,
कर्मानुसार ही निश्चित फल चखना है,
यह कर्मवादका स्रोत सदैव बहेगा—
सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा।

जीवनमें सुख-दुखका समान डेरा है,
यों हर्ष-विषादोंने यह जग घेरा है,
अज्ञानी व्याकुल होते—घबराते हैं,
ज्ञानी जन कष्टोंमें भी सुख पाते हैं,
है वीर वही जो द्वन्द्व सहर्ष सहेगा—
सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा।

व्याकुल होनेसे कष्ट न कट सकते हैं,
रोने-धोनेसे नेक न बट सकते हैं,
जो भोग-भाग्य है, उससे कौन बचा है,
वह तो निज कर्मोंने ही स्वयं रचा है,
क्यों व्यथित हो रहा, कायर जगत् कहेगा।
सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा॥

कष्टोंका स्वागत करो कसौटी जानो,
दृढ़ता, सहिष्णुताका महत्त्व पहचानो,
तप-त्याग साधना संकटमें मुसकाना,
सुख-दुख दोनोंमें समता भाव दिखाना,
है कौन न जो इस गतिको धन्य कहेगा—
सुख नहीं रहा तो दुख भी नहीं रहेगा

जनवरी १९५६ का नया विशेषाङ्क संत-कथा-अङ्क

अभीतक मिलता है । ग्राहक बनने-बनानेवालोंसे प्रार्थना है कि वार्षिक चंदा ७।।) मनीआर्डरसे भेज दें अथवा वी० पी० द्वारा विशेषाङ्क भेजनेकी आज्ञा देनेकी कृपा करें । सजिल्दका मूल्य ८।।।) है ।

'कल्याण'के पुराने प्राप्य नौ विशेषाङ्क

१३ वें वर्षका मानसाङ्क—(पूरे चित्रोंसहित)—पृष्ठ ९४४, चित्र बहुरंगे सुनहरी ८, दुरंगे सुनहरी ४, तिरंगे ४६, इकरंगे १२०, मूल्य ६।।), सजिल्द ७।।।) ।

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द)—पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०) ।

१८ वें वर्षका संक्षिप्त वाल्मीकीय रामायणाङ्क—पृष्ठ-संख्या ५३६, रेखाचित्र १३७ (फरमोंमें), सुन्दर बहुरंगे चित्र १४, इकरंगे हाफटोन सुन्दर चित्र ११, मूल्य ५≡), सजिल्द ६≡) ।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६≡), सजिल्द ७।≡) मात्र ।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६।।), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य ।

२६ वें वर्षका भक्त-चरिताङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ १५१२, लेख-संख्या ७३९, तिरंगे चित्र ३६ तथा इकरंगे चित्र २०१, मूल्य ७।।) मात्र ।

२७ वें वर्षका बालक-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८१६, तिरंगे तथा सादे बहुसंख्यक चित्र, मूल्य ७।।) ।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या १५२४, चित्र तिरंगे ३१, इकरंगे लाइन १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७।।), सजिल्दका ८।।।) ।

२९ वें वर्षका संतवाणी-अङ्क—पृष्ठ ८००, चित्र सुनहरी ४, तिरंगे ८०, संतोंके छोटे चित्र १४०, मूल्य ७।।) ।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दका चैत्रकृष्ण ६ तारीख १ अप्रैलके लगभग ऋषिकेश, गीता-भवनमें पहुँचनेवाले हैं। सदाकी भाँति उनका आषाढ़तक वहाँ ठहरनेका विचार है। सत्सङ्गके लिये आनेवाली स्त्रियोंको ससुराल या पीहरके आदमीको साथ लिये बिना अकेले नहीं आना चाहिये। गहने आदि जोखिमकी कोई चीज साथ नहीं लानी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ लावें, जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेका प्रबन्ध कर सकते हों; क्योंकि बच्चोंके कारण सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी चीजोंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जाता है, किंतु दूधका प्रबन्ध होना बहुत कठिन है।

प्रेमी ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

(१) जिन ग्राहकोंके रुपये मनीआर्डरसे आ गये थे, उनको रजिस्टर्ड-पोस्टसे जनवरीका सत्कथा-अङ्क तथा मार्चतकके दो साधारण अङ्क प्रायः भेजे जा चुके हैं। जिनको अबतक न मिले हों, वे तुरंत पत्र लिखें। पत्रमें रुपये भेजनेवालेका नाम-पता वही लिखें, जो मनीआर्डरमें लिखा था। रुपये भेजनेकी तारीख भी अवश्य लिखें। रुपयोंकी रसीद अथवा उसकी नकल भेज सकें तो शीघ्र पता लग जायगा। रसीद न मिली हो तो डाकखानेमें जरूर शिकायत कर दें।

(२) जिनके रुपये नहीं आये थे, उनको 'सत्कथा-अङ्क' वी० पी० द्वारा भेजा गया था और उनमें जिनके वी० पी० के रुपये हमें मिल गये, उनको मार्चतकके दोनों अङ्क भेजे जा चुके हैं। अबतक न मिले हों तो अपने डाकखानेमें पता लगावें तथा हमें भी कृपया तुरंत सूचना दें।

(३) पुराने ग्राहकोंको भेजी हुई जो वी० पी० वापस लौटी हैं, उनमेंसे कुछ तो ऐसी हैं, जिनकी सूचनातक ग्राहकोंको डाकखानेसे नहीं मिली थी कि उनके नाम कोई वी० पी० आयी है। कुछ ऐसी हैं कि ग्राहक महोदय संयोगवश डाकखाने एक दो दिन देरसे पहुँचे और तबतक वी० पी० वापस लौट गयी। ऐसे ग्राहक प्रायः कल्याण पढ़ना चाहते हैं, इसलिये उनसे निवेदन है कि वे ७॥) रुपये निःसङ्कोच मनीआर्डरसे भेजकर 'सत्कथा-अङ्क' के ग्राहक बन जायँ या हमें वी० पी० से भेजनेका आदेश दें।

(४) कुछ सज्जन थोड़े-थोड़े दिनोंके लिये पता बदलवाते हैं, इससे बार-बारकी काट-छाँटसे ग्राहक-रजिस्टरका पृष्ठ भद्दा हो जाता है; पहलेसे छपे हुए पतेकी स्लिपको अङ्क भेजते समय सुधारना पड़ता है, जरा भी भूल रह जाती है तो ग्राहकको अङ्क नहीं मिलता। अङ्क गुम हो जानेसे ग्राहकको असंतोष होता है तथा शिकायत मिलनेपर हमें दुबारा अङ्क भेजना पड़ता है। इसलिये स्थायी रूपसे या बहुत लंबे समयके लिये स्थान-परिवर्तन करनेपर ही पता बदलवाना चाहिये। पता बदलनेकी सूचना देते समय ग्राहक-नंबर, पुराना और नया पता पूर्णरूपसे साफ अक्षरोंमें कम-से-कम १५ दिन पूर्व अवश्य लिखना चाहिये। थोड़े समयके लिये पता बदलवाना हो तो अपने डाकखानेको लिख देना चाहिये। या पता न बदलवाकर अपने स्थानीय सुहृद्-बन्धुसे कहकर व्यवस्था करा लेनी चाहिये।

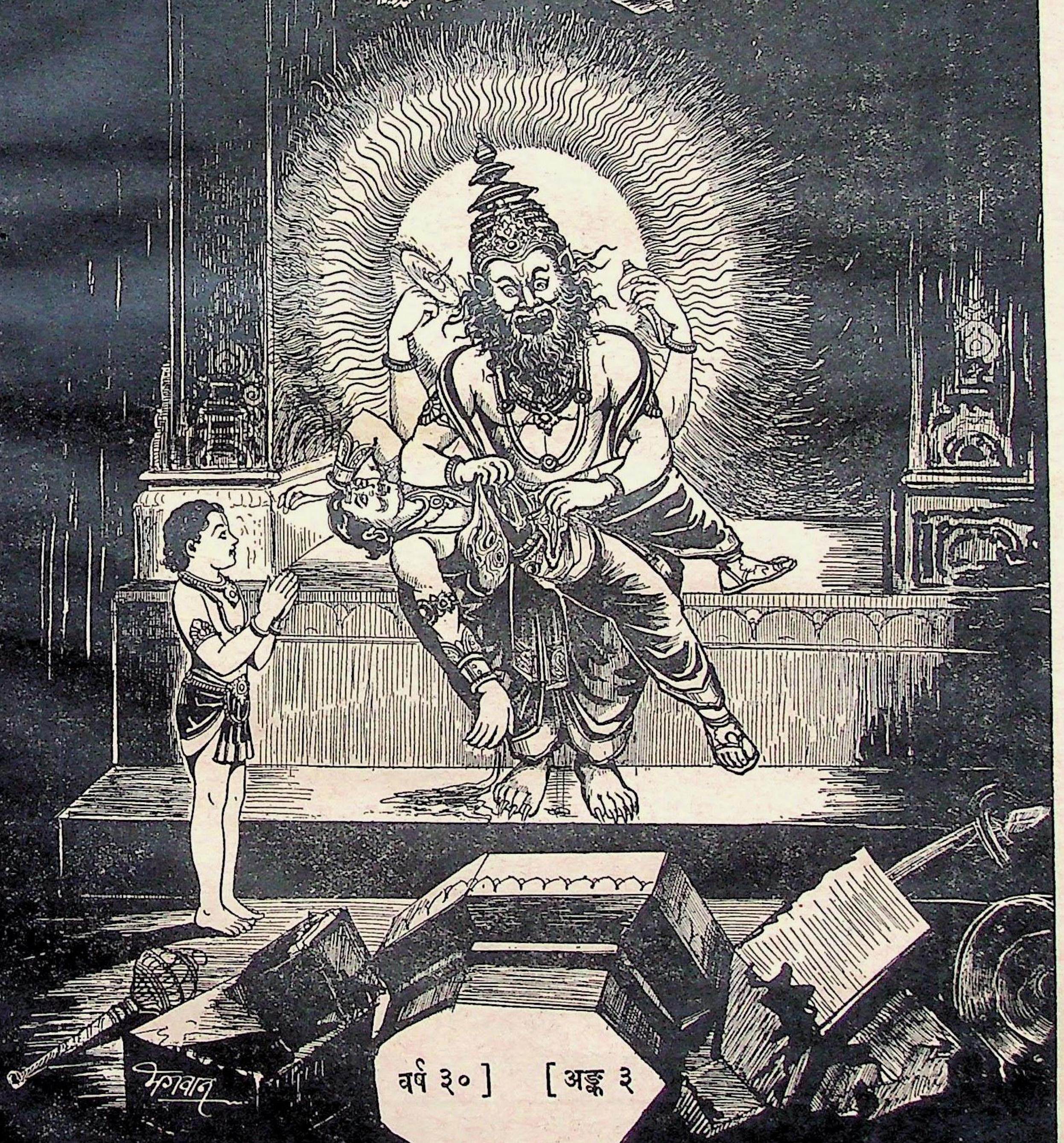
कृपाकर ग्राहकनंबर नोट करना न भूलें।

प्रत्येक कृपालु प्रेमी पाठक महाशयकी सेवामें हम बार-बार प्रार्थना करते आये हैं कि वे अपना-अपना ग्राहक-नंबर नोट कर लें और पत्र-व्यवहार करते या रुपया भेजते समय अवश्य लिखें, परंतु अब भी कई पत्र और मनीआर्डर बिना ग्राहकनंबरके आते हैं। अतः हमारी पुनः-पुनः विनम्र प्रार्थना है कि सब सज्जन अपना ग्राहकनंबर जो 'कल्याण' के रैपरपर उनके पतेके पास लिखा रहता है अवश्य नोट कर लें और पत्र-व्यवहार आदि करते समय अवश्य लिखें।

ग्राहक-नंबर

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण



हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र २०१२, मार्च १९५६

चित्र-सूची

तिरंगा

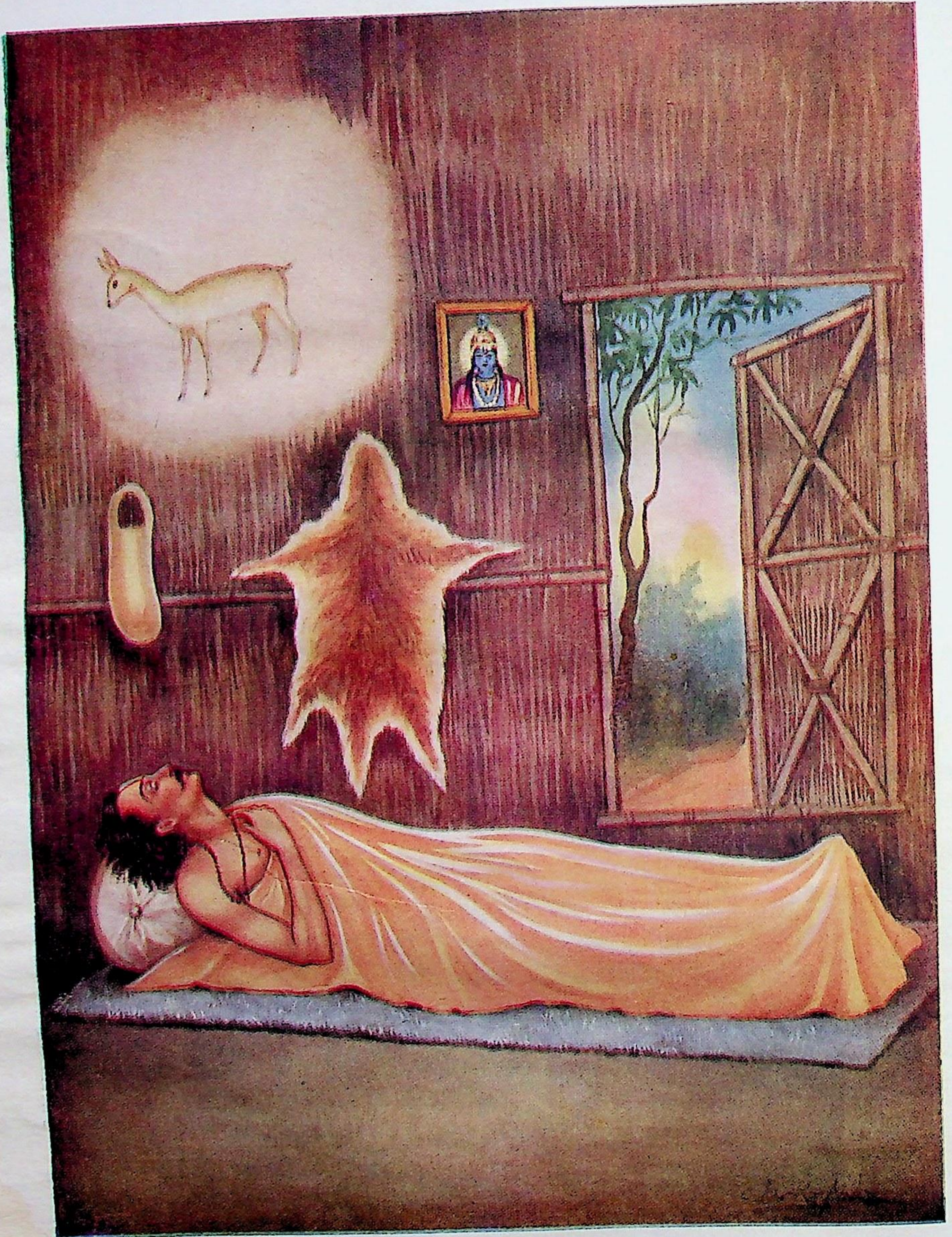
वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≈) विदेशमें ॥−) (१० पेंस)

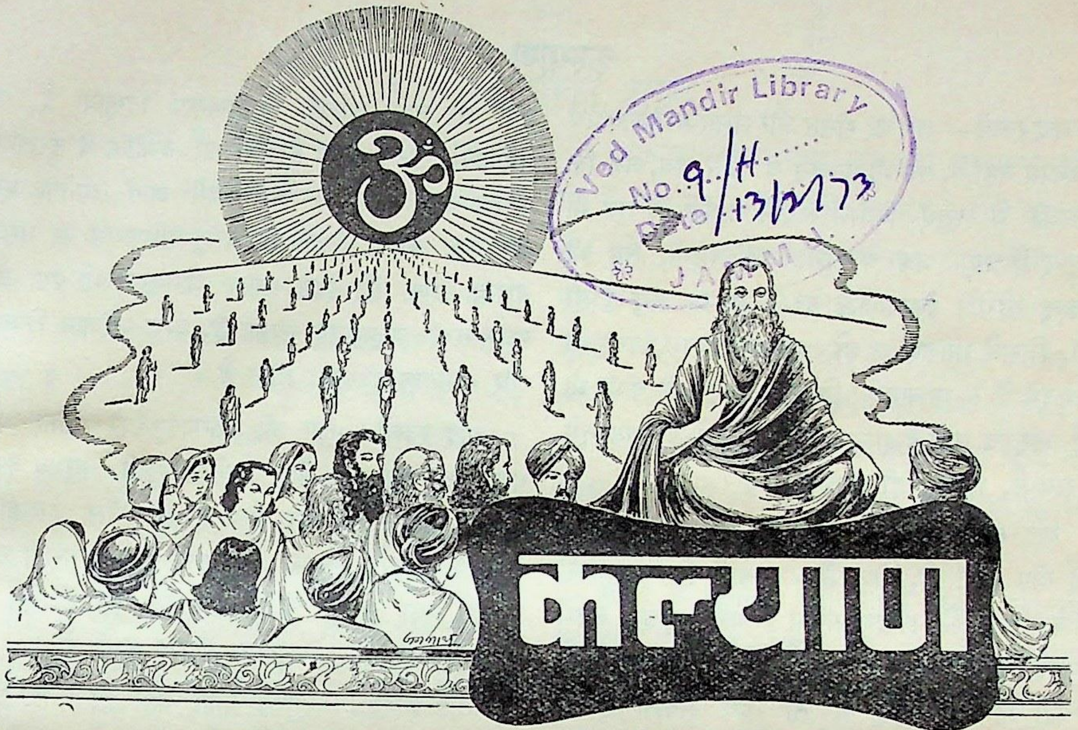
सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



अन्त मति सो गति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर चैत्र २०१२, मार्च १९५६ { संख्या ३ पूर्ण संख्या ३५२

अन्त मति सो गति

मानव जिसका सदा स्मरण करता जीवनमें ।
अंतकालमें वही वस्तु रहती है मनमें ॥
वही दीखती ऊपर-नीचे बाहर-भीतर ।
उसी वस्तुको पाता निश्चय मानव मरकर ॥
भरत अंतमें दर्शन पाते हैं शिशु-मृगका ।
इसीलिये पायेंगे ये शरीर फिर मृगका ॥
इससे जो नर सर्वकाल भजता नरहरिको ।
अर्पितकर मन-मति निश्चय वह पाता हरिको ॥

याद रक्खो—जब यह संसार और संसारके प्राणिपदार्थ इस रूपमें नहीं थे, तब भी भगवान् थे और अब, जब कि संसारकी ये वस्तुएँ विभिन्न रूपोंमें प्रकट हैं, तब भी भगवान् हैं तथा जब ये पुन: नहीं रहेंगी, तब भी भगवान् रहेंगे। ऐसा कोई देश, काल या वस्तु है ही नहीं, जिसमें भगवान् न हों, वरं देश, काल, वस्तु ही भगवान्‌में हैं। भगवान्‌के बिना किसीका भी कभी भी कोई अस्तित्व नहीं है। भगवान् सबमें भरे हैं, भगवान्‌में ही सब हैं, भगवान् ही भगवान् हैं।

याद रक्खो—संसार और संसारके प्राणिपदार्थोंमें कोई दोष नहीं है, दोष है—तुम्हारी विषयवासनामें, भोगकामनामें और इन्द्रियासक्तिमें। यदि तुम्हारे मनमें भोगोंकी वासना, कामना और उनमें आसक्ति नहीं है तो कोई भी भोग तुम्हें न तो बाँध सकता है, न तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट ही कर सकता है।

याद रक्खो—भोगसेवनमें आसक्ति न हो, भोग-सुखकी कामना न हो तो प्रत्येक भोग भगवान्‌की पूजन-सामग्री बन जाता है और फिर वह अपनी नगण्य सत्ता-को भगवान्‌की महान् तथा अनन्त सत्तामें खो देता है। सुख-शान्ति तो फिर स्वरूपगत हो जाती है।

याद रक्खो—तुम सुख-शान्ति चाहते हो। सभी चाहते हैं। पर सुख-शान्ति जहाँ है, वहाँ कोई नहीं जाना चाहता। वरं उल्टे उसके विपरीत मार्गपर चलता है। समस्त सुखोंके, शान्तिके मूल केन्द्र हैं श्रीभगवान्। जो उनको अपना सुहृद् मान लेता है, उसे तुरंत सुख-शान्ति मिल जाते हैं। जो सारी कामना-स्पृहा तथा ममता-अहंकारको भगवान्‌में समर्पितकर भगवान्‌का हो जाता है, उसे तुरंत सुख-शान्ति मिलते हैं। पर यदि तुम भगवान्‌को भूलकर केवल भोगोंसे ही सुख-शान्ति चाहोगे तो तुम्हें निराश ही होना पड़ेगा।

याद रक्खो—भगवान्‌से रहित जितने भी भोग हैं, एक बार चाहे भ्रमवश वे सुखरूप दिखायी दें, पर परिणाममें उनसे दु:ख ही मिलेगा; क्योंकि वे दु:खोंको उत्पन्न करनेवाले हैं। जैसे घरमें आग लगनेपर एक बार बड़ा प्रकाश दीखता है, परंतु परिणाममें वह घरका नाशक होता है; इसी प्रकार भोग-सुख भी एक बार मधुर तथा उल्लासप्रद लगता है, परंतु परिणाम विषवत् और भयानक दु:खप्रद होता है।

याद रक्खो—तुम जो भोगपदार्थोंको पाकर एक बार भूल जाते हो और अपनेको सुखी अनुभव करते हो, सो तुम्हारा वह सुख ऐसा ही है, जैसा शराबीको शराबके नशेमें अनुभव होनेवाला सुख। शराबी गंदी नालीमें पड़ा सुखके गीत गाता है, वैसे ही तुम भी भोगमदमें चूर हुए भोगसुखका बखान करते हो।

याद रक्खो—वस्तुकी प्राप्ति वहीं होती है, जहाँ वह होती है। बालूसे तेल नहीं निकलता, जलसे भी नहीं निकलता। सूर्यसे अन्धकार नहीं निकलता। चन्द्रमासे अग्नि नहीं निकलती। वैसे ही सुख-शान्ति भगवान्‌के बिना और कहींसे नहीं मिल सकती; क्योंकि और कहीं भी वह है नहीं।

याद रक्खो—भगवान्‌में जो स्वरूपभूत सुख-शान्ति है, वही असली सुख-शान्ति है। संसारके सुख-शान्ति तो ऊपरसे मधुर प्रतीत होते हुए जहरभरे लड्डू ही हैं, जो अंदर जाकर एक भीषण जलन उत्पन्न कर देते हैं तथा सर्वस्वका विनाश करते हैं।

याद रक्खो—जो लोग भगवान्‌में ही लगे हैं, केवल भगवान्‌से ही सुख-शान्ति चाहते हैं, जिनका ऐसा दृढ विश्वास है कि सुख-शान्ति भगवान्‌के सिवा और कहीं है ही नहीं, उनका भगवान्‌को छोड़कर न तो और कहीं मन जाता है, न श्रद्धा ही होती है। उनके सम्पर्कमें आनेवाले सारे विषय—विषयासक्तिके पदार्थ न रहकर भगवान्‌की दिव्य अनुभूति करानेवाले बन जाते हैं।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

दुःखका स्वरूप है किसी-न-किसी प्रकारके अभाव-का दर्शन। उस अभावकी पूर्तिके लिये प्राणी आदरके रूपमें, प्यारके रूपमें या वस्तुके रूपमें दूसरोंसे आशा करते हैं, जो स्वयं दुखी हैं—अर्थात् प्राणी उनसे आदर, प्यार और वस्तुएँ चाहते हैं, जो स्वयं अभावमें आवद्ध हैं। यह एक नवीन दुःखकी तैयारी है। भाव यह कि व्यक्ति, वस्तु, अवस्था और परिस्थितिके द्वारा प्राणी अपने दुःखको घटाना या नष्ट करना चाहता है पर ये सभी स्वयं दुःखमें ग्रस्त हैं (परिवर्तनशील होने-के कारण अनित्य और अभावरूप हैं)। इसलिये इनसे दुःखकी निवृत्तिकी आशा करना अर्थात् अभावपूर्तिकी आशा करना नये दुःखकी तैयारी है; क्योंकि आशा ही तो दुःख (अभाव) का कारण है।

अतः साधकको चाहिये कि इनसे निराश हो जाय। पर जो निराशा शोक उत्पन्न कर देती है, वह साधकके कामकी नहीं है।

साधारण प्राणी जब आशाकी पूर्ति नहीं होती, तब निराश होकर अपनेको अभागा समझते हैं अथवा दूसरोंको दोष देने लगते हैं। उक्त प्रकारसे समस्त जगत्से निराश होकर अपने व्यक्तित्वकी आशा रखना दूसरोंमें वैरभाव उत्पन्न कर देता है। व्यक्तित्वके बलपर दूसरोंसे निराश होनेवालेमें मिथ्याभिमान पैदा हो जाता है।

अतः साधकको चाहिये कि पहले व्यक्तिभावसे निराश हो जाय। मन, प्राण, बुद्धि और इन्द्रियोंका समूह ही व्यक्तित्व है। अतः साधकको इन सबकी आशा त्याग करके इनसे विमुख हो जाना चाहिये। भाव यह कि ये सब स्वयं अभावपूर्ण हैं, अतः इनसे अभावपूर्तिकी आशा करना प्रमाद है, अतः साधकको सबसे निराश हो जाना चाहिये।

हरेक कार्य करते समय साधकको समझना चाहिये कि मैं यह अपने प्रियतमकी प्रसन्नताके लिये कर रहा हूँ। यदि कोई कमरेमें झाड़ू लगानेका या उससे भी तुच्छ दूसरा कार्य करे तो भी समझे कि यह मेरे प्रियतमका आदेश है। यह समझकर उसके प्रेममें विभोर हो जाय। विधानके अनुसार कार्यमें भेद होना अनिवार्य है, पर प्रीतिमें भेद नहीं होना चाहिये। यह कभी नहीं समझना चाहिये कि अमुक कार्य तो छोटा है, मेरी योग्यताके अनुरूप नहीं है।

किसी भी सुखरूप परिस्थितिकी प्राप्तिमें साधकको यह नहीं समझना चाहिये कि यह मेरी योग्यताका प्रभाव है, योग्यताका प्रभाव मानते ही अभिमान और आसक्ति उत्पन्न हो जायँगे, जिनसे चित्त अशुद्ध हो जायगा।

साधकको समझना चाहिये कि उस अनन्तने कृपा करके मेरे स्वार्थभावको गलानेके लिये, सेवाके लिये यह साधन प्रदान किया है; भाव यह कि मेरा स्वार्थ गलानेके लिये ही उन्होंने स्वयं सब प्रकारसे पूर्ण होते हुए भी अपूर्णताका वेष धारण किया है और मुझे सेवा करनेका अवसर दिया है।

इस प्रकार समझकर यदि साधक प्रत्येक परिस्थितिमें उनकी महिमाका दर्शन करे और अन्तमें उनका दिया हुआ सब कुछ उनके समर्पण कर दे तो समर्पणकालमें प्रीति-का उदय तथा वस्तु और इन्द्रिय आदि प्राप्त शक्तिके उपयोग-कालमें उनकी सेवा—इस प्रकार ये दोनों दायें-बायें पैरकी भाँति प्रेममार्गमें चलनेके लिये साधन बन जायँ। ऐसा होने-पर साधकको सचमुच उनकी कृपाका अनुभव हो जाता है और वह उनके प्रेममें निमग्न हो जाता है।

प्रवृत्ति अर्थात् प्राप्त सामर्थ्यका उपयोग प्रीतिका उपयोगकाल है और निवृत्ति उसका उदयकाल है।

भाव यह कि निवृत्तिकालमें नित्य नयी प्रीतिका उदय होता है और प्रवृत्तिकालमें वह दृढ़ होती है। प्रवृत्तिके अन्तमें निवृत्ति निश्चित है, अतः साधकको चाहिये कि प्रवृत्ति और निवृत्तिकालमें उपर्युक्त प्रकारसे वह निरन्तर उनके साथ रहनेका, उन्हींमें रमण करनेका स्वभाव बना ले। अर्थात् हर समय यह अनुभव होता रहे कि मैं उनका प्रीतिपात्र होकर उन्हींके साथ हूँ। यही चित्तकी शुद्धि है।

यदि साधकको यह भासता है कि कभी तो मैं उनके साथ हूँ और कभी किसी दूसरेके साथ हूँ तो उसे समझना चाहिये कि व्यक्तित्वका मोह है। इस मोहका प्रकाशन दूसरे व्यक्तियोंके द्वारा तब होता है, जब साधक दूसरे व्यक्तियोंके साथ व्यवहार करते समय समझता है कि मेरा इनमें मोह हो गया है; क्योंकि वह उस समय किसीसे तो मिलना चाहता है और किसीसे अलग होना चाहता है। यही द्वन्द्व है।

चित्त शुद्ध करना हो तो साधकको चाहिये कि प्रत्येक परिस्थितिके द्वारा उस अनन्तको लड़ाता रहे अर्थात् प्रीतिका रस प्रदान करता रहे। भाव यह कि उनका खिलौना बना रहे।

भूल यह होती है कि प्राणी अनेक साथी बनाता रहता है, केवल उस अनन्तका होकर नहीं रहता; अतः उन साथियोंके द्वारा प्यार और तिरस्कार, आदर और अनादर आदि द्वन्द्व मिलते रहते हैं। इस प्रकार प्राणी इस साधनयुक्त मानव-जीवनको नष्ट कर देता है।

चित्त शुद्ध करके जीवनको सफल बनाना हो तो साधकको चाहिये कि एकमात्र उन्हींके होकर रहने और उन्हींकी सेवा करनेको अपना उद्देश्य बना ले। सेवककी दृष्टिमें सेवाका सम्बन्ध अपने सेव्यसे ही रहता है, संसारसे नहीं।

सेवा करते समय साधकको समझ लेना चाहिये कि सेवाका फल सेवा ही है, उसका कोई दूसरा फल नहीं है; अतः सेवा ही साध्य है और सेवा ही साधन है। भाव यह है कि जबतक स्वार्थ सर्वथा नहीं गल जाता तबतक तो सेवा साधन है, जब स्वार्थ सर्वथा गल जाता है, तब वह सेवा ही साध्य बन जाती है अर्थात् साधकका प्रियतमसे नित्य नव-मिलन होता रहता है। स्थायी मिलन तो ज्ञानसे होता है जो निर्विशेषके साथ होता है।

नित्य नव-मिलन प्रीतिका हेतु है। यह प्रत्येक परिस्थितिमें रसमय है। इसमें नीरसताका अत्यन्त अभाव हो जाता है। उस समय जो भी अभावयुक्त हैं, उन सबसे सम्बन्ध टूट जाता है।

अपना व्यक्तित्व ही अभावयुक्त है, इससे सम्बन्ध टूटते ही चित्तमें शुद्धि और शान्ति आ जाती है। शान्तिसे सामर्थ्य और शुद्धिसे सरसता आ जाती है। शान्ति और शुद्धि साथ-साथ रहती है। शान्ति सामर्थ्यकी प्रतीक है। सामर्थ्यसे दोषोंकी निवृत्ति होती है। शुद्धि शान्तिको पुष्ट करनेवाली है। इस प्रकार दोनों एक दूसरेकी वृद्धिमें हेतु हैं। शुद्धिका प्रतीक है किसीका बुरा न चाहना और शान्तिका प्रतीक है चाहरहित होना। दोनोंमेंसे कोई भी पहले हो सकती है। एकके पीछे दूसरी अपने-आप आ जाती है।

सुखमय परिस्थितिमें सर्वहितकारी भाव आ जाय और दुःखमय परिस्थितिमें चाहरहित भाव आ जाय तो शान्ति और शुद्धि अपने-आप आ जाती हैं। दोनोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनोंकी प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है।

जीवनमें अशुद्धि बढ़ती है अपने प्रति बुराई करनेवालेका भला न चाहनेके कारण। यदि साधक बुराई करनेवालेका भला चाहने लग जाय तो सहजमें उसका ही चित्त शुद्ध हो जाय। यह चित्तशुद्धिके लिये उच्चकोटिका साधन है।

शान्तिकी प्राप्ति तब होगी, जब साधक किसीसे भी कुछ न चाहेगा। भाव यह कि जगत्से, समाजसे, गुरुसे और शरीरसे भी कुछ न चाहे; इतना ही नहीं भगवान्‌से

भी कुछ न चाहे। इस प्रकार चाहरहित होनेपर शान्ति और सामर्थ्य अपने-आप सिद्ध हो जायँगी।

कोई कहे कि भगवान्‌से क्यों नहीं माँगना चाहिये? तो इसका उत्तर यह है कि भगवान् बड़े उदार हैं। हम जो कुछ माँगेंगे वह उससे कम ही होगा जो बिना माँगे उनकी ओरसे अपने-आप मिलेगा। इस दृष्टिसे माँगनेमें घाटा ही है, अतः माँगनेकी अपेक्षा न माँगना ही अच्छा है।

इस विषयमें यह आशङ्का मनमें नहीं करनी चाहिये कि मुझे किसीसे कुछ नहीं माँगना चाहिये—इस भावको लेकर अभिमान हो जायगा; क्योंकि अभिमानका जन्म परके सम्बन्धसे होता है। जिसको अपने शरीर, इन्द्रिय और मन आदिसे भी कुछ नहीं लेना है, उनको भी जो पर समझकर उनके सम्बन्धका त्याग कर चुका है, उसको अभिमान किस बलपर होगा और कैसे होगा।

साधकको चाहिये कि जो कुछ है वह दे दे और चाहे कुछ नहीं।

चाहयुक्त भक्तसे प्रभु उसकी चाह पूरी करके जल्दी छुटकारा पा जाते हैं। पर चाहरहित भक्तसे छुटकारा नहीं पाते।

उनका हृदय अत्यन्त कोमल है। वे इस बातको देखते रहते हैं कि 'मेरा भक्त क्या चाहता है, यदि वह कुछ चाहे तो उसे दे दूँ।' पर जो कुछ नहीं चाहता उसके पीछे-पीछे वे फिरते हैं। इतना ही नहीं, चाहरहित भक्तके वे स्वयं भक्त बन जाते हैं। अतः साधकको चाहिये कि किसीसे कुछ माँगे नहीं, प्रभुका प्रेमी बनता चला जाय। बस, नित्य नव-प्रेम बढ़ता रहे। चाह-रहित होनेपर शान्ति अपने-आप मिलेगी। शान्तिसे सामर्थ्य प्राप्त होगी। सामर्थ्यसे सेवा बनेगी। सेवासे प्रभुमें प्रीति बढ़ेगी और प्रीतिसे प्रभुको रस-प्रदान करते रहना यही जीवनकी सफलता है।

मानव

(रचयिता—श्रीकृष्णलालजी वर्मा)

है हितैषी जगज्जनका, दोष जो नहिं देखता।
है न ईर्षा-भाव जिसमें, राग-द्वेष न पोषता॥
इंद्रियाँ आधीन जिसके, निःस्पृही औ शांत है।
है वही मानव सही, यह सत्य औ निर्भ्रांत है॥१॥

देह, वाणी और मनसे दुःख प्राणीको न दे।
निर्विकारी, अल्पतोषी, जीवको सुख-शांति दे॥
सज्जनोंका मित्र हो जो, दूर दुर्जनसे रहे।
सत्कथा सुनता-सुनाता, जग उसे मानव कहे॥२॥

सात्त्विकी हो बुद्धि जिसकी, भक्तजनका भक्त हो।
भगवानका जो भक्त हो, जगमें नहीं आसक्त हो॥
बाप-माँकी सेवकाई नम्र हो करता रहे।
है वही मानव, हृदयसे जिसके करुणा-जल बहे॥३॥

साधु सेवक औ सहारा दीन जनका जो रहे।
सत्य, हित, मित, वाक्य बोले, दूर पापोंसे रहे॥
हो सदा ग्राहक गुणोंका, मेल दुर्गुणसे न हो।
स्वात्म सम समझे सभीको, है वही मानव अहो॥४॥

मित्र-अरिमें भावना हो एक-सी जिसकी सदा।
निंद्य कामोंमें न होवे कामना जिसकी कदा॥
देख सुख-वैभव पराया हर्ष मनमें मानता।
चाहता जगका भला, मानव उसे जग जानता॥५॥

रात-दिन प्रभु-ध्यानमें जो नम्र होकर लीन हो।
दुःख दुखियोंका मिटानेमें सदा तल्लीन हो॥
लालसा जिसको न छूए, गर्वसे जो पर रहे।
उस मनुजके हेतु जगमें प्रेमका झरना बहे॥६॥

[एक संस्कृत-पद्यका भावानुवाद]

श्रद्धा-विश्वास

(लेखक--स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥

श्रद्धा और विश्वासस्वरूप शङ्कर और पार्वतीकी मैं वन्दना करता हूँ । यदि किसी योगीने सिद्धि प्राप्त की हो और इससे वह सिद्ध भी कहलाता हो तथापि जबतक वह श्रद्धा और विश्वासपूर्वक ज्ञानसाधन नहीं करता, तबतक उसे हृदयमें स्थित आत्मदेवका दर्शन नहीं होता ।

आत्मज्ञानके साधन तो तप, तीर्थाटन, दान, सेवा, पाठ-पूजा, यज्ञ-याग, भक्ति, ज्ञान आदि अनेकों हैं; परंतु ये सब साधन ही हैं । इनके साथ श्रद्धा और विश्वास न हो तो कोई भी साधना सफल नहीं होती ।

श्रद्धा और विश्वासका पृथक्करण एक कविने बहुत ही सुन्दर रीतिसे किया है, वह जाननेयोग्य है । आस्तिकताका स्वरूप समझाते हुए वह कहता है—

मैं हरिका, हरि मेरे रक्षक, यही भरोसा बना रहे ।
जो हरि करते वह हित मेरा, यह निश्चय ही सदा रहे ॥

ईश्वर सृष्टिका कर्ता है, इसलिये मैं ईश्वरका हूँ । ईश्वर ही सृष्टिका पालन, पोषण तथा रक्षण करता है, इसलिये मेरी रक्षा भी वह करेगा ही। ईश्वरमें ऐसा भरोसा अर्थात् ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये । इस प्रकारकी श्रद्धाके फलस्वरूप, ईश्वर जो कुछ करता है, वह मेरे भलेके लिये ही होता है—ऐसा अटल निश्चय हो जाता है । यही ईश्वरमें विश्वास कहलाता है । ऐसी अविचल भावना, ऐसी अडिग श्रद्धा और विश्वास जिसका ईश्वरमें हो, वही सच्चा आस्तिक कहलाता है ।

आस्तिक और नास्तिककी विचारसरणिमें अन्धकार और प्रकाश-जैसा भेद है । कुछ दिनों पूर्व, जहाँ मैं रहता था, वहाँ गृहस्वामीका एक बारह-तेरह वर्षका लड़का झूलेसे झूलते समय गिर पड़ा। परंतु भाग्यसे उसे कोई गहरी चोट न लगी । गृहस्वामीने कहा कि 'प्रभुने लाज रक्खी । यदि डोरी न टूट गयी होती तो वह चित्त गिरता और इस सीढ़ीका कोना सिरमें लगता, तब क्या होता, यह कहा नहीं जा सकता । इस प्रकार ईश्वर शूलीके विघ्नको सूई गड़ाकर दूर कर देता है, इसका यह प्रत्यक्ष दृष्टान्त है ।'

उनके साथ एक कालेजवाला था, उसने कहा—'भाई ! तुम तो वैसे-के-वैसे ही रह गये ! लड़का गिर गया और चोट लगनेकी कोई चीज न रही, इस कारण चोट न लगी । बहुधा कहीं अधिक चोट लगती भी नहीं । इसमें ईश्वरके रक्षा करनेकी बात कहाँसे टपक पड़ी ? हाँ, कहना ही हो तो यह कह सकते हो कि 'ईश्वरने उसको गिरा दिया, परंतु अच्छा हुआ कि चोट न लगी ।'

सूक्ष्मदृष्टिसे देखिये तो पता लगेगा कि श्रद्धा विश्वासकी जननी है । परंतु माता और पुत्र निरन्तर एक ही साथ रहनेके कारण एकार्थवाची हो गये हैं । जहाँ श्रद्धा है वहाँ विश्वास भी रहता है और जहाँ विश्वास है, वहाँ उसके मूलमें श्रद्धा होती ही है ।

हम किसी अज्ञात गाँवमें जा पहुँचे और वहाँ कोई परिचित मिला, हमने उससे पूछा कि 'भाई ! बतलाओ, इस गाँवमें भला और ईमानदार दूकानदार कौन है, जिससे जरूरतकी चीजें खरीद ली जायँ ।' उस भाईने किसी एक दूकानकी ओर संकेत किया और उसको हमने ध्यानमें रख लिया । दो-चार दिनोंके बाद थोड़ी चीजें खरीदनेकी जरूरत पड़ी और हम उस दूकानपर पहुँचे तथा उस दूकानदारसे कहा—'अमुक-अमुक वस्तुएँ अच्छी देखकर इतनी-इतनी दे दो ।' उसने तदनुसार ठोंगोंमें बाँधकर चीजें दे दीं और जितने पैसे माँगे उतने पैसे हमने चुका दिये । रास्ते चलते जीवकी संदेहवृत्ति—संदेह करनेका स्वभाव जाग्रत् हुआ और उसने कहा—'अच्छा, आँखें मूँदकर पैसे तो चुका दिये, परंतु दूसरी दो दूकानोंमें भाव-ताव पूछकर खातिरी तो कर लें कि कहीं ठगा तो नहीं गये ।' तुरंत ही रास्तेमें जो दूकान आयी, वहाँ भाव पूछकर देखा तो एक वस्तुका वही भाव और दूसरी वस्तुका बहुत तेज भाव दूकानदारने बताया । आगे जाकर दूसरी दूकानमें पूछ-ताछ की तो वहाँ भी वैसा ही उत्तर मिला । अब विश्वास हो गया कि ठगाये तो नहीं । घर आकर वस्तुएँ घरमें दीं, उनको देखकर गृहिणीने कहा—चीजें तो सभी अच्छी हैं ।

यहाँ हमने एक साधारण जान-पहचानवाले मनुष्यके वचनके ऊपर श्रद्धा रक्खी और उस श्रद्धाके बलसे उस दूकानदारके ऊपर विश्वास रक्खा । दूसरी दूकानोंपर पूछकर

खातिरी कर ली कि उसने हमको ठगा नहीं। इससे वह विश्वास दृढ़ हो गया। इस प्रकार श्रद्धा विश्वासकी जननी है।

एक विद्यार्थी पाठशालामें पढ़नेके लिये बैठा। शिक्षकने उसकी पाटीपर एकका अङ्क लिख दिया और कहा कि इसको 'एक' कहते हैं। यदि वह विद्यार्थी शिक्षकके वचनमें श्रद्धा न रक्खे और उलटा प्रश्न करे कि इसको 'एक' क्यों कहते हैं? घोड़ा क्यों नहीं कहेंगे?—ऐसी अवस्थामें वह विद्यार्थी पढ़ ही नहीं सकेगा। इस प्रकार जगत्‌में सभी कार्योंका आरम्भ श्रद्धासे ही होता है और वही श्रद्धा परिपक्व होकर विश्वासमें परिणत होती है।

बालक जब जन्मता है, तब बिल्कुल अज्ञानकी हालतमें रहता है और उसको सारा ज्ञान केवल मातामें श्रद्धा रखनेसे ही मिलता है। माता कहती है, 'मैं तेरी माँ हूँ और ये तेरे पिता हैं।' बालक श्रद्धासे विश्वास कर लेता है कि सचमुच ऐसी ही बात है। वह यदि ऐसा कहे कि 'इसका क्या प्रमाण है कि तू ही मेरी माँ और यही मेरे पिता हैं? प्रमाण देकर सिद्ध करके बतला तभी मैं मानूँगा, नहीं तो, नहीं मानूँगा।' ऐसा हो तो उस लड़केका जीवन व्यर्थ जाता है; क्योंकि जिसको माताके वचनमें श्रद्धा नहीं, उसको जगत्‌के व्यवहारमें क्या श्रद्धा हो सकती है?

हम कुछ सौदा लेने किसी दूकानपर गये। वहाँ दूकानदारको यदि यह श्रद्धा होगी कि उसके मालका दाम हम चुका देंगे, तभी वह दाम मिलनेके पहले माल देगा। वैसी श्रद्धा न होगी तो पहले दाम माँगेगा और कहेगा कि पैसे मिलनेके बाद माल दूँगा। हमको भी यदि उसमें श्रद्धा न हो और हम ऐसा विचार करें कि दाम लेकर माल न दिया तो?—ऐसी हालतमें हम माल लेनेके पहले पैसे नहीं देंगे। सब ओर ऐसी ही गाँठ बँध जानेपर तो फिर कोई व्यवहार ही नहीं चल सकेगा। दूकानदार दाम लेनेके पहले माल न दे और हम माल लेनेके पहले दाम न दें, तब फिर सौदा क्योंकर हो? इसलिये श्रद्धाके बिना कोई भी व्यवहार नहीं हो सकता।

श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गीतामें श्रद्धाके ऊपर बहुत जोर दिया है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(१७।३)

अपने अन्तःकरणके संस्कारके अनुसार मनुष्यमें श्रद्धा होती है। मनुष्यमात्रका जन्म अज्ञान दशामें ही होता है, इसलिये जो संस्कार पहले जाग्रत् होता है, उसीके अनुसार उसकी श्रद्धा बन जाती है। अतएव मनुष्यमात्रमें किसी-न-किसी प्रकारकी श्रद्धाका होना स्वाभाविक है। इस प्रकार पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, उसके अनुसार उसका आचरण होता है। इस प्रकार श्रद्धा मनुष्यमात्रमें एक नैसर्गिक धर्म है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४।३९)

जिस मनुष्यके मनमें ईश्वरपर श्रद्धा है और इस कारण सद्गुरु तथा सत्-शास्त्रमें जिसे विश्वास है, इस प्रकारका साधक इन्द्रियोंका संयम करके तत्परतासे साधन करते हुए ज्ञानकी प्राप्ति कर लेता है और ज्ञानका उदय होनेपर तत्क्षण उसको मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तथा वह परम शान्तिका अनुभव करता है।

इसके विपरीत, जिसमें ऐसी श्रद्धा नहीं होती, उसकी क्या दशा होती है, यह बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(गीता ४।४)

जो मूर्ख है, किसीमें श्रद्धा नहीं रखता—ऐसा मनुष्य संशय और विपर्ययमें ही गोते खाया करता है और परिणाम-स्वरूप विनाशको प्राप्त होता है। इस प्रकारके निश्चय-विहीन मनुष्यको इस लोकमें भी सुख-शान्ति नहीं मिलती, तो फिर परलोकमें मिलनेकी तो आशा ही कैसे की जा सकती है? इसलिये श्रद्धा ही फलती है, यह समझाते हुए भगवान् कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

(गीता १७।२८)

श्रद्धाके बिना किये हुए यज्ञ-यागादि, दिये हुए दानादि, की हुई तपश्चर्या, यहाँतक कि श्रद्धाके बिना किया हुआ कोई भी कर्म कोई फल नहीं देता, वह व्यर्थ जाता है। अर्जुन! उससे इस लोकमें कोई सिद्धि नहीं मिलती, फिर भला परलोकमें कैसे मिल सकती है? यानी नहीं मिलती।

यहाँतक हमने यह आलोचना की है कि श्रद्धा और विश्वास तो मनुष्यमें साधारणतः होते ही हैं। ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य इनको विकसित नहीं करता, वह इस लोकमें तो सुख पाता ही नहीं, उसका परलोक भी बिगड़ जाता है।

श्रद्धा और विश्वासके विषयमें इतना सुनकर अपनेको सुधरे हुए तथा प्रत्यक्ष विज्ञानको माननेवाले आधुनिक पुरुष कहेंगे कि 'इस प्रकारके अन्धविश्वाससे ही हमलोगोंका सर्वनाश हो गया है। इस प्रकारकी अन्धश्रद्धासे ही हमलोगोंको दूसरोंकी गुलामी करनी पड़ी और हमने स्वतन्त्रता खो दी। इस प्रकारके अन्धविश्वाससे समाज निर्बल बनता है और व्यक्ति भी अपनी शक्ति गवाँ बैठता है। इसलिये तुम जो श्रद्धा-विश्वासकी बात करते हो वह तो अन्धश्रद्धा और अन्धविश्वास है। देखो, तुम्हारे मनु महाराजको हुए आज कितने वर्ष हो गये, तथापि आज भी उनके बनाये नियमोंसे चिपटे रहना अन्धश्रद्धा नहीं तो और क्या है? मनुने कहा कि स्त्रियोंको रजस्वला-धर्मका पालन करना चाहिये। उस समयके देश-कालके अनुसार वह कदाचित् लाभदायी हो सकता था, परंतु आज भी उसको पकड़े रहना अन्धानुसरण नहीं तो और क्या है?

'मनुने कहा—'ईश्वर है और उसीने इस सृष्टिकी रचना की है और वही पालता है।' पर इस बातमें आज वैज्ञानिक दृष्टिसे सत्य नहीं दीखता है, फिर भी इसको सत्य ही मानते रहना अन्धविश्वास नहीं तो और क्या है? मनुने जो नियम बनाये थे, वे उन दिनोंके लिये ही थे। आज इस प्रगतिके युगमें उनको पकड़े रहनेमें क्या लाभ है? उन्होंने कहा है—'विधवाका ब्याह फिर नहीं होना चाहिये।' 'एक गोत्रके पुरुष-स्त्रीमें विवाह-सम्बन्ध नहीं होना चाहिये।' 'वर्णान्तरमें विवाह-सम्बन्ध नहीं होना चाहिये तथा लड़कीको पैतृक सम्पत्तिमें उत्तराधिकार नहीं मिलना चाहिये।' हम इन सब बातोंको आज भी ऐसे ही मानते रहें तो फिर पशुमें और हममें अन्तर ही क्या है? पशु भी जैसे हाँको वैसे ही चलता है और हम भी, आज इस विज्ञानके युगमें भी, मनु महाराजके हाँकनेके अनुसार चला करें तो फिर हम नर-पशु ही न कहलायेंगे? बाबू! अब युग बदल गया है। आज मनुष्य उन्नतिके शिखरपर खड़ा है, (सच कहा जाय तो अवनतिकी अन्तिम सीढ़ीपर है) ऐसी स्थितिमें तुमको ईश्वर और शास्त्रमें श्रद्धा रखनेकी बात मुँहसे निकालते शर्म नहीं आती?'

अन्धविश्वास अवश्य हानिकारक है और इससे कुछ भी नहीं करना चाहिये। अन्धा जिस प्रकार दृष्टि-शक्तिविहीन होकर जहाँ-तहाँ धक्के खाता फिरता है, उसी प्रकार विवेक-दृष्टिका उपयोग किये बिना सुनी या देखी हुई वस्तु या व्यवहारके ऊपर दृढ़ विश्वास कर लेनेका नाम अन्धविश्वास है और ऐसा विवेकशून्य विश्वास अवश्य अनिष्ट फल देता है।

विश्वास बहुत उत्तम वस्तु है और इसके बिना काम चल भी नहीं सकता। तथापि यदि यह अपात्र या कुपात्रमें किया जाय तो विनाशकारी सिद्ध होता है। जैसे दूध अमृततुल्य होता है, फिर यदि उसको छाछके बर्तनमें डाल दिया जाय तो वह विकृत हो जाता है, फिर उसको पीनेसे लाभके बदले हानि होती है। शुद्ध बर्तनमें रक्खा हुआ दूध एक बालक पीता है तो उसके अङ्गकी पुष्टि होती है, परंतु वही दूध यदि सर्प पी ले तो वह विषरूप बन जाता है और मनुष्यका प्राण ले सकता है। इसी प्रकार विश्वास एक सहज वस्तु है और इसके बिना कोई व्यवहार नहीं चलता। फिर भी, उसमें यदि विवेकबुद्धिका उपयोग न हो तो लाभके बदले हानि करता है। मनुष्यकी विशेषता तो विवेकबुद्धिका उपयोग करनेमें ही है।

हम एक अपरिचित गाँवमें जाते हैं। किसी रास्ते या स्थानपर कई मोड़ आते हैं और हम सामने आनेवाले किसी भी आदमीसे पूछते हैं, वह जिधर मुड़नेके लिये कहता है, हम उसी दिशामें जाते हैं। सम्भव है कि वह कोई ठग हो और हमें हैरान करनेके लिये विपरीत बता रहा हो तथापि हम उसकी बातपर विश्वास रखकर उस दिशामें चल पड़ते हैं। यह अन्धविश्वास है या और कुछ?

अपने घर एक रसोइया है। वह जब रसोई बनाता है, तब उसपर कोई ध्यान भी नहीं रखता। फिर भी, उसकी बनायी रसोई हम रोज खाते हैं। सम्भव है कि वह धर्मके विचारसे शून्य लोभी-लालची हो और हमारा कोई शत्रु उसे सौ-दो सौ रुपये देकर हमारे भोजनमें विष मिलवा दे एवं लोभके वश वह आदमी ऐसा कर भी बैठे। ऐसा सम्भव होनेपर भी, हम उस रसोइयेमें दृढ़विश्वास रखते हैं। यह अन्धविश्वास है या और कुछ? हम अपने घर बैठे हैं, पेटमें दर्द शुरू हुआ और दस्त होने लगे। हमने डाक्टरको बुलानेके लिये फौरन एक आदमी भेजा। हमारा परिचित

डाक्टर गाँवसे बाहर गया था। यह समाचार पाकर हमने किसी दूसरे अपरिचित डाक्टरको बुला लिया और उसकी दी हुई दवा विश्वासपूर्वक खा ली। उससे हम अच्छे भी हो सकते हैं और नहीं भी—इसका नाम अन्धविश्वास है या और कुछ ?

अब विचार करके देखिये। इस संसारके किसी भी काममें विश्वासके बिना काम नहीं चलता और हम सहज भावसे जहाँ-तहाँ विश्वास करते भी हैं। उसमें सभी आदमी विश्वास-योग्य नहीं भी होते, यह जानते हुए भी हमको उनपर विश्वास करना पड़ता है; क्योंकि किसी-न-किसी मनुष्यके ऊपर विश्वास रक्खे बिना जीवन-निर्वाह हो नहीं सकता। इस प्रकार विवश होकर हम सबके ऊपर विश्वास करते हैं, फिर भी ऐसा अभिमान रखते हैं कि हम अन्धविश्वास नहीं करते।

अब जरा और विचार कीजिये। ईश्वर, सद्गुरु और सत्-शास्त्रके ऊपर विश्वास करना अन्धविश्वास कैसे कहला सकता है ? ईश्वर सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है, वह प्राणिमात्र-का परम सुहृद् है, इसलिये उसपर विश्वास करनेसे ठगे जानेका भय रहता ही नहीं, बल्कि एक सच्चा अवलम्बन होनेसे हमारा जीवन सुखरूप बन जाता है। सद्गुरु श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हैं, उनको कोई लोकैषणा या वित्तैषणा है ही नहीं, जिससे वे हमको ठग सकते हों। अपने स्वार्थके बिना मनुष्य कभी किसी दूसरेको नहीं ठगता। सद्गुरुके लिये तो जगत्का कल्याण करना ही स्वार्थ है। इसके सिवा उनका कोई दूसरा लौकिक ध्येय नहीं होता। इसलिये ईश्वर और सद्गुरुके ऊपर विश्वास रखना अन्धविश्वास कैसे कहला सकता है ? फिर, तपस्वी तथा जगत्के कल्याणकी ही कामनावाले, ईश्वरका साक्षात्कार प्राप्त किये हुए आप्तकाम और त्रिकालदर्शी ऋषियोंने जिन सत्-शास्त्रोंकी रचना की है, उनके ऊपर यदि विश्वास न करें तो फिर अन्य किसके ऊपर विश्वास करें ? उनसे अधिक विश्वसनीय दूसरा क्या हो सकता है ? इस प्रकार ईश्वर, सद्गुरु तथा सत्-शास्त्र हमारे हितैषी हैं तथा सर्वज्ञ हैं और इस कारण सच्चा मार्ग-दर्शन करानेवाले हैं। इसलिये इनपर विश्वास करनेको यदि अन्धविश्वास कहा जाय तो वह दुराग्रह और मूढ़ताके सिवा और क्या है ?

परंतु आजका बुद्धिमान् (?) मनुष्य उलटी ही राह चलता है। जो अत्यन्त विश्वसनीय है, वहाँ विश्वास करते डरता है तथा जहाँ विश्वास करनेका तनिक भी अवकाश नहीं, वहाँ आँखें मूँदकर विश्वास करता है और कहता है कि हम कहीं भी अन्धविश्वास नहीं करते। भलीभाँति न्यायपूर्वक देखें तो आजका मानव अन्धविश्वासमें ही जीवनयापन करता है और परम श्रद्धेय एवं विश्वसनीय स्थानमें वह विश्वास नहीं करता।

आजका सुशिक्षितवर्ग आधुनिक भौतिक विज्ञानमें ही जो अचल श्रद्धाका सेवन करता है और उसके विधानमें पूर्ण विश्वास रखता है, वह अन्धविश्वास है या नहीं, यह देखना चाहिये। पहले विश्वकी उत्पत्तिके लिये नेबुलाके सिद्धान्तको लीजिये। सूर्य एक धधकता हुआ गोला था और उसमेंसे अलग निकले हुए कुछ टुकड़े आजके हमारे सूर्यलोक हैं, यह सिद्धान्त माना जाता है और इसको हम आँखें मूँदकर स्वीकार कर लेते हैं। अब यदि तनिक विचार करें तो जान पड़ेगा कि यह बात मनकी एक निरंकुश कल्पनाके सिवा और कुछ भी नहीं है। फिर इस विश्वासको क्या कहा जाय, इसे पाठक ही निश्चय करें।

एक दूसरे सिद्धान्तको चार्ल्स डार्विनने विकासवाद कहकर पुकारा और यह निश्चय किया कि यह विशाल प्राणि-जगत् एक कोषवाले एक क्षुद्र जन्तुसे विकसित होते-होते बना है और वे मानवको वानरोंका वंशज मानते हैं। केवल समान आकृतिको लेकर ही एकमेंसे दूसरी जाति उत्पन्न होती है, ऐसा मानें तो फिर छिपकली, गिरगिट, चन्दनगोह, पाटागोह और छोटे-बड़े मगर आदि सब करीब-करीब एक ही आकृतिके प्राणी हैं; पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि विकासक्रमसे एकसे दूसरेका निर्माण हुआ है। डार्विनने बड़ा परिश्रम करके एक पूरी श्रृङ्खला तैयार की और जहाँ-जहाँ बिचली कड़ी नहीं मिली, वहाँ-वहाँ वे जातियाँ लुप्त हो गयीं, ऐसा मान लेनेका निश्चय किया। अब इस कपोलकल्पित सिद्धान्तमें कोई विश्वास करे तो उसको क्या कहेंगे, इसका निर्णय भी पाठक ही करें।

विश्व-विद्यालयके एक वर्तमान उपाधिधारी वैज्ञानिकने कुछ दिनों पहले यह प्रकट किया था कि मूँगफलीका मक्खन और उसका दूध बहुत अच्छा होता है, इसका उपयोग करना चाहिये। इसको बनानेकी रीति भी उन्होंने बतायी थी। उनको पहले पानीमें भिगोकर उसका लाल छिलका उतार ले और तब उसको महीन कूटकर पीस ले और उसका लौंदा बना ले। बस, मक्खन बन गया और उस लौंदेको पानीमें

घोल ले तो वह दूध बन जायगा। जो मक्खन-जैसा दीख पड़े वह सब मक्खन और जो दूध-सा दिखायी दे वह दूध। यदि ऐसी ही बात हो तो पानमें खानेको जलाया हुआ चूना मक्खनकी अपेक्षा भी अधिक मुलायम और गाढ़ा होता है और उसको यदि थोड़े पानीमें घोल दिया जाय तो वह प्रवाही दूधकी अपेक्षा भी अधिक सफेद और गाढ़ा होता है। इन वैज्ञानिकोंने इस (चूनेके) मक्खन और दूधके लिये आग्रह क्यों नहीं किया, यह समझमें नहीं आता। इस बातको जिसने सच्चा समझा हो, उसको अन्धा कहें या आँखवाला, इसका विचार भी आप ही करें।

अपनेको मनोवैज्ञानिक कहनेवाले श्रीफ्रायड महाशयने कहा है कि 'पशु इन्द्रियसंयमका पालन नहीं करते, इससे उनको कोई रोग नहीं होता और वे जीवनभर तन्दुरुस्त रहते हैं। इसलिये मनुष्यको भी यदि तन्दुरुस्त रहना हो और रोगोंको न आने देना हो तो इन्द्रियोंको स्वच्छन्द विचरण करने देना चाहिये।' यह बात हमारे शास्त्रोंसे ठीक उलटी है और फिर भी आँखें मूँद करके इसे हमने सच्ची मान ली है। इसके फलस्वरूप अपने पवित्र देशमें आज अनाचार, दुराचार और यौन रोग बढ़ते जा रहे हैं। इस विश्वासको क्या कहें ?

सारांश यह है कि हमारा चश्मा ही उलटा हो गया है, जिससे अच्छी वस्तु बुरी दीखती है और जो अन्धविश्वास है, वह सच्चा विश्वास दिखायी देता है। प्राथमिक शिक्षामें ही हमको यह सिखाया गया है कि हमारे बाप-दादे तो बिल्कुल जंगली थे। इस कारण उनके रचे शास्त्रोंमें कोई भी बात सच्ची हो ही नहीं सकती। हम भी ऐसे जंगली हैं कि इस बातको सच्ची मान बैठे। इसीका यह परिणाम है कि आज ईश्वर तथा सत्-शास्त्रोंमें हमारा विश्वास नहीं रहा। हम यह कहना सीख गये हैं कि हमारे यहाँ जो कुछ लिखा गया है, वह सब झूठ और निराधार है तथा अंग्रेजीमें जो लिखा जाता है, वह सच्चा और विश्वसनीय ही है।

डाक्टरी जगत्का ही एक विषय लीजिये। उसके मुख-पत्र 'लान्सेट'में जो लिखा गया हो, वह ब्रह्माके वाक्यसे भी अधिक विश्वसनीय है, ऐसा डाक्टर लोग मानते हैं। किसी कम्पनीने कोई दवा तैयार की, उसने किसी प्रतिष्ठित डाक्टर या वैज्ञानिकको राजी करके उससे एक प्रमाणपत्र प्राप्त कर लिया और 'लान्सेट'में उसके विषयमें एक सुन्दर लेख लिखकर भेज दिया। बस, उसके प्रकाशित होते ही डाक्टर लोग आँख मूँदकर उस दवाका प्रयोग करने लगते हैं और ढेर-का-ढेर वह माल हमारे देशमें आकर उतरने लगता है। पीछे भले ही, भूतकालमें जैसा हुआ वैसे ही, भविष्यमें वह दवा भी हानिकारक सिद्ध हो जाय, परंतु वर्तमान कालमें तो कम्पनीका पाकेट गरम हो ही जायगा। इसका नाम अन्ध-विश्वास नहीं तो और क्या है ?

विलायतके डाक्टरने कहा कि 'खूब साग-भाजी खाओ तथा साथ ही कच्चा कचुम्बर खाते जाओ तो आरोग्य बना रहेगा।' बस, हमारे डाक्टरोंने इसे आँख मूँदकर मान लिया है। सच है—'आज्ञा गुरूणामविचारणीया।' हमारे डाक्टरोंके तो वे ही गुरु हैं, इसलिये उनके वचनपर विचार भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हमारे डाक्टरोंने बहुत अधिक साग खानेवाले बना दिये और अर्थकष्ट बढ़ा दिया।

अब देखिये, वे लोग तो मांसाहारी हैं। मांसके साथ यदि रेशेवाले पदार्थ पर्याप्त मात्रामें नहीं खाये जायँ तो मांस अँतड़ियोंमें ही सड़ने लगता है और इससे मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है। यह एक ही तथ्य इतना प्रमाणित करनेमें पर्याप्त है कि मनुष्य मांसाहारी प्राणी नहीं है। तथापि उन जातियोंमें मांस-भक्षणके विषयमें इतनी बड़ी अन्धश्रद्धा है कि उसके बिना तो वे जी ही नहीं सकते—ऐसा वे मानते हैं। इस कारण वे मांस खाना छोड़ नहीं सकते। बुद्धिसे तो यह बात समझते हैं, परंतु अन्धविश्वासके कारण मांस खाना उनसे छूटता नहीं।

इस प्रकार अधिक साग खानेकी बात मांस खानेवाले लोगोंके लिये सोलहों आने सच्ची है; परंतु साथ ही यह भी उतनी ही सच्ची बात है कि हम निरामिषभोजियोंके लिये साग-भाजीकी इतनी आवश्यकता नहीं है। परंतु यह बात डाक्टरोंके ध्यानमें ही नहीं आयी। अन्धानुकरण करनेकी जो टेव पड़ गयी है, इससे स्वतन्त्र विचार ही नहीं हो सकता। थोड़ा भी विचार करनेसे यह ज्ञात हो जाता है कि हम जो गेहूँ, ज्वार, बाजरा, मकई आदि अनाज तथा मूँग, मोठ, उड़द, अरहर, चना आदि दाल खाते हैं, वे सब सागकी कोटिमें ही हैं। आज भी गाँवोंमें 'साबित उड़दका साग बनाया था' 'मूँगकी दालका साग किया था' इस प्रकारके शब्दप्रयोग सुननेको मिलते हैं। हम जो घी, तेल, दूध आदि खाते हैं, वह बहुत ही अल्प परिमाणमें होता है और

वह योगवाही ढंगसे ही काम करता है। इस प्रकार हमारे लिये साग-भाजी निरर्थक है, फिर भी डाक्टरोंने इसका भूत ऐसा घुसेड़ दिया है कि साग-सब्जीका उपयोग बढ़ता जा रहा है और उसी परिमाणमें निर्धनता भी बढ़ती जा रही है।

अरे अविश्वासी मनुष्य! ईश्वर, सद्गुरु और सत्-शास्त्रके ऊपर तो तुम विश्वास रखते नहीं तथा इस प्रकारके विश्वासको तुम अन्धविश्वास मानते हो। परंतु विश्वासके बिना तो तुम्हारे जीवनका निर्वाह भी नहीं होता, यानी तुमको अति तुच्छ और पामर प्राणियोंपर विश्वास करना पड़ता है। यह क्या अन्धविश्वास नहीं है? इसलिये मानव! अब भी जरा चेत जाओ और अपना कल्याण चाहते हो, दुःखके समुद्रसे निकलना चाहते हो तथा अखण्ड सुख-शान्ति एवं आनन्दमय जीवन प्राप्त करना चाहते हो तो अब भी ईश्वरमें, गुरुमें तथा ऋषिप्रणीत अपने शास्त्रोंमें विश्वास करो। यह अन्धविश्वास नहीं है। परंतु इसके अतिरिक्त, दूसरे प्राणि-पदार्थोंमें किया गया विश्वास ही अन्धविश्वास है; क्योंकि वे राग-द्वेषसे भरपूर होते हैं, इसलिये कब दगा देंगे—यह कहा ही नहीं जा सकता। उनमें जहाँ स्वार्थपरता है, वहाँ इनमें परार्थपरता है।

जिस मनुष्यका ईश्वरमें विश्वास नहीं है, उसका जीवन बिना लंगरके जहाजके समान है। जिस जहाजमें लंगर नहीं होता, वह हवाके झकोरोंसे चारों दिशाओंमें जहाँ-तहाँ थपेड़े खाया करता है और जो जहाज लंगर डाल देता है वह अपनी जगहपर अचल टिक सकता है। इसी प्रकारसे जिस मनुष्यको ईश्वरमें दृढ़ श्रद्धा है और उसके विधानमें अविचल विश्वास है उसका जीवन सुख-दुःखके झपेटेके बीच भी निश्चल और शान्त रह सकता है तथा जिस मनुष्यका ईश्वरके ऊपर विश्वास नहीं, वह पग-पगपर सुख-दुःखमें डोला करता है और कहीं भी शान्तिसे विश्राम नहीं पाता। अन्तमें जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकता हुआ अनन्त कालतक अपार क्लेश भोगता रहता है!

अब विचार तो करो। धूपमें चलता हुआ मुसाफिर एक वृक्षका आश्रय लेता है। वृक्ष तो जड है तथापि उसको शीतल छाया देता है तथा ऋतुके अनुसार फल-फूलसे भी संतुष्ट करता है। किसी गृहस्थ या राजाकी शरणमें जानेपर वह भी मनुष्यकी यथाशक्ति सहायता करता है तथा उसके दुःख दूर करनेमें सहायक बनता है।

परम दयालु परमात्मा, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके रक्षक, सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर—ऐसे विश्वम्भर जो प्राणिमात्रके परम सुहृद् और हितैषी हैं, उनके ऊपर श्रद्धा रखकर, उनके विधानमें विश्वास करके, उनकी शरणमें जानेवाला मनुष्य निहाल हुए बिना रह ही नहीं सकता। उसके सारे पाप-ताप तत्काल ही निवृत्त हो जाते हैं और उसको अखण्ड आनन्द तथा अविचल शान्ति मिलती है। इसीलिये भगवान्ने प्रत्येकको आग्रहपूर्वक कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

राम-भरोसा

सुमिरत जाके जगत मति,
जगे न फिरि मन जोर।
राम-चरन शुचि कलपतरु,
फलत मनोरथ मोर॥
राम-सिया-पद-कलपतरु,
करै 'सिरस' मन शांत।
प्रात प्रभाकरकी प्रभा,
प्रसरत पृथ्वी-प्रांत॥

नरपति, सुरपति, लोकपति,
अधिपति अधिक कि चाह।
राम-चरन अनुराग रँगि,
आन रंग उड़ राह॥
दृग न दिख्यौ, दुख जो हरत,
छिपे छिपत हिय छाप।
नवल-वधू घूँघट कढ़ो,
कब त्यागे वह झाँप॥

—शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'

भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले उत्तम गुण और आचरण

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

उत्तम गुण और उत्तम आचरण शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं । उत्तम गुणोंसे अभिप्राय है—हृदयके उत्तम भाव और उत्तम आचरणोंसे अभिप्राय है—मन, वाणी और शरीरकी उत्तम क्रिया । इनमें उत्तम क्रियाओंसे उत्तम भावोंका संगठन होता है और उत्तम भाव होनेसे उत्तम क्रियाएँ स्वाभाविक ही होती हैं । ये परस्पर एक-दूसरेके सहायक हैं । फिर भी क्रियाकी अपेक्षा भाव प्रधान है । जैसे कोई मनुष्य दूसरोंके अनिष्टके लिये यज्ञ, दान, तप आदि करता है तो उसकी वह क्रिया तामसी है और वही क्रिया यदि पुत्र, स्त्री, धन और स्वर्ग आदिके लिये की जाती है तो राजसी है तथा निष्कामभावसे संसारके हितके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ करनेपर वही क्रिया सात्त्विकी हो जाती है । क्रिया एक होते हुए भी भाव उत्तम होनेसे वह उत्तम फलदायक बन जाती है । इसलिये क्रियाकी अपेक्षा भाव ही प्रधान है ।

जो दुराचार, दुर्व्यसन और व्यर्थकी क्रियाएँ हैं, वे सब तो नरकमें ले जानेवाली हैं, उनकी तो यहाँ कोई चर्चा ही नहीं है । वे तो सर्वथा त्याज्य हैं । जो कल्याणकारक आचरण हैं, जो भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, उन्हींकी यहाँ चर्चा की जाती है । वे सब आचरण भी निष्कामभावसे किये जानेपर ही कल्याण करनेवाले होते हैं । इसलिये शास्त्रोक्त उत्तम क्रियाओंका आचरण निष्कामभावसे ही करना चाहिये । उत्तम क्रियाएँ कौन-कौन-सी हैं, उनका कुछ दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है—

सबके साथ सरलता, विनय, प्रेम और आदरपूर्वक निःस्वार्थभावसे व्यवहार करना ।

शरीरको जल और मृत्तिकासे शुद्ध और स्वच्छ रखना तथा घर और वस्त्रोंको भी शुद्ध और स्वच्छ रखना ।

ब्रह्मचर्यका पालन करना । किसी भी सुन्दरी युवती स्त्रीका अथवा पुरुष या बालकका अश्लीलभावसे दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, एकान्तवास आदि कभी न करना ।

मन, वाणी, शरीरसे किसी क्षुद्र-से-क्षुद्र भी प्राणीको किसी भी निमित्तसे किञ्चिन्मात्र भी कभी दुःख न पहुँचाना, बल्कि अभिमानका त्याग करके निःस्वार्थ-भावसे सबका सब प्रकारसे परम हित ही करते रहना । कोई अपना अनिष्ट भी करे तो भी उसका हित ही करना ।

वाणीके द्वारा भगवान्‌के नामका प्रेम और आदरपूर्वक निरन्तर जप करना तथा सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय करना एवं जो सत्य और प्रिय हो तथा जिसमें सबका हित हो, ऐसा कपटरहित सरल वचन बोलना ।

सदा शास्त्रकी मर्यादाका पालन करना । भारी-से-भारी कष्ट पड़नेपर भी लज्जा, भय, लोभ, काम अथवा किसी भी कारणसे—मर्यादाका त्याग नहीं करना ।

महापुरुषोंका सङ्ग, सेवा-सत्कार, नमस्कार और उनकी आज्ञाका पालन करना इत्यादि ।

इस प्रकारके उत्तम आचरणोंको निःस्वार्थभावसे करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है ।

इसके सिवा, जिनके कान भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व, रहस्यकी बातोंको सुनते-सुनते अघाते नहीं, जिनके नेत्र केवल भगवान्‌के दर्शनोंके लिये ही चातक और चकोरकी भाँति लालायित रहते हैं, जिनकी वाणी प्रेमपूर्वक भगवान्‌के गुणोंका ही गान करती रहती है, जिनकी नासिका भगवान्‌के स्वरूप तथा भगवान्‌को अर्पण किये हुए पुष्प, चन्दन, माला, तुलसी, नैवेद्य आदिकी गन्धको लेकर मग्न होती रहती है, जिनकी

जिह्वा भगवान्‌के अर्पण किये हुए प्रसादका ही आस्वादन करती है तथा जो नर-नारी भगवान्‌के अर्पण करके ही और भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही भगवान्‌का प्रसाद समझकर वस्त्र और आभूषण धारण करते हैं, जो मनुष्य अपने शरीरसे ईश्वर, देवता और ब्राह्मणोंका तथा वर्ण, आश्रम, गुण, पद और अवस्थामें जो अपनेसे बड़े हों, उनका प्रेम और विनयपूर्वक आदर-सत्कार, सेवा, आज्ञापालन और नमस्कार करते हैं, जो एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर रहकर हाथोंके द्वारा भगवान्‌की सेवा, पूजा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करके मुग्ध होते हैं, जो भगवान्‌के लीलाविग्रहों और उनके भक्तोंके दर्शनार्थ ही चरणोंसे तीर्थोंमें जाते और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनमें स्नान करते हैं, जो भगवान्‌के मन्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप करते हैं, जो शास्त्र-विधिके अनुसार नित्य दान, श्राद्ध, तर्पण, होम, ब्राह्मण-भोजन श्रद्धा-प्रेमपूर्वक करते हैं, जो माता, पिता, स्वामी, आचार्य आदि गुरुजनोंको भगवान्‌से भी बढ़कर समझते तथा उनकी सब प्रकारसे श्रद्धा, भक्ति और आदरपूर्वक सेवा, सत्कार और पूजा करते हैं—इस प्रकार जो केवल भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये ही श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भक्तिसंयुक्त उपर्युक्त आचरण करते हैं, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं ।

जिनके हृदयमें सम्पूर्ण दुर्गुणोंका अभाव होकर सद्गुण प्रतिष्ठित हो जाते हैं, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं और वे शीघ्र ही परमात्माके निकट पहुँच जाते हैं ।

जिनमें काम-क्रोध, लोभ-मोह, अहंकार-अभिमान, मद-मत्सर, दम्भ-दर्प, राग-द्वेष, छल-कपट, अशान्ति-क्षोभ, आलस्य-प्रमाद, भोगवासना और विक्षेप आदिका अत्यन्त अभाव हो गया है, जो सबके हेतुरहित प्रेमी, सबके हितमें रत, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, जय-पराजय, लाभ-अलाभमें सम हैं, जिनके मनमें भगवान्‌के सिवा अन्य कोई आश्रय नहीं है, जो निरन्तर भगवान्‌के ही शरण हैं, जिन्हें भगवान् प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारे हैं, जिनका भगवान्‌में ही अनन्य विशुद्ध प्रेम है, जो माता-पिता, भाई-बन्धु, मित्र, स्वामी, गुरु, धन, विद्या, प्राण—सर्वस्व एक भगवान्‌को ही मानते हैं, जो परनारीको माताके समान और पराये धनको विषके समान समझते हैं, जो दूसरोंके दुःखसे दुखी और दूसरोंके सुखसे ही सुखी रहते हैं, जो दूसरोंके अवगुणोंको नहीं देखते, उनके गुणोंको ही ग्रहण करते हैं, जो गौ, ब्राह्मण और समस्त प्राणियोंके हितमें रत हैं, जो नीतिमें निपुण हैं, जो अपनेमें जो कुछ अच्छाई है, उसे भगवान्‌की कृपा समझते हैं और अपनेमें जो बुराई है उसे अपने स्वभावका दोष मानते हैं, भगवान्‌के भक्तोंमें जिनका प्रेम है, जो जाति, पाँति, धन, घर, परिवार, धर्म, बड़ाई आदि सबमें आसक्तिका त्याग कर भगवान्‌को ही हृदयमें धारण किये रहते हैं, जिनकी दृष्टिमें स्वर्ग, नरक और मोक्ष समान हैं, जो सर्वत्र भगवान्‌को ही देखते रहते हैं, जो मन, वाणी और शरीरसे भगवान्‌के ही सच्चे सेवक हैं और जो कभी कुछ भी नहीं चाहते, प्रत्युत जिनका एकमात्र भगवान्‌में ही स्वाभाविक निष्काम प्रेम है, ऐसे मनुष्योंके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं ।

यों तो भगवान् सब जगह समानभावसे व्यापक हैं ही, किंतु जिनके हृदयका भाव उपर्युक्त प्रकारसे उत्तमोत्तम सद्‌गुण और भगवत्प्रेमसे युक्त है, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे विराजमान हैं । गीतामें भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न कोई प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

यद्यपि ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें भगवान् अन्तर्यामीरूपसे समभावसे व्याप्त हैं, इसलिये उनका सबमें समभाव है और समस्त चराचर प्राणी उनमें सदा स्थित हैं तथापि भगवान्का अपने भक्तोंको अपने हृदयमें विशेषरूपसे धारण करना और उनके हृदयमें स्वयं प्रत्यक्षरूपसे निवास करना भक्तोंकी अनन्य भक्तिके कारण ही होता है ।

जैसे समभावसे सब जगह प्रकाश देनेवाला सूर्य दर्पण आदि—स्वच्छ पदार्थोंमें प्रतिबिम्बित होता है, काष्ठादिमें नहीं होता तथापि उसमें विषमता नहीं है; वैसे ही भक्तोंके हृदयमें विशेषरूपसे विराजमान होनेपर भी भगवान्में विषमता नहीं है ।

जिनका किसीसे भी द्वेष नहीं, सबपर हेतुरहित दया और प्रेम है, जो क्षमाशील हैं, अहंकार और ममताका जिनमें अत्यन्त अभाव है, जिन्होंने अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें करके भगवान्में ही लगा दिये हैं, जिनसे किसीको भी उद्वेग नहीं होता, जिनका हृदय इच्छा, भय, उद्वेग और आसक्तिका अत्यन्त अभाव होकर परम शुद्ध हो गया है, जो पक्षपातरहित और दक्ष हैं, जो संसारसे उदासीन और विरक्त हैं, जिनमें कर्मोंके कर्तापन और फलेच्छाका अत्यन्त अभाव है, हर्ष-शोकका भी जिनमें अत्यन्त अभाव है, जिनका वैरी-मित्रमें, शीत-उष्णमें, अनुकूलता-प्रतिकूलतामें और मिट्टी-स्वर्णमें समान भाव है, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ, भाव, क्रिया और परिस्थितिमें जिनका समान भाव रहता है, जो भगवान्के विधानमें हर समय संतुष्ट हैं, घर और देहमें अभिमानसे रहित हैं, जिनकी बुद्धि स्थिर है और जो परमात्माके ज्ञानमें ही नित्य स्थित हैं—ऐसे भक्तिसंयुक्त सद्गुणोंसे सम्पन्न भगवान्के भक्त भगवान्को अत्यन्त प्रिय हैं ।

इसलिये हमें चाहिये कि अपने भाव और क्रियाओं-को उत्तम-से-उत्तम बनावें । वास्तवमें भाव उत्तम होनेसे क्रिया अपने-आप स्वाभाविक ही उत्तम होने लगती है, उसमें कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता और जो सर्वथा ईश्वरके ही शरण हो जाता है, अपने-आपको ईश्वरके समर्पण कर देता है, उसमें ईश्वरकी भक्तिके प्रभावसे उत्तम गुण स्वतः ही आ जाते हैं । अतः हम लोगोंको उत्तम गुण और उत्तम भावकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे ईश्वरकी शरण होकर निष्काम प्रेम-भावसे ईश्वरकी अनन्य भक्ति करनी चाहिये। इस प्रकार करनेपर ईश्वरकी कृपासे प्रमाद, आलस्य, भोगवासना, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन और व्यर्थ संकल्पोंका अत्यन्त अभाव होकर परम कल्याणकारक विवेक और वैराग्ययुक्त सद्गुण-सदाचार स्वतः ही आ जाते हैं ।

सच और झूठ

जीवनका लक्ष्य

(रचयिता—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

पग-पग भयसे पद-दलित,
'झूठ' विचारा हाय ।
'सच' बैठा भय-शीश पै,
निर्भय बीन बजाय ॥

तत्व-चिन्तन निरन्तर करना,
मन उन्नत भावों से भरना,
लक्ष्य जीवनका बस यही है—
किसी तरह तम-सागर तरना ।

विश्व-वशीकरण

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका कहना है कि मधुर वचनसे सर्वत्र सभीको सुख मिलता है, यह प्रत्यक्ष ही वशीकरण-मन्त्र है। अतएव कटुवचन छोड़ देना चाहिये।

तुलसी मीठे बचन ते सुख उपजत चहुँ ओर।
बसीकरन यह मंत्र है परिहरु बचन कठोर॥

श्रीवाराहमिहिराचार्यने अपनी बृहत्संहितामें कहा है कि प्रियभाषी मनुष्य अभिमानियोंसे भी अपना कार्य बड़ी सुगमतापूर्वक करा लेता है, यद्यपि अहंकारीका वशीकरण अन्य किसी प्रकारसे होना दुष्कर ही है—

कृच्छ्रेण संसाधयतेऽभिमानी
कार्याण्ययत्नेन वदन् प्रियाणि।

(बृहत्सं० ७५। ६)

भावुकोंका आक्षेप

इसपर कुछ लोगोंका कहना है कि मधुर भाषण धूर्तोंका कार्य है। वे ही चाटुकारितासे अपना कार्य सिद्ध कर पीछे विश्वासघाततक कर बैठते हैं। इसलिये 'मीठी बोली दगाबाजकी निशानी' समझनी चाहिये। (कुलटा) स्त्रियोंके सम्बन्धमें प्रसिद्ध ही है कि उनकी बोली अमृत-जैसी पर उनका हृदय छुरेकी धार-जैसा होता है—

सुधामयं वचो यासां कामिनां रसवर्धनम्।
हृदयं क्षुरधाराभं प्रियः को नाम योषिताम्[1]॥

(श्रीमद्भा० माहा० ५। १५; श्रीमद्भा० ६। १८। ४१; ९। १४। ३७)

इसी प्रकार दुष्टोंके सम्बन्धमें भी प्रसिद्ध है कि वे मोरके समान मीठा बोलते हैं, पर पीछे अपना काम साधनेके लिये प्राणतक लेनेमें नहीं हिचकते—

बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाहिं महा अहि हृदय कठोरा॥
भय दायक खल की प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी॥

दुर्जनैरुच्यमानानि वचांसि मधुराण्यपि।
अकालकुसुमानीव भयं संजनयन्ति हि॥

(हितोपदेश विग्र० २३)

इसलिये खरे संतोंकी पहचान ही यह है कि वे ऊपरसे कठोर ही बोलते हैं, पर उनका हृदय गरी-जैसा कोमल होता है, परिणाम बड़ा मधुर निकलता है—

नारिकेलफलाकारा दृश्यन्ते सज्जना जनाः।

बचन परम हित सुनत कठोरे। कहहिं सुनहिं ते नर जग थोरे॥

अप्रियस्य च पथ्यस्य श्रोता वक्ता च दुर्लभः।

(वाल्मीकि० युद्धकांड)

अन्यथा दुष्ट चाटुकारोंकी दुनियामें क्या कमी है, वे तो सर्वत्र सुलभ हैं ही—

प्रिय बानी जे कहहिं जे सुनहीं। ऐसे नर निकाय जग अहहीं॥

पुरुषाः सुलभा राजन् सततं प्रियवादिनः।

(वाल्मीकि० युद्धकांड०)

उचित मार्ग कौन ?

पर मनु आदि स्मृतिकारोंने स्पष्ट ही सत्य तथा प्रिय बोलनेकी सम्मति दी है। कटु सत्य—कानेको काना कहनेकी मनाही भी की है—

'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।'

(४। १। ३८)

साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि साधुका कटु-भाषण ही धर्म है या साधु केवल नारियल-जैसा ही हो सकता है या मधुर उपदेश हितावह हो ही नहीं सकता या हितकर बात कठोर होगी ही; क्योंकि 'सुनत मधुर परिनाम हित'में स्वयं तुलसीदासजीने ही मधुर हितावह बात कैकेयीको विप्र-पत्नियोंसे कहलायी है। और—

'परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं'

—यह साधुका लक्षण भी उन्होंने स्पष्ट ही बतलाया है। अतएव कटुभाषण तो साधुका लक्षण कभी नहीं हो सकता।

अधिक क्या, कटुभाषणको तो कहीं-कहीं सबसे भयानक पाप बतलाया गया है। **'श्रीमद्भागवत'में भिक्षुकाख्यानके**

---

१. शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम्।
हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम्॥
(श्रीमद्भा० ६। १८। ४१)

प्रसङ्गमें बड़े स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि मर्मभेदी बाणोंसे भी हृदयको उतना ताप नहीं होता, जितना कठोर वचनरूपी तीखे बाणोंसे होता है—

न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः ।
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः ॥

(११ । २३ । ३)

उत्तररामचरितकार भवभूतिके शब्दोंमें उन्मत्त एवं प्रमत्तकी तीखी वाणीको राक्षसी वाणी कहा गया है और उसे सभी वैरों, कलहों तथा अनर्थोंकी जड़ कहा गया है—

ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः ।
सा योनिः सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निर्ऋतिः ॥

(५ । ३०)

विदुरने भी धृतराष्ट्रको समझाते हुए कहा था कि जिन वाग्बाणोंसे व्यथित प्राणी रात-दिन व्याकुल रहता है, ऐसी वाणीको पण्डित कभी भी दूसरेपर प्रयोग न करे—

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः ॥

(उद्योग० ३४ । ८०; अनुशा० १०३ । ३२)

भीष्मने भी राजधर्मोंको समझाते हुए युधिष्ठिरसे कहा था कि जिससे दूसरोंको क्लेश, उद्वेग पहुँचे ऐसी रूखी बात पापलोक—घोर नरकमें ले जानेवाली है, उसे कभी भी राजा मुँहसे न निकाले—

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेद्रुशतीं पापलोक्याम् ॥

(अनु० १०४ । ३१)

बाणोंसे विंधा हुआ तथा फरसेसे काटा हुआ वन पुनः अङ्कुरित हो जाता है, पर दुर्वचनरूपी शस्त्रसे किया हुआ भयंकर घाव कभी नहीं भरता—

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥

(अनु० ३३)

कर्णि, नालीक और नाराच—ये यदि शरीरमें लग जायँ तो निकाले जा सकते हैं, किंतु कटुवचनरूपी भयंकर काँटेका निकाला जाना असम्भव है। वह तो सदा हृदयमें कसकता रहता है—

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥

(महा० अनु० १०४ । ३४)

इसलिये अंधे, काने, छाँगुर, निपढ़, निन्दित, कुरूप और धर्महीन मनुष्योंको वैसा कहकर खिल्ली नहीं उड़ानी चाहिये—(३५)।

अन्यत्र भी कहा गया है कि जो मनुष्य मर्मको पीड़ित करनेवाली, कठोर और रूखी वाणी बोलता है और काँटे-जैसे वचनोंसे मनुष्योंको दुःख पहुँचाता है, उसे अत्यन्त अमङ्गलयुक्त तथा मृत्युको ही मुँहमें धारण करनेवाला समझना चाहिये। रूखे और तीखे वचन मनुष्योंके मर्म, अस्थि, हृदय और प्राणोंको जला देते हैं, अतएव धर्मनिष्ठ पुरुषको तीखी एवं रूखी वाणीका सदा-सर्वदा त्याग करना चाहिये—

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वहन्तम् ॥
मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्
रूक्षा वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम् ।
तस्माद् वाचमुषतीमुग्ररूपां
धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥

(कुन्दमाला)

जो यह कहा जाता है कि सच्चे साधु-महात्मा कटुवचन ही बोलते हैं, सो भी ठीक नहीं। बाहर-भीतरसे पवित्र, सरल तथा अत्यन्त मृदु होना ही वास्तविक साधुता है, इसलिये साधुपुरुष कभी भी उद्वेजक वेदविरोधी मार्ग भला कैसे अपना सकता है ? उसके मुँहसे तो भगवन्नाम-यश तथा सदुपदेशमयी सूक्ति-सुधाकी ही वर्षा होती है—कुटिल, तीक्ष्ण, मर्मभेदी विषैले बाण तो दुष्टोंके ही मुँहसे निकल सकते हैं। साधु-कवियोंकी ही सूक्ति है—

कुटिल बचन सबसे बुरा, जारि करै तन छार ।
साधु बचन जल रूप है बरसे अमृत धार ॥

दुर्जनको मुँह विवर है निकसत वचन भुजंग।
ताकी औषध मौन है डसै न एको अंग॥
(तुलसीदास)

मनमें रहना भेद न कहना बोलिबा अमृत बानी।
आगिला अगनी होइबा अवधू तो आपन होइबा पानी[1]॥
(गोरखनाथ)

गोस्वामी तुलसीदासजीने तो साधुओंके लिये स्पष्ट लिखा है कि वे शम-दमकी नीतिसे नहीं विचलित होते और न कभी भूलकर परुष वचन ही बोलते हैं—

सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं।
परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

उलटे वे सभीको बड़े आदर-मानसे सत्कृत करते हैं—

'सबहि मानप्रद आपु अमानी।'

मृदुभाषण और राजनीति

राजाके लक्षणोंमें मनु, याज्ञवल्क्य, शुक्र, कामन्दक, कौटल्य, राम, भीष्म—सभीने 'नम्रता, अक्रूरता तथा मधुर भाषण'का समावेश किया है। अधिक क्या, नीतिके चार चरणोंमें प्रथम 'साम' ही है और वह 'साम' चार प्रकारका होता है और उन चारोंमें 'मृदु पूर्वभाषण' अनुस्यूत है। कटुवचनकी कटु निन्दा सभी राजनीतिज्ञोंने की है—'अग्नि-पुराणमें श्रीरामका कहना है कि वाक्पारुष्य महान् अनर्थकर तथा लोकोद्वेजक होता है, इससे सारे प्राणी शत्रु बन बैठते हैं—

वाक्पारुष्यं परं लोके उद्वेजनमनर्थकम्।
भूतान्युद्वेज्यमानानि द्विषतां यान्ति संश्रयम्।
विरुद्धाः शत्रवश्चैव विनाशाय भवन्ति ते॥
(अग्निपुराण २४१। ३६–३८)

शुक्रका कहना है कि राजाको चाहिये कि मनोहर वाणीसे वह सदा संसारको प्रसन्न रक्खे। अन्यथा, कटुवाणीसे तो कोई कुबेरके समान भी राजा क्यों न हो, वह प्राणियोंको कम्पित कर डालता है। अतएव किसी भी अवस्थामें राजा मुँहसे कटु शब्द न निकाले—

नित्यं मनोऽपहारिण्या वाचा प्रह्लादयेज्जगत्।
उद्वेजयति भूतानि क्रूरवाग् धनदोऽपि सन्।
पीडितोऽपि हि मेधावी न तां वाचमुदीरयेत्॥
(शुक्रनीति १। १६५-६६)

सज्जन, स्वजन एवं शत्रुओंसे भी जो सर्वदा शिष्ट एवं प्रियभाषण करता है, वह सबको प्रिय होता है—विद्वान्‌की वाणी तो हंस, कोकिल और मोरसे भी मनोहर होती है—

मदरक्तस्य हंसस्य कोकिलस्य शिखण्डिनः।
हरन्ति न तथा वाचो यथा वाचो विपश्चिताम्॥
(शुक्रनीति १। १६८)

जो लोग सर्वदा मधुर बोलते हैं और स्वजनोंका सत्कार करते हैं, वे वन्द्यचरित्र स्वनामधन्य पुरुष मनुष्यके वेशमें साक्षात् देवता ही हैं—

ये प्रियाणि प्रभाषन्ते प्रियमिच्छन्ति सत्कृतम्।
श्रीमन्तो वन्द्यचरिता देवास्ते नरविग्रहाः॥
(शुक्रनीति १। १६९)

सभी जीवोंपर दया, प्राणियोंसे मित्रता, दान तथा मधुर भाषण—इन चारोंसे बढ़कर कोई वशीकरण इस विश्वमें नहीं है—

न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक्॥
(शुक्रनीति सा० १। १७०)

'कामन्दक'का कहना है कि प्रिय बोलना, सत्य बोलना, दया करना, दान देना, दीनोंकी रक्षा करना, सत्पुरुषोंकी सङ्गति करना तथा सच्चरित्र होना—ये सात सत्पुरुषोंके व्रत हैं। अतएव राजाको चाहिये कि वह विश्वको वश करनेके लिये सभीसे बिना कुछ खर्चके प्रसन्न करनेवाली प्रिय वाणीका प्रयोग करे—। इतना कहकर ये पूर्वोद्धृत शुक्रके सभी वचनोंको लिख जाते हैं और फिर अन्तमें कहते हैं कि 'कहाँ तो राजवर्ग और कहाँ प्रजाका संग्रह; पर मधुर वचनमें कुछ ऐसा ही वशीकरण है कि उसके योगसे प्रजा वशमें आ जाती है और वह मर्यादासे एक डग भी विचलित नहीं होती—

क्व च नरपतिवर्गः संग्रहः क्व प्रजानां
मधुरवचनयोगाल्लोकमाह्लादयीत।
मधुरवचनपाशैरानतो लालितः सन्
पदमपि हि न लोकः संस्थितेर्भेदमेति॥
(कामन्दकीय नीतिसार ३। ३९)

---

१. बराबर स्वरूपावस्थितिमें रहना चाहिये, अपना अनुभव किसीको नहीं बताना चाहिये, अमृत वाणी बोलनी चाहिये। सामनेका मनुष्य यदि आगबबूला हो जाय तो साधकको पानीके समान नम्र हो जाना चाहिये।

मृदुभाषणसे पुण्य

श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणके तृतीयखण्डका सम्पूर्ण २९४ वाँ अध्याय ही प्रियभाषण—प्रियंवद-प्रशंसात्मक है और उसके अन्तमें कहा गया है कि प्रियवादियोंको यहाँ भी सुख मिलता है और मरनेपर वे स्वर्गमें जाते हैं। प्रियंवदोंको सब कुछ मिल जाता है, इसलिये सदा मधुर प्रिय-भाषी होना चाहिये—

प्रियंवदाः सौख्यमिहाप्नुवन्ति
प्रियंवदा नाकमथ प्रयान्ति।
प्रियंवदाः सर्वमथाप्नुवन्ति
प्रियंवदः स्यादत एव नित्यम्॥

(श्रीविष्णुधर्म० ३। २९४। ७)

इसी प्रकार भविष्यपुराण ब्राह्मपर्वका कहना है कि मनुष्यके हृदयको न तो शीतल जल ही इतना आह्लादित कर सकता है और न चन्दन अथवा शीतल छाया ही, जितना उसे मधुरभाषिणी वाणी आह्लादित करती है (अतएव सत्य मृदुभाषणका पुण्य कहना कठिन है)—

न तथा शीतलसलिलं
न चन्दनरसो न शीतला छाया।
आह्लादयति च पुरुषं यथा
मधुरभाषिणी वाणी॥

(भविष्य, ब्राह्मपर्व, ७३। ४८)

मङ्गलजनक और वशीकरण

ऊपर हम शुक्रके 'न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते' इन शब्दोंमें मधुरभाषणको तीनों लोकोंमें सर्वोत्तम वशीकरण कह आये हैं। 'श्रीविष्णुधर्म'में हंसरूपी भगवान्‌ने भी यही उपदेश किया है—

प्रियवाक्यात् परं लोके नास्ति संवननं परम्।

(३। २९४। ६)

वहीं यह भी कहा गया है कि यह सारा संसार ही प्रियवादियोंके वशीभूत हो जाता है—

प्रियंवदानां सकलं जगदेतत् स्थितं वशे।

(३। २९४। ५)

उत्तररामचरितमें कहा गया है कि सुनृतवाणी कामधेनु है, वह सारे कामनाओंको पूर्ण कर डालती है, दरिद्रता एवं कुरूपताको दूर कर डालती है। वह यश बढ़ाती तथा पापोंका शमन करती है, धीर पुरुषोंने इस मङ्गलमयी वाणीको समस्त मङ्गलोंकी माता-जननी-प्रसविनी कहा है—

कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं
कीर्त्तिं सूते दुष्कृतं या हिनस्ति।
तां चाप्येतां मातरं मङ्गलानां
धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः॥

(उत्तरराम० अंक ५। ३१)

उपसंहार

वास्तवमें कटुवचन बोलना, चुगली करना, असत्य तथा अंट-संट बोलना—ये चार प्रकारके वाचिक पाप कहे गये हैं—

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैव सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥

(काशीखं० २७। १५२)

साथ ही कटुवादन क्रोधका ही परिणाम अथवा लक्षण है और क्रोधको पापका मूल ही कहा गया है। अतएव इससे अवश्य बचना चाहिये। गीतामें भक्तसाधुके लक्षणोंमें—

'यस्मान्नोद्विजते लोको'

(१२। १५)

'जिससे लोक जरा भी उद्विग्न न हो' ऐसा कहा गया है, ऐसी दशामें साधकको भूलकर भी स्पष्टवादिताके चोलेमें कटुभाषणको प्रश्रय न देना चाहिये। भगवान्‌की दी हुई वाणीका भगवन्नाम-यश गाने तथा सभी जीवोंको भगवान्‌का रूप मानकर उनके सम्मानमें ही उपयोग करना चाहिये। तभी उसकी सफलता है।

श्रीकृष्णका मित्र-वात्सल्य

सखा द्वार आये या कि जीवन-अधार आये द्वारका-धनीने दौड़ उरसे लगाया है।
दीनता अगाध देख निज-अपराध मान करुणा-निधानके दृगोंमें जल छाया है॥
रंक मित्र मेरा हो कलंक है असह्य यह बेर नहीं क्षणमें कुबेर-सा बनाया है।
चाह भर चावलोंको चावसे चबाया या कि द्विजकी दरिद्रताको दाँतोंमें दबाया है॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

[पाँच अङ्कोंमें एक ऐतिहासिक नाटक]

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी)

मुख्यपात्र, स्थान, समय

मुख्यपात्र [नाटकमें प्रवेशके अनुसार]

(१) इल्लम्मागारू—श्रीवल्लभाचार्यकी माता ।

(२) लक्ष्मणभट्ट—श्रीवल्लभाचार्यके पिता ।

(३) श्रीवल्लभाचार्य—नाटकके नायक ।

(४) नारायणभट्ट—श्रीवल्लभाचार्यके गुरु ।

(५) विद्यातीर्थ—विजयनगरके स्मार्तोंके नेता ।

(६) व्यासतीर्थ—विजयनगरके वैष्णवोंके नेता ।

(७) कृष्णदेवराया—विजयनगरके राजा ।

(८) विल्वमंगलाचार्य—विष्णुस्वामी सम्प्रदायके आचार्य ।

(९) श्रीगोवर्धननाथजीका स्वरूप ।

(१०) कृष्णदास मेघन
(११) वासुदेवदास छकड़ा
(१२) माधोभट्ट काश्मीरी
(१३) दामोदरदास हरसानी
(१४) जादवेन्द्रदास कुम्हार
} श्रीवल्लभाचार्यके साथ रहनेवाले शिष्य ।

(१५) सद्दू पाण्डे—जिन्हें श्रीनाथजीके सबसे पहले दर्शन हुए ।

(१६) कुम्भनदास—श्रीनाथजीके पहले कीर्तनियाँ तथा अष्टछापके एक कवि ।

(१७) सूरदास—अष्टछापके कवि ।

(१८) परमानन्ददास— ,,

(१९) कृष्णदास— ,,

(२०) अक्काजी—(महालक्ष्मी) श्रीवल्लभाचार्यकी पत्नी ।

(२१) रजो—एक वैष्णव, जो अक्काजीके संग रहती थी ।

(२२) विट्ठलनाथ—श्रीवल्लभाचार्यके छोटे पुत्र ।

(२३) श्रीगोपीनाथ—श्रीवल्लभाचार्यके ज्येष्ठ पुत्र ।

(२४) जगन्नाथपुरीके राजा—

(२५) पुरोहित श्रीकृष्णगुच्छीकार—जगन्नाथपुरीके राजाके पुरोहित ।

(२६) श्रीचैतन्य महाप्रभु—(बंगालके महापुरुष)

(२७) रूप—श्रीचैतन्य महाप्रभुके शिष्य ।

(२८) सनातन— ,,

(२९) जीवगोस्वामी— ,,

स्थान—चम्पारण्य, काशी, विजयनगर, झारखण्ड, गोवर्धनपर्वत, गोकुल, अड़ेल, जगन्नाथपुरी, वृन्दावन ।

समय—विक्रमीय संवत् १५३५ से १५८७ तक ।

उपक्रम

स्थान—चम्पारण्य

समय—प्रातःकाल

[घना जंगल दिखायी पड़ता है । जंगलमें चम्पाके वृक्षोंकी बहुतायत है, जो सीधे ऊपरको चले गये हैं । एक वृक्षके नीचे एक नवजात शिशु लेटा हुआ अपने पैरके अँगूठेको पी रहा है । शिशुका वर्ण मेघके सदृश श्याम है । शिशु अत्यन्त सुन्दर है । सिरपर बड़े-बड़े लहराते हुए बाल हैं और सबसे अधिक आकर्षक हैं शिशुके विशाल लोचन । शिशुके चारों ओर परंतु उससे कुछ दूर आग लगी हुई है, जिससे जान पड़ता है कि शिशु एक अग्नि-कुण्डके मध्यमें है ।]

[लक्ष्मणभट्ट और इल्लम्मागारूका प्रवेश । लक्ष्मणभट्ट और इल्लम्मागारू दोनों ही प्रौढ़ अवस्थाके हैं । भट्टजी कुछ साँवले वर्णके और इल्लम्मागारू गेहुँए वर्णकी । दोनों न बहुत ऊँचे हैं और ठिगने, न बहुत दुबले और न मोटे । भट्टजीके सिरपर चौड़ी शिखा है और मुखपर मूँछें । शिखा और मूँछोंके केश श्वेत हो चले हैं । वे श्वेत धोती धारण किये हुए हैं, ऊपरके शरीरपर श्वेत उत्तरीय है । ललाटपर तिलक लगा हुआ है । इल्लम्मागारू रंगीन साड़ी और चोली पहने हैं । उनके ललाटपर टिकली है । इल्लम्मागारू और लक्ष्मणभट्टकी दृष्टि एकाएक शिशुपर पड़ती है ।]

इल्लम्मागारू—हैं··हैं··यह··यह क्या ?·····

लक्ष्मणभट्ट—(बीचमें ही) यहीं तो तुमने कल रात्रिको पुत्र प्रसव किया था ।

इल्लम्मागारू—पर··पर, वह··वह तो अठमासा होनेके कारण मृत था ।

लक्ष्मणभट्ट—मृत था, तुम निश्चयपूर्वक कह सकती हो !

इल्लम्मागारू—जहाँतक मेरा अनुमान है ।

लक्ष्मणभट्ट—ऐसा तो नहीं है कि रात्रिके अन्धकारके कारण तुम्हें वह मृत जान पड़ा हो ?

इल्लम्मागारू—(विचारते हुए) हो सकता है, क्योंकि आपके पूर्वज जो सोमयज्ञ करते आ रहे थे, आपके द्वारा उनके शतककी पूर्त्ति हुई। भगवान्ने आपको स्वप्न दिया कि वे मेरे इस गर्भमें प्रविष्ट हो अवतार धारण करनेवाले हैं। कल रात्रिको जब अठमासा पुत्र हुआ, मेरा हृदय खेदसे भर गया। सौ सोमयज्ञकी पूर्त्तिपर जो वरदान आपको मिला था, उसका यह कैसा परिणाम—बार-बार मेरे मनमें उठने लगा। पर भगवत्-गतिका कौन पार पा सकता है—यह सोचकर मैं चुप रही।

लक्ष्मणभट्ट—परंतु तुम्हारे प्रसव और मृत पुत्रकी उत्पत्तिपर भी न जाने क्यों मेरे चित्तमें खिन्नता न आयी थी, वरं प्रातःकाल होते-होते तो न जाने किस प्रकारके एक विलक्षण उत्साहसे मेरा मन भर गया था।

इल्लम्मागारू—(विचारते हुए) थोड़ी देरकी खिन्नताके पश्चात् वह तो मेरे मनकी भी दशा हुई थी, (कुछ रुककर) तो···तो मेरा वही···वही पुत्र तो यह नहीं है, जिसे मैंने मृत मान लिया था ?

लक्ष्मणभट्ट—परंतु कहीं तुम किसी दूसरेके पुत्रको तो अपना पुत्र नहीं मान रही हो ?

इल्लम्मागारू—(विचारते हुए) यदि, ऐसा···ऐसा होता तो माताके हृदयमें अपनी संतानके प्रति जो अलौकिक स्नेह रहता है; वह इसे देखते ही मेरे मनमें न उमड़ता।

लक्ष्मणभट्ट—इसकी तो परीक्षा हो सकती है।

इल्लम्मागारू—कैसे ?

लक्ष्मणभट्ट—शिशुके चारों ओर अग्नि लगी हुई है, बढ़ो आगे, यदि हमारा पुत्र होगा तो अग्नि तुम्हें मार्ग दे देगी।

इल्लम्मागारू—इस अग्निको तो, मेरे स्तनोंसे जो दूध झरने लगा है, उसकी धाराएँ ही बुझा देंगी।

[इल्लम्मागारू शिशुकी ओर आगे बढ़ती हैं। उनके स्तनोंसे सचमुच ही दूधकी धाराएँ निकलने लगती हैं, जिसके कारण अग्निका इतना भाग बुझ जाता है, जिससे वे शिशुके निकट पहुँच सकें। नेपथ्यसे गीतकी ध्वनि आती है।]

आजु बधाई मंगलाचार।
गावत मंगल गान जुवति-जन
बसन साज सिंगार॥
मंगल कनक कलस सुभ मंगल
बाँधी बंदनवार।
मंगल मोतिन चौक पुराये
पंच सब्द गृह द्वार॥
घरघर मंगल महा महोच्छव
श्रीवल्लभ अवतार।
हर जीवन प्रभु महापुरुष श्रीलक्ष्मण
भूप कुमार॥

(यवनिका)

पहला अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—काशीमें एक गुरुकुलके सामनेका मैदान।

समय—संध्या।

[पीछेकी ओर गुरुकुलके भवनके बाहरी भागका कुछ हिस्सा दिखायी देता है। मैदानमें आमके वृक्षोंका बाहुल्य है, जो वसन्तके कारण मौरोंसे लदे हुए हैं। इन वृक्षोंकी वजहसे यह मैदान एक सुन्दर अमराई बन गया है। मैदानमें वल्लभ अपने सहपाठियोंके साथ बैठे हुए हैं। वल्लभकी अवस्था ग्यारह वर्षकी है। साँवले रंगके होनेपर भी वे अत्यन्त सुन्दर बालक हैं। वेष ब्रह्मचारियोंका है। बढ़े हुए केश, ऊपरका शरीर खुला हुआ, नीचेके शरीरपर मूँजकी मेखलामें कौपीन, एक हाथमें दण्ड और दूसरेमें कमण्डलु। उनके सहपाठी उनकी अवस्थासे बहुत अधिक अवस्थाके हैं। इनकी अवस्था १८ वर्षसे २३ वर्षके बीचमें है। कोई गौर, कोई गेहुँए और कोई श्यामवर्णके। वेश-भूषा वल्लभके सदृश।]

एक विद्यार्थी—तो·····तो, वल्लभ ! तुम इस गुरुकुलको कल·····कल प्रातःकाल सदाके लिये छोड़ दोगे ?

दूसरा—छोड़ न देंगे तो अब ये यहाँ करेंगे ही क्या ?

तीसरा—हाँ, ग्यारह वर्षकी अवस्थामें वेद, ब्राह्मण, वेदान्त, ब्रह्मसूत्र, गीता, स्मृतियाँ, शास्त्र, इतिहास, पुराण सबमें पारंगत हो गये।

चौथा—जो इनके पूर्व आये हुए हममेंसे एक भी न हो पाया।

पाँचवाँ—यह कैसे·······कैसे हुआ, वल्लभ ?

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) हाँ, कैसे हुआ ?

वल्लभ–यह तो मैं नहीं जानता कि कैसे हुआ ! पर हुआ अवश्य है ।

पहला–आश्च ! महान् आश्चर्यकी बात हुई है ।

तीसरा–हाँ, इस अवस्थामें इस प्रकार समस्त वेद-विद्यामें पारंगत होना आश्चर्यकी बात नहीं तो और क्या है ? इसीलिये तो हमलोग तुम्हें बाल-सरस्वती, वाक्पति, वैश्वानरावतार आदि सम्बोधनोंसे सम्बोधित करते रहते हैं ।

चौथा–हाँ, ऐसी प्रतिभा तो आश्चर्यकी बात ही है ।

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !

वल्लभ–कुछ आश्चर्यकी बात हो सकती है, पर महान् आश्चर्यकी बात तो मैं इसे नहीं मानता ।

दूसरा–यह कैसे ?

वल्लभ–अभी-अभी सुननेमें नहीं आया कि अमुक बालक बोलना आरम्भ करते ही कुछ श्लोक भी बोलने लगा; अमुक बालिकाको पाँच वर्षकी अवस्थामें ही समस्त भगवद्गीता कण्ठस्थ हो गयी ।

पाँचवाँ–कभी-कभी ऐसी बातकी भनक कानमें अवश्य पड़ती है । पर यह होता कैसे है ?

चौथा–हममेंसे कोई भी तुमसे कम परिश्रम नहीं करता, तुम्हारी अपेक्षा कहीं अधिक समयसे यहाँ पढ़ रहे हैं ।

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) हाँ ।

चौथा–पर, तुमने जितना सीख लिया उसका शतांश भी हम न सीख पाये ।

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) हाँ शतांश भी नहीं ।

पाँचवाँ–बताओ न, यह कैसे हुआ ? जिस बालकके मुखसे बोलना आरम्भ करते ही श्लोक निकलने लगे, जिस बालिकाको पाँच वर्षकी अवस्थामें ही समस्त भगवद्-गीता कण्ठस्थ हो गयी, वह भी कैसे हुआ ?

कुछ विद्यार्थी–हाँ, कैसे हुआ ?

वल्लभ–मैं भी नहीं कह सकता कि इस सबका क्या रहस्य है, पर हुआ यह अवश्य । पूर्वजन्मके संस्कार और भगवत्-कृपा ही कदाचित् इसके कारण हों ।

[कुछ देर निस्तब्धता]

पहला–तो ······ तो बालसरस्वती, वाक्पति, वैश्वानर ····· ।

वल्लभ–(मुसकराकर) और भी अनेक सम्बोधन बना डालो न !

तीसरा–जितने भी ऐसे सम्बोधन बनाये जा सकते हैं, बनाना ही चाहिये ।

पहला–मैं कह रहा था वल्लभ ! कल तुम चले अवश्य जाओगे ।

दूसरा–मैंने कहा न; कि अब ये यहाँ रहकर क्या करेंगे !

चौथा–और ······ और कितना सूना हो जायगा यह गुरुकुल ऐसी महान् और दैवी प्रतिभाको खोकर !

तीसरा–और ······ और कैसे नीरस हो जायँगे हम सबके जीवन भी वल्लभके विना ?

वल्लभ–मित्रो ! यह सारा जगत्-जीवन यथार्थमें नदी-नाव संयोग ही है, पर यथार्थमें देखा जाय तो न किसीका संयोग होता और न वियोग । तुम जानते हो मैंने वेद-विद्याको तोतेके सदृश रटा नहीं है; उसे समझा भी है ।

पहला–इसमें भी कोई संदेह है ?

दूसरा–यदि समझा न होता तो हम सबको इस प्रकार समझा सकते थे !

वल्लभ–देखो, मित्रो ! 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सूत्रको मैं सबसे महान् सूत्र मानता हूँ; तुम वही हो जो मैं और मैं वही हूँ जो तुम । और यह समस्त सृष्टि वही है जो तुम और मैं । अर्थात्—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' । कहो तो !

सब विद्यार्थी–(एक साथ) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ।

पहला–पर कहनेसे क्या होता है ?

दूसरा–और समझनेसे भी क्या होता है ?

तीसरा–हाँ, अनुभव होना चाहिये ।

वल्लभ–कहते-कहते समझते-समझते अनुभव भी होने लगेगा ।

चौथा–तुम्हें होता है ?

वल्लभ–निश्चयपूर्वक तो नहीं कह सकता, पर ······ पर कदाचित् ····· (चुप हो जाते हैं) ।

कुछ विद्यार्थी–(एक साथ) होता है, होता है ।

वल्लभ–अच्छा, समझनेका यत्न करो । मैंने कहा न ! 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है । पर कोई भी एकाकी खेल नहीं खेल सकता । उसके लिये दूसरेकी

आवश्यकता रहती है, इसलिये भगवान्‌ने अपनी लीलाके निमित्त अनेक रूप धारण किये। परंतु जैसे कुण्डलाकार बना सर्प दण्डाकृतिको लेकर भी विकारयुक्त नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म अनेक रूप धारण करके भी विकारी नहीं है।

पहला—पूरा समझमें नहीं आया।

वल्लभ—कुछ उपमाएँ और लो! स्वर्णके भूषण बनाये जानेपर भी स्वर्ण स्वर्ण रहता है, मृत्तिकाके पात्र बनाये जानेपर भी मृत्तिका मृत्तिका रहती है, जलमें ऊर्मियाँ उठनेपर भी जल जल रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म अनेक रूप धारण करनेपर भी ब्रह्म ही रहता है।

तीसरा—अब समझमें आया, पर अनुभव नहीं होता।

वल्लभ—यह ब्रह्म चैतन्य है, निराकार होनेपर भी उत्पत्ति-पक्षकी दृष्टिसे इच्छाद्वारा साकार हो जाता है। जीव इसका एक अंश है। माया भी उससे पृथक् नहीं। खेल खेलनेके लिये जिस प्रकार एकसे अनेककी आवश्यकता होती है, उसी तरह मायाकी। अतः मैं श्रीमच्छङ्कराचार्यके मायावाद और इस कथनको कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' को नहीं मानता। जगत् ब्रह्मका ही रूप होनेसे मैं जगत्‌को भी सत्य मानता हूँ और इसीलिये मेरा वाद है—'ब्रह्मवाद, शुद्धाद्वैत'।

पहला—तो तुम कोई नया वाद चलानेवाले हो?

वल्लभ—मैं नहीं जानता। तुम मित्रोंके सामने जो अनुभव करता हूँ, वह रख रहा हूँ।

दूसरा—और जो हमारे सामने रख रहे हो, वही सारे संसारके सामने भी रखोगे?

वल्लभ—हो सकता है।

[नारायणभट्टका प्रवेश। नारायणभट्ट लगभग ६४ वर्षकी अवस्थाके हैं। वर्ण गेहुँआ, कद ऊँचा, शरीर दुबला, श्वेत धोती और उत्तरीय धारण किये हैं। नारायणभट्टको देख वल्लभ और सब विद्यार्थी खड़े हो जाते हैं।]

नारायणभट्ट—तो' 'तो, वल्लभ! तुम कल प्रातःकाल ही अब इस गुरुकुलको सूना कर रहे हो?

वल्लभ—(सिर झुकाकर) क्या कहूँ, गुरुदेव!

नारायणभट्ट—और आज तुमने मुझे कही थी गुरु-दक्षिणाकी बात?

वल्लभ—यह तो हमारी संस्कृतिकी परम्परा है।

नारायणभट्ट—दोगे मुझे गुरुदक्षिणा?

वल्लभ—यदि मेरे सामर्थ्यकी बात होगी!

नारायणभट्ट—तो, यही' 'यही गुरुदक्षिण माँगता हूँ कि मुझे गुरुके नामसे प्रसिद्ध न करना। तुम्हारे सच्चे गुरु हैं वेदव्यास और तुम इस कालके होगे जगद्गुरु।

(लघुयवनिका)

दूसरा दृश्य

स्थान—काशीमें एक मन्दिरका आँगन।

समय—तीसरा पहर।

[पीछेकी ओर मन्दिरका शिखर दिखायी देता है। तीन ओर मन्दिरकी दालानका कुछ हिस्सा और बीचमें आँगन। इस आँगनमें बिछावनके ऊपर काशीके अनेक पण्डित बैठे हुए हैं, इनकी अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न हैं, परंतु इनमें प्रौढ़ और वयोवृद्ध अधिक हैं, युवा अवस्थाके तो बहुत कम। कोई गौर वर्णके, कोई गेहुँए और कोई साँवले, कोई मोटे, कोई दुबले और कोई न मोटे न दुबले। कोई ऊँचे, कोई ठिगने और कोई न ऊँचे न ठिगने। वेशभूषा भी अनेक प्रकारकी है। धोती तो सभी पहने हैं, पर किसीका ऊपरका अंग खुला है, कोई ऊपरके अंगपर भिन्न-भिन्न रंगके उत्तरीय डाले हैं और कोई ऊपरके अंगमें अँगरखा पहने हैं। सिर किसीका खुला है, जिसपर चौड़ी शिखा है और कोई-कोई सिरपर पगड़ी बाँधे हैं। ललाटपर अधिकांश त्रिपुण्ड्र लगाये हैं, किसी-किसीके ललाटपर सिन्दूरकी टिकली भी लगी है। सब मिलकर दाहिने हाथको हिला-हिलाकर वेदपाठ कर रहे हैं।]

ॐ द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत। नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत। (यजु० २६। २२)

सविता त्वा सवानाᳬ सुवतामग्निर्गृहपतीनाᳬ सोमो वनस्पतीनाम्। बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम्। (यजु० ९। ३९)

न तद्रक्षाᳬसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजᳬ ह्येतत्। यो बिभर्ति दाक्षायणᳬ हिरण्यᳬ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः। (यजु० ३४। ५१)

उच्चा ते जातमन्धसो दिविसद्भूम्याददे। उग्रᳬ शर्म्म महि श्रवः। (यजु० २६। १६)

उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे। अभि देवाँ २॥ इयक्षते।

(यजु० ३३। ६२)

एक पण्डित–(वेदपाठ पूर्ण होनेपर) मैंने कहा था न कि वह वल्लभ वेदपाठमें सम्मिलित होनेको कदापि न आयगा।

दूसरा–आपका अनुमान सर्वथा सत्य सिद्ध हुआ।

पहला–अनुमानका आधार था न, बन्धु !

तीसरा–कैसा ?

पहला–मैं जानता हूँ कि वह चाहे कितनी ही डींग क्यों न हाँके और चाहे उसके समर्थक उसको ऊँचा उठानेका कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, वह वेद पढ़ा ही नहीं है। वेदकी एक ऋचाका भी स्वरमें वह शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता।

चौथा–ऐसा ?

पहला–निश्चित बात है। अन्यथा आता नहीं।

पाँचवाँ–ठीक तो है। काशी जो संस्कृतविद्याका केन्द्र है, उसमें भी जब सद्‌गुरु बारह वर्षतक घुटवाते हैं तब कहीं विद्यार्थी एक संहितामें पारङ्गत होता है और यह वल्लभ ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही चारों वेद, ब्राह्मण, वेदान्त, ब्रह्मसूत्र, गीता, स्मृतियाँ, शास्त्र, इतिहास, पुराण—सबमें पारङ्गत हो गया !

कुछ पण्डित–(एक साथ) हो नहीं सकता, हो नहीं सकता।

पहला–मुझे तो आश्चर्य होता है, उस नारायणभट्टपर !

दूसरा–हाँ, कैसे कह दिया उसने कि वल्लभ समस्त वेद-विद्यामें निपुण हो गया है।

पहला–और फिर ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही उसने अपना नया वाद निकाला है !

छठा–(अट्टहासकर) ब्रह्मवाद !

सातवाँ–शुद्धाद्वैत !

पहला–नाम तो बड़े आकर्षक हैं ! ब्रह्मवाद—शुद्धाद्वैत !

आठवाँ–ग्यारह वर्षकी अवस्थामें विद्याध्ययन पूर्ण करते ही यह वाद निकाल काशी और आस-पास घूम-घूमकर वह अपना और अपने वादका प्रचार कर रहा है।

नवाँ–और धृष्टता तो देखो ! जगद्गुरु श्रीमच्छङ्कराचार्यके मायावादका खण्डन कर अपने ब्रह्मवाद और शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तका मण्डन कर रहा है।

दसवाँ–परंतु, यह कहना कि उसके कथनमें तथ्य ही नहीं है, कदाचित् उनके साथ अन्याय करना होगा।

पहला–अच्छा ! कम-से-कम यहाँ भी उसका एक समर्थक तो निकल आया।

दसवाँ–इस मण्डलीमें उनका चाहे मैं एक ही समर्थक क्यों न होऊँ, पर काशी और काशीके आस-पास उनके बहुत-से समर्थक हैं।

पहला–काशी और काशीके आस-पास क्या सब विद्वान् ही रहते हैं, मूर्ख नहीं ?

दूसरा–हाँ, समर्थक तो हरेकको मिल ही जाते हैं, क्योंकि संसारमें कहीं मूर्खोंकी कमी नहीं।

कुछ पण्डित–(एक साथ) अवश्य।

[वल्लभका प्रवेश। उनके आनेपर केवल दसवाँ पण्डित खड़ा होकर उनका स्वागत करता है, शेष सब लोग बैठे रहते हैं। वल्लभ हाथ जोड़ सिर झुका समस्त पण्डितोंका अभिवादन करते हैं।]

पहला–पधारिये, श्रीमद्‌वल्लभाचार्य ! मायावादका खण्डन कर ब्रह्मवाद शुद्धाद्वैतके प्रवर्तक !

[पण्डितोंका अट्टहास]

वल्लभ–विद्वद्वर ! कुछ विलम्बसे उपस्थित होनेके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ। (बैठ जाते हैं।)

पहला–विलम्बसे तुम जान-बूझकर आये हो !

वल्लभ–जान-बूझकर विलम्बसे आया हूँ······अर्थात् !

पहला–जान-बूझकर विलम्बसे आनेका अर्थ तो जान-बूझकर विलम्बसे आना ही होता है। क्या इतने सरल शब्द भी समझमें नहीं आते ? इतने सरल शब्दोंका अर्थ करनेकी और इतने सीधे वाक्यका अन्वय करनेकी भी आवश्यकता है ?

[पण्डितोंका पुनः अट्टहास]

वल्लभ–मैंने, अर्थात् शब्दका उपयोग शब्दोंके अर्थ और वाक्यके अन्वयके लिये नहीं किया था।

पहला–तब ?

वल्लभ–आपने यह कहा था कि मैं जान-बूझकर विलम्बसे आया हूँ, इसलिये मैंने अर्थात् शब्दका उपयोग किया।

पहला–जान-बूझकर तो विलम्बसे आये ही हो, क्योंकि

चार वेद, ब्राह्मण, वेदान्त, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, स्मृतियों और इतिहास, पुराण, शास्त्रोंमें पारङ्गत होनेकी डींग मारनेवाला जब वेदकी एक ऋचा भी स्वरसहित शुद्ध उच्चारण करनेमें समर्थ न हो तो वेदपाठके अवसरपर ठीक समयमें कैसे उपस्थित हो सकता है ?

कुछ पण्डित–(एक साथ) अवश्यमेव, अवश्यमेव ।

वल्लभ–(सभी पण्डितोंकी ओर देखते हुए) विद्वद्वर ! मैं आपकी सेवामें अपनी परीक्षा देने या इस प्रकारके विवादमें पड़नेके लिये नहीं आया हूँ । अध्ययन करते-करते मेरे मनमें कुछ बातें उठीं, उनपर अध्ययनके साथ मैंने मनन किया, इस अध्ययन और मननसे कुछ निष्कर्षपर पहुँचा, इन विचारोंको मैं अन्योंके सदृश आपकी सेवामें भी उपस्थित करना चाहता हूँ । विद्वान् हंसके समान होते हैं । दूध और पानी यदि हंसके सम्मुख रक्खा जाता है तो वह पानीका दूध ग्रहण कर लेता है और पानीको छोड़ देता है । उसी प्रकार मेरे कथनमें यदि कोई सार हो तो आप ग्रहण कर लीजिये और यदि मेरा कथन निस्सार हो तो उसे छोड़ दीजिये ।

दसवाँ–हाँ, विद्वानोंको तो अपने मानसके कपाट खुले रखने चाहिये ।

वल्लभ–तो सेवामें कुछ निवेदन करूँ ?

[कोई कुछ नहीं बोलता । कुछ देर निस्तब्धता ।]

दसवाँ–हाँ, हाँ ! आप कहिये ।

वल्लभ–देखिये, विद्वद्वर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सूत्रको मैं सबसे महान् सूत्र मानता हूँ ।

पहला–इस सूत्रको सबसे महान् कौन नहीं मानता ।

कुछ पण्डित–(एक साथ) सभी इसे सबसे महान् मानते हैं, सभी इसे सबसे महान् मानते हैं ।

वल्लभ–अब यदि सब ब्रह्म हैं, तो जगत् मिथ्या कैसा ? 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह विचार ही नहीं ठहरता, इसलिये मायावाद, विचारवाद नहीं, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सूत्रके आधारपर मेरा वाद है ब्रह्मवाद। इसे मैं शुद्धाद्वैत कहता हूँ ।

पहला–यह बालकी खाल निकालनेका पाखण्ड है ।

कुछ पण्डित–(एक साथ) पाखण्ड ! बड़ेसे बड़ा पाखण्ड !

वल्लभ–केवल पाखण्ड कहनेसे तो प्रश्नका हल नहीं होता । विचारोंसे मुझे परास्त कर दीजिये ।

पहला–पाखण्डीके साथ कैसा विचार ! जो निर्लज्जतासे यहाँतक घोषित करता है कि ग्यारह वर्षकी अवस्थामें वह सारी वेद-विद्यामें पारङ्गत हो गया, उससे बड़ा अन्य कोई पाखण्डी हो सकता है ?

कुछ पण्डित–(एक साथ) कोई नहीं, कोई नहीं ।

वल्लभ–इस विषयमें तो आप मेरे गुरुदेव श्रीनारायणभट्टसे बात करें, मैं आपका समाधान किस प्रकार कर सकता हूँ ?

पहला–नारायणभट्टकी इस पाखण्डमयी घोषणाके पूर्व काशीके विद्वत्समाजमें उनका आदर था, पर तू उन्हें भी अपने साथ ले डूबा ।

वल्लभ–मैं समझता था काशीका विद्वत्समाज शिष्ट व्यक्तियोंका समाज है ।

पहला–(अत्यन्त क्रोधसे चिल्लाकर) अरे, कलका छोकरा तू हमें अशिष्ट कहनेकी भी धृष्टता कर सकता है ?

वल्लभ–मैंने किसीको अशिष्ट नहीं कहा और छोकरेकी बात आपने सुन्दर कही । क्या संस्कृतकी एक उक्तिका आपको स्मरण दिलाऊँ—

'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः'

दूसरा–जो श्रीमच्छङ्कराचार्यको कुछ नहीं समझता, उसका हमारे प्रति क्या आदर हो सकता है !

तीसरा–तू जानता है, आजतक इस समस्त सृष्टिमें शङ्कराचार्यसे बड़ा कोई दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता नहीं हुआ ।

चौथा–उन्हें संसारमें जगद्गुरुकी पदवीसे विभूषित किया गया था ।

पाँचवाँ–और उनकी गद्दीपर बैठनेवाले आज भी जगद्गुरु कहलाते हैं ।

छठा–जबतक यह सृष्टि है, वे ही जगद्गुरु रहेंगे ।

वल्लभ–श्रीमच्छङ्कराचार्यपर जितनी श्रद्धा और भक्ति आपलोगोंकी है, उससे मेरी कम नहीं । परंतु यहाँ प्रश्न उनके महान् व्यक्तित्वका न होकर उनके वादका है ।

पहला–जो उनके वादपर श्रद्धा नहीं रखता, भक्ति नहीं रखता, वह उनके व्यक्तित्वमें कैसे श्रद्धा और भक्ति रख सकता है ? (जोरसे) उठो पण्डितगण, उठो ! जहाँ जगद्गुरु शङ्कराचार्यका अनादर होता है, वहाँ क्षणमात्रको ठहरना भी पातक है । (उठता है)

अन्य पण्डितगण–(उठते हुए) पातक ही नहीं, घोर पातक है, घोर पातक ।

दसवाँ–यह तो शास्त्रार्थ न होकर कुछ और ही हो गया ।

पहला–कैसा शास्त्रार्थ, किससे शास्त्रार्थ ! ऐसे पाखण्डीसे ! (प्रस्थान)

[वल्लभ और दसवेंको छोड़कर, अन्य सब पण्डित जाते हैं]

दसवाँ–महानुभाव ! जो कुछ हुआ उसपर मुझे अत्यन्त खेद है । मुझे आपसे अत्यधिक सहानुभूति भी है । परंतु, आप जानते हैं, मानव सामाजिक प्राणी है, सभी अपने-अपने समुदायमें रहते हैं । मैं भी अपने समुदायको तो नहीं छोड़ सकता । (प्रस्थान)

[कुछ देर निस्तब्धता]

वल्लभ–(विचारमग्न मुद्रामें दोनों हाथोंको इस तरह उठाया कि दृष्टि हाथोंपर पड़ती है । फिर ऊपर देखते हुए)

भगवन्...... भगवन् ! पण्डित-समाजमें इतनी...... इतनी असहिष्णुता ! वह.... वह भी काशीपुरीमें ! पर.. पर यदि मेरा वाद ठीक है, ठीक विचारपर आश्रित । साथ ही उसमें आपके चरणोंमें श्रद्धा है, भक्ति है, तो.....तो आपकी पुष्टि आपका.....आपका अनुग्रह तो मुझे प्राप्त होगा ही और.....और उस पुष्टि.....उस अनुग्रहके पश्चात् फिर.....फिर किसकी.....किसकी तुष्टिकी आवश्यकता रह जाती है । (कुछ रुककर) अभी.....अभी काशीनिवासी और.....और उनमें पण्डितमण्डलीको ठिकानेपर आनेमें कदाचित् कुछ समय लगेगा ।...... विद्वान्, शीघ्र किसकी.....किसकी मानते हैं ! विचार न कर केवल तर्क करते हैं, तर्कका कभी कोई अन्त नहीं । पहले पृथ्वीपरिक्रमा कर डालूँ । आपका अनुग्रह पाकर इस ब्रह्मवाद और शुद्धाद्वैत सिद्धान्तका अन्यत्र प्रचार कर लूँ, काशीको अन्तमें देखूँगा ।

[नेपथ्यमें एक गानकी ध्वनि आती है, वल्लभका ध्यान उस गानकी ओर जाता है ।]

मन तू समझ सोचि बिचारि ।
भक्ति बिनु भगवान दुर्लभ कहत निगम पुकारि ॥
साधु संगति डारि पाँसा फेरि रसना सारि ।
दाव अब के पर्यो पूरो कुमति पिछली हारि ॥
राखि सत्रह सुनि अठारह पंच ही को मारि ।
डार दे तू तीन काने चतुर चौक निहारि ॥

(लघुयवनिका)

तीसरा दृश्य

स्थान–विजयनगरके राजभवनका आलय ।

समय–अपराह्न ।

[आलय पाषाणका बना हुआ है, तीन ओर पाषाणकी भित्तियाँ हैं, जिनपर दक्षिणभारतके दर्शनीय स्थलोंके, जिनमें मन्दिरोंकी प्रमुखता है, रंगीन चित्र लगे हुए हैं । आलयकी छत पाषाणके विशाल स्तम्भोंपर स्थित है, स्तम्भोंकी नीचे और ऊपरकी चौकियोंपर सुन्दर खुदावका काम है । आलयकी भूमिपर रंग-बिरंगी बिछावन है, जिसपर आसनोंपर देशके सभी विभागोंके पण्डित विराजमान हैं । ये पण्डित देशके विभिन्न विभागोंके हैं, यह इनके भिन्न-भिन्न रूपों और वेषभूषासे ज्ञात होता है । पीछेकी भित्तिके संनिकट एक सर्वोच्च आसन है, जो रिक्त है । इसी आसनके निकट एक आसनपर कृष्णदेवराया बैठे हुए हैं । कृष्णदेवराया अभी युवक हैं, वर्ण साँवला, कद ऊँचा, शरीर न मोटा और न दुबला । वे राजसी वेशमें हैं । जरीका लम्बा अँगरखा पहने हैं, जिसपर जरीका उत्तरीय है । अँगरखेके नीचे जरीकी किनारीकी धोती, अङ्गोंमें स्वर्णके रत्नजटित आभूषण हैं । सिरपर दक्षिणी ढंगकी टोपीके सदृश ऊँचा स्वर्णका रत्नजटित मुकुट है । कृष्णदेवरायाके आसनके पीछे कुछ राजकर्मचारी और भृत्य खड़े हुए हैं । शास्त्रार्थ चल रहा है ।]

विद्यातीर्थ–(कृष्णदेवरायासे) तो राजन् ! आपने माध्व, निम्बार्क और रामानुज सम्प्रदायके अनुयायी वैष्णवोंकी ओरसे पण्डित व्यासतीर्थ तथा शाङ्कर, शैव, शाक्त आदि सिद्धान्तोंके अनुयायियोंकी ओरसे मेरे समस्त तर्कोंको सुन लिया । सात दिनसे यह शास्त्रार्थ चल रहा है और अब तो कदाचित् कोई नये तर्क आपके सम्मुख रखनेको शेष नहीं हैं । (व्यासतीर्थसे) कहिये, पण्डितवर ! आपका क्या कथन है ?

व्यासतीर्थ–हाँ, मुझे भी अब कोई नया तर्क उपस्थित नहीं करना है ।

विद्यातीर्थ–जब मुझे और पण्डित व्यासतीर्थ दोनोंको ही कोई नया तर्क उपस्थित नहीं करना है, तब आप निर्णय कर लीजिये कि आपको कौन सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ जान पड़ता है । सात दिनतक शास्त्रार्थके ध्यानपूर्वक श्रवण करनेके पश्चात्

आवश्यकता रहती है, इसलिये भगवान्ने अपनी लीलाके निमित्त अनेक रूप धारण किये। परंतु जैसे कुण्डलाकार बना सर्प दण्डाकृतिको लेकर भी विकारयुक्त नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म अनेक रूप धारण करके भी विकारी नहीं है।

पहला–पूरा समझमें नहीं आया।

वल्लभ–कुछ उपमाएँ और लो! स्वर्णके भूषण बनाये जानेपर भी स्वर्ण स्वर्ण रहता है, मृत्तिकाके पात्र बनाये जानेपर भी मृत्तिका मृत्तिका रहती है, जलमें ऊर्मियाँ उठनेपर भी जल जल रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म अनेक रूप धारण करनेपर भी ब्रह्म ही रहता है।

तीसरा–अब समझमें आया, पर अनुभव नहीं होता।

वल्लभ–यह ब्रह्म चैतन्य है, निराकार होनेपर भी उत्पत्ति-पक्षकी दृष्टिसे इच्छाद्वारा साकार हो जाता है। जीव इसका एक अंश है। माया भी उससे पृथक् नहीं। खेल खेलनेके लिये जिस प्रकार एकसे अनेककी आवश्यकता होती है, उसी तरह मायाकी। अतः मैं श्रीमच्छङ्कराचार्यके मायावाद और इस कथनको कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' को नहीं मानता। जगत् ब्रह्मका ही रूप होनेसे मैं जगत्को भी सत्य मानता हूँ और इसीलिये मेरा वाद है—'ब्रह्मवाद, शुद्धाद्वैत'।

पहला–तो तुम कोई नया वाद चलानेवाले हो?

वल्लभ–मैं नहीं जानता। तुम मित्रोंके सामने जो अनुभव करता हूँ, वह रख रहा हूँ।

दूसरा–और जो हमारे सामने रख रहे हो, वही सारे संसारके सामने भी रखोगे?

वल्लभ–हो सकता है।

[नारायणभट्टका प्रवेश। नारायणभट्ट लगभग ६४ वर्षकी अवस्थाके हैं। वर्ण गेहुँआ, कद ऊँचा, शरीर दुबला, श्वेत धोती और उत्तरीय धारण किये हैं। नारायणभट्टको देख वल्लभ और सब विद्यार्थी खड़े हो जाते हैं।]

नारायणभट्ट–तो''तो, वल्लभ! तुम कल प्रातःकाल ही अब इस गुरुकुलको सूना कर रहे हो?

वल्लभ–(सिर झुकाकर) क्या कहूँ, गुरुदेव!

नारायणभट्ट–और आज तुमने मुझसे कही थी गुरुदक्षिणाकी बात?

वल्लभ–यह तो हमारी संस्कृतिकी परम्परा है।

नारायणभट्ट–दोगे मुझे गुरुदक्षिणा?

वल्लभ–यदि मेरे सामर्थ्यकी बात होगी!

नारायणभट्ट–तो, यही''यही गुरुदक्षिण माँगता हूँ कि मुझे गुरुके नामसे प्रसिद्ध न करना। तुम्हारे सच्चे गुरु हैं वेदव्यास और तुम इस कालके होगे जगद्गुरु।

(लघुयवनिका)

दूसरा दृश्य

स्थान–काशीमें एक मन्दिरका आँगन।

समय–तीसरा पहर।

[पीछेकी ओर मन्दिरका शिखर दिखायी देता है। तीन ओर मन्दिरकी दालानका कुछ हिस्सा और बीचमें आँगन। इस आँगनमें बिछावनके ऊपर काशीके अनेक पण्डित बैठे हुए हैं, इनकी अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न हैं, परंतु इनमें प्रौढ़ और वयोवृद्ध अधिक हैं, युवा अवस्थाके तो बहुत कम। कोई गौर वर्णके, कोई गेहुँए और कोई साँवले, कोई मोटे, कोई दुबले और कोई न मोटे न दुबले। कोई ऊँचे, कोई ठिगने और कोई न ऊँचे न ठिगने। वेशभूषा भी अनेक प्रकारकी है। धोती तो सभी पहने हैं, पर किसीका ऊपरका अंग खुला है, कोई ऊपरके अंगपर भिन्न-भिन्न रंगके उत्तरीय डाले हैं और कोई ऊपरके अंगमें अँगरखा पहने हैं। सिर किसीका खुला है, जिसपर चौड़ी शिखा है और कोई-कोई सिरपर पगड़ी बाँधे हैं। ललाटपर अधिकांश त्रिपुण्ड्र लगाये हैं, किसी-किसीके ललाटपर सिन्दूरकी टिकली भी लगी है। सब मिलकर दाहिने हाथको हिला-हिलाकर वेदपाठ कर रहे हैं।]

ॐ द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत। नेष्ट्राद्दतुभिरिष्यत। (यजु० २६। २२)

सविता त्वा सवानाᳬ सुवतामग्निर्गृहपतीनाᳬ सोमो वनस्पतीनाम्। बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम्। (यजु० ९। ३९)

न तद्रक्षाᳬसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजᳬ ह्येतत्। यो बिभर्ति दाक्षायणᳬ हिरण्यᳬ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः। (यजु० ३४। ५१)

उच्चा ते जातमन्धसो दिविसद्भूम्याददे। उग्रᳬ शर्म्म महि श्रवः। (यजु० २६। १६)

उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे। अभि देवाँ २॥ इयक्षते।

(यजु० ३३। ६२)

एक पण्डित—(वेदपाठ पूर्ण होनेपर) मैंने कहा था न कि वह वल्लभ वेदपाठमें सम्मिलित होनेको कदापि न आयगा।

दूसरा—आपका अनुमान सर्वथा सत्य सिद्ध हुआ।

पहला—अनुमानका आधार था न, बन्धु !

तीसरा—कैसा ?

पहला—मैं जानता हूँ कि वह चाहे कितनी ही डींग क्यों न हाँके और चाहे उसके समर्थक उसको ऊँचा उठानेका कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, वह वेद पढ़ा ही नहीं है। वेदकी एक ऋचाका भी स्वरमें वह शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता।

चौथा—ऐसा ?

पहला—निश्चित बात है। अन्यथा आता नहीं।

पाँचवाँ—ठीक तो है। काशी जो संस्कृतविद्याका केन्द्र है, उसमें भी जब सद्‌गुरु बारह वर्षतक घुटवाते हैं तब कहीं विद्यार्थी एक संहितामें पारङ्गत होता है और यह वल्लभ ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही चारों वेद, ब्राह्मण, वेदान्त, ब्रह्मसूत्र, गीता, स्मृतियाँ, शास्त्र, इतिहास, पुराण—सबमें पारङ्गत हो गया !

कुछ पण्डित—(एक साथ) हो नहीं सकता, हो नहीं सकता।

पहला—मुझे तो आश्चर्य होता है, उस नारायणभट्टपर !

दूसरा—हाँ, कैसे कह दिया उसने कि वल्लभ समस्त वेद-विद्यामें निपुण हो गया है।

पहला—और फिर ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही उसने अपना नया वाद निकाला है !

छठा—(अट्टहासकर) ब्रह्मवाद !

सातवाँ—शुद्धाद्वैत !

पहला—नाम तो बड़े आकर्षक हैं ! ब्रह्मवाद—शुद्धाद्वैत !

आठवाँ—ग्यारह वर्षकी अवस्थामें विद्याध्ययन पूर्ण करते ही यह वाद निकाल काशी और आस-पास घूम-घूमकर वह अपना और अपने वादका प्रचार कर रहा है।

नवाँ—और धृष्टता तो देखो ! जगद्गुरु श्रीमच्छङ्कराचार्यके मायावादका खण्डन कर अपने ब्रह्मवाद और शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तका मण्डन कर रहा है।

दसवाँ—परंतु, यह कहना कि उसके कथनमें तथ्य ही नहीं है, कदाचित् उनके साथ अन्याय करना होगा।

पहला—अच्छा ! कम-से-कम यहाँ भी उसका एक समर्थक तो निकल आया।

दसवाँ—इस मण्डलीमें उनका चाहे मैं एक ही समर्थक क्यों न होऊँ, पर काशी और काशीके आस-पास उनके बहुत-से समर्थक हैं।

पहला—काशी और काशीके आस-पास क्या सब विद्वान् ही रहते हैं, मूर्ख नहीं ?

दूसरा—हाँ, समर्थक तो हरेकको मिल ही जाते हैं, क्योंकि संसारमें कहीं मूर्खोंकी कमी नहीं।

कुछ पण्डित—(एक साथ) अवश्य।

[वल्लभका प्रवेश। उनके आनेपर केवल दसवाँ पण्डित खड़ा होकर उनका स्वागत करता है, शेष सब लोग बैठे रहते हैं। वल्लभ हाथ जोड़ सिर झुका समस्त पण्डितोंका अभिवादन करते हैं।]

पहला—पधारिये, श्रीमद्‌वल्लभाचार्य ! मायावादका खण्डन कर ब्रह्मवाद शुद्धाद्वैतके प्रवर्तक !

[पण्डितोंका अट्टहास]

वल्लभ—विद्वद्वर ! कुछ विलम्बसे उपस्थित होनेके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ। (बैठ जाते हैं।)

पहला—विलम्बसे तुम जान-बूझकर आये हो !

वल्लभ—जान-बूझकर विलम्बसे आया हूँ……अर्थात् !

पहला—जान-बूझकर विलम्बसे आनेका अर्थ तो जान-बूझकर विलम्बसे आना ही होता है। क्या इतने सरल शब्द भी समझमें नहीं आते ? इतने सरल शब्दोंका अर्थ करनेकी और इतने सीधे वाक्यका अन्वय करनेकी भी आवश्यकता है ?

[पण्डितोंका पुनः अट्टहास]

वल्लभ—मैंने, अर्थात् शब्दका उपयोग शब्दोंके अर्थ और वाक्यके अन्वयके लिये नहीं किया था।

पहला—तब ?

वल्लभ—आपने यह कहा था कि मैं जान-बूझकर विलम्बसे आया हूँ, इसलिये मैंने अर्थात् शब्दका उपयोग किया।

पहला—जान-बूझकर तो विलम्बसे आये ही हो, क्योंकि

चार वेद, ब्राह्मण, वेदान्त, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, स्मृतियों और इतिहास, पुराण, शास्त्रोंमें पारङ्गत होनेकी डींग मारनेवाला जब वेदकी एक ऋचा भी स्वरसहित शुद्ध उच्चारण करनेमें समर्थ न हो तो वेदपाठके अवसरपर ठीक समयमें कैसे उपस्थित हो सकता है ?

कुछ पण्डित—(एक साथ) अवश्यमेव, अवश्यमेव ।

वल्लभ—(सभी पण्डितोंकी ओर देखते हुए) विद्वद्वर ! मैं आपकी सेवामें अपनी परीक्षा देने या इस प्रकारके विवादमें पड़नेके लिये नहीं आया हूँ । अध्ययन करते-करते मेरे मनमें कुछ बातें उठीं, उनपर अध्ययनके साथ मैंने मनन किया, इस अध्ययन और मननसे कुछ निष्कर्षपर पहुँचा, इन विचारोंको मैं अन्योंके सदृश आपकी सेवामें भी उपस्थित करना चाहता हूँ । विद्वान् हंसके समान होते हैं । दूध और पानी यदि हंसके सम्मुख रक्खा जाता है तो वह पानीका दूध ग्रहण कर लेता है और पानीको छोड़ देता है । उसी प्रकार मेरे कथनमें यदि कोई सार हो तो आप ग्रहण कर लीजिये और यदि मेरा कथन निस्सार हो तो उसे छोड़ दीजिये ।

दसवाँ—हाँ, विद्वानोंको तो अपने मानसके कपाट खुले रखने चाहिये ।

वल्लभ—तो सेवामें कुछ निवेदन करूँ ?

[कोई कुछ नहीं बोलता । कुछ देर निस्तब्धता ।]

दसवाँ—हाँ, हाँ ! आप कहिये ।

वल्लभ—देखिये, विद्वद्वर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सूत्रको मैं सबसे महान् सूत्र मानता हूँ ।

पहला—इस सूत्रको सबसे महान् कौन नहीं मानता ।

कुछ पण्डित—(एक साथ) सभी इसे सबसे महान् मानते हैं, सभी इसे सबसे महान् मानते हैं ।

वल्लभ—अब यदि सब ब्रह्म हैं, तो जगत् मिथ्या कैसा ? 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह विचार ही नहीं ठहरता, इसलिये मायावाद, विचारवाद नहीं, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सूत्रके आधारपर मेरा वाद है ब्रह्मवाद । इसे मैं शुद्धाद्वैत कहता हूँ ।

पहला—यह बालकी खाल निकालनेका पाखण्ड है ।

कुछ पण्डित—(एक साथ) पाखण्ड ! बड़ेसे बड़ा पाखण्ड !

वल्लभ—केवल पाखण्ड कहनेसे तो प्रश्नका हल नहीं होता । विचारोंसे मुझे परास्त कर दीजिये ।

पहला—पाखण्डीके साथ कैसा विचार ! जो निर्लज्जतासे यहाँतक घोषित करता है कि ग्यारह वर्षकी अवस्थामें वह सारी वेद-विद्यामें पारङ्गत हो गया, उससे बड़ा अन्य कोई पाखण्डी हो सकता है ?

कुछ पण्डित—(एक साथ) कोई नहीं, कोई नहीं ।

वल्लभ—इस विषयमें तो आप मेरे गुरुदेव श्रीनारायणभट्टसे बात करें, मैं आपका समाधान किस प्रकार कर सकता हूँ ?

पहला—नारायणभट्टकी इस पाखण्डमयी घोषणाके पूर्व काशीके विद्वत्समाजमें उनका आदर था, पर तू उन्हें भी अपने साथ ले डूबा ।

वल्लभ—मैं समझता था काशीका विद्वत्समाज शिष्ट व्यक्तियोंका समाज है ।

पहला—(अत्यन्त क्रोधसे चिल्लाकर) अरे, कलका छोकरा तू हमें अशिष्ट कहनेकी भी धृष्टता कर सकता है ?

वल्लभ—मैंने किसीको अशिष्ट नहीं कहा और छोकरेकी बात आपने सुन्दर कही । क्या संस्कृतकी एक उक्तिका आपको स्मरण दिलाऊँ—

'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः'

दूसरा—जो श्रीमच्छङ्कराचार्यको कुछ नहीं समझता, उसका हमारे प्रति क्या आदर हो सकता है !

तीसरा—तू जानता है, आजतक इस समस्त सृष्टिमें शङ्कराचार्यसे बड़ा कोई दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता नहीं हुआ ।

चौथा—उन्हें संसारमें जगद्गुरुकी पदवीसे विभूषित किया गया था ।

पाँचवाँ—और उनकी गद्दीपर बैठनेवाले आज भी जगद्गुरु कहलाते हैं ।

छठा—जबतक यह सृष्टि है, वे ही जगद्गुरु रहेंगे ।

वल्लभ—श्रीमच्छङ्कराचार्यपर जितनी श्रद्धा और भक्ति आपलोगोंकी है, उससे मेरी कम नहीं । परंतु यहाँ प्रश्न उनके महान् व्यक्तित्वका न होकर उनके वादका है ।

पहला—जो उनके वादपर श्रद्धा नहीं रखता, भक्ति नहीं रखता, वह उनके व्यक्तित्वमें कैसे श्रद्धा और भक्ति रख सकता है ? (जोरसे) उठो पण्डितगण, उठो ! जहाँ जगद्गुरु शङ्कराचार्यका अनादर होता है, वहाँ क्षणमात्रको ठहरना भी पातक है । (उठता है)

अन्य पण्डितगण–(उठते हुए) पातक ही नहीं, घोर पातक है, घोर पातक ।

दसवाँ–यह तो शास्त्रार्थ न होकर कुछ और ही हो गया ।

पहला–कैसा शास्त्रार्थ, किससे शास्त्रार्थ ! ऐसे पाखण्डीसे ? (प्रस्थान)

[वल्लभ और दसवेंको छोड़कर, अन्य सब पण्डित जाते है]

दसवाँ–महानुभाव ! जो कुछ हुआ उसपर मुझे अत्यन्त खेद है । मुझे आपसे अत्यधिक सहानुभूति भी है । परंतु, आप जानते हैं, मानव सामाजिक प्राणी है, सभी अपने-अपने समुदायमें रहते हैं । मैं भी अपने समुदायको तो नहीं छोड़ सकता । (प्रस्थान)

[कुछ देर निस्तब्धता]

वल्लभ–(विचारमग्न मुद्रामें दोनों हाथोंको इस तरह उठाया कि दृष्टि हाथोंपर पड़ती है । फिर ऊपर देखते हुए)

भगवन्……भगवन् ! पण्डित-समाजमें इतनी…… इतनी असहिष्णुता ! वह……वह भी काशीपुरीमें ! पर…पर यदि मेरा वाद ठीक है, ठीक विचारपर आश्रित । साथ ही उसमें आपके चरणोंमें श्रद्धा है, भक्ति है, तो……तो आपकी पुष्टि आपका……आपका अनुग्रह तो मुझे प्राप्त होगा ही और……और उस पुष्टि……उस अनुग्रहके पश्चात् फिर……फिर किसकी……किसकी तुष्टिकी आवश्यकता रह जाती है । (कुछ रुककर) अभी……अभी काशीनिवासी और……और उनमें पण्डितमण्डलीको ठिकानेपर आनेमें कदाचित् कुछ समय लगेगा ।…… विद्वान्, शीघ्र किसकी……किसकी मानते हैं ! विचार न कर केवल तर्क करते हैं, तर्कका कभी कोई अन्त नहीं । पहले पृथ्वीपरिक्रमा कर डालूँ । आपका अनुग्रह पाकर इस ब्रह्मवाद और शुद्धाद्वैत सिद्धान्तका अन्यत्र प्रचार कर लूँ, काशीको अन्तमें देखूँगा ।

[नेपथ्यमें एक गानकी ध्वनि आती है, वल्लभका ध्यान उस गानकी ओर जाता है ।]

मन तू समझ सोचि विचारि ।
भक्ति बिनु भगवान दुर्लभ कहत निगम पुकारि ॥
साधु संगति डारि पाँसा फेरि रसना सारि ।
दाव अब के पर्‌यो पूरो कुमति पिछली हारि ॥
राखि सत्रह सुनि अठारह पंच ही को मारि ।
डार दे तू तीन काने चतुर चौक निहारि ॥

(लघुयवनिका)

तीसरा दृश्य

स्थान–विजयनगरके राजभवनका आलय ।

समय–अपराह्ण ।

[आलय पाषाणका बना हुआ है, तीन ओर पाषाणकी भित्तियाँ हैं, जिनपर दक्षिणभारतके दर्शनीय स्थलोंके, जिनमें मन्दिरोंकी प्रमुखता है, रंगीन चित्र लगे हुए हैं । आलयकी छत पाषाणके विशाल स्तम्भोंपर स्थित है, स्तम्भोंकी नीचे और ऊपरकी चौकियोंपर सुन्दर खुदावका काम है । आलयकी भूमिपर रंग-बिरंगी बिछावन है, जिसपर आसनोंपर देशके सभी विभागोंके पण्डित विराजमान हैं । ये पण्डित देशके विभिन्न विभागोंके हैं, यह इनके भिन्न-भिन्न रूपों और वेषभूषासे ज्ञात होता है । पीछेकी भित्तिके संनिकट एक सर्वोच्च आसन है, जो रिक्त है । इसी आसनके निकट एक आसनपर कृष्णदेवराया बैठे हुए हैं । कृष्णदेवराया अभी युवक हैं, वर्ण साँवला, कद ऊँचा, शरीर न मोटा और न दुबला । वे राजसी वेशमें हैं । जरीका लम्बा अँगरखा पहने हैं, जिसपर जरीका उत्तरीय है । अँगरखेके नीचे जरीकी किनारीकी धोती, अङ्गोंमें स्वर्णके रत्नजटित आभूषण हैं । सिरपर दक्षिणी ढंगकी टोपीके सदृश ऊँचा स्वर्णका रत्नजटित मुकुट है । कृष्णदेवरायाके आसनके पीछे कुछ राजकर्मचारी और भृत्य खड़े हुए हैं । शास्त्रार्थ चल रहा है ।]

विद्यातीर्थ–(कृष्णदेवरायासे) तो राजन् ! आपने माध्व, निम्बार्क और रामानुज सम्प्रदायके अनुयायी वैष्णवोंकी ओरसे पण्डित व्यासतीर्थ तथा शाङ्कर, शैव, शाक्त आदि सिद्धान्तोंके अनुयायियोंकी ओरसे मेरे समस्त तर्कोंको सुन लिया । सात दिनसे यह शास्त्रार्थ चल रहा है और अब तो कदाचित् कोई नये तर्क आपके सम्मुख रखनेको शेष नहीं हैं । (व्यासतीर्थसे) कहिये, पण्डितवर ! आपका क्या कथन है ?

व्यासतीर्थ–हाँ, मुझे भी अब कोई नया तर्क उपस्थित नहीं करना है ।

विद्यातीर्थ–जब मुझे और पण्डित व्यासतीर्थ दोनोंको ही कोई नया तर्क उपस्थित नहीं करना है, तब आप निर्णय कर लीजिये कि आपको कौन सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ जान पड़ता है । सात दिनतक शास्त्रार्थके ध्यानपूर्वक श्रवण करनेके पश्चात्

मैं समझता हूँ आप स्वीकार करेंगे कि श्रीमच्छङ्कराचार्यका मायावाद ही सर्वश्रेष्ठ वाद है ।

[प्रतिहारीका प्रवेश]

प्रतिहारी–श्रीवल्लभ पधार रहे हैं ।

[वल्लभका कुछ शिष्योंके साथ प्रवेश । अब उनकी अवस्था चौदह वर्षकी है, परंतु देखनेमें वे सोलह-सत्रह वर्षसे कमके दिखायी नहीं देते । कद ऊँचा हो गया है । शरीर कुछ भर गया है और ऊपरके ओंठपर रेख निकल आयी है । वेश अभी भी ब्रह्मचारीका है । मेखलामें कौपीन, एक हाथमें कमण्डलु और दूसरेमें दण्ड । वल्लभाचार्यका एक अद्भुत प्रकारके तेजसे युक्त स्वरूप इतना प्रभावशाली है कि उनके प्रवेशसे ही सारी सभा उठ खड़ी होती है । कृष्णदेवराया आगे बढ़ उनका स्वागत करते हैं और जो सर्वोच्च आसन रिक्त था, उसपर उन्हें बैठाते हैं ।]

कृष्णदेवराया–भगवन् ! इस सभामें आपका पदार्पण तो राजा बलिकी सभामें भगवान् वामनके पधारनेकी बहुश्रुत घटनाका स्मरण दिलाता है । असीम कृपा की है मुझपर आपने यहाँ पधारकर ।

वल्लभ–राजन् ! मैं अपनेको कृतकृत्य मानता हूँ यहाँ आने और समस्त देशके इस विद्वत्समाजके दर्शन करनेके कारण ।

[सारी सभा एकटक वल्लभकी ओर देखती रहती है; कुछ देर निस्तब्धता]

वल्लभ–वैष्णवों और स्मार्तोंका यह शास्त्रार्थ कितने समयसे चल रहा है राजन् ?

कृष्णदेवराया–एक सप्ताहसे प्रभु !

वल्लभ–और अबतक कोई निर्णय नहीं हो पाया ?

विद्यातीर्थ–(व्यासतीर्थकी ओर संकेत कर) पण्डित व्यासतीर्थने वैष्णवोंकी ओरसे तथा मैंने स्मार्तोंकी ओरसे इस शास्त्रार्थमें प्रमुखरूपसे भाग लिया है । आपके आनेके पूर्व हम दोनोंने ही राजा कृष्णदेवरायासे निवेदन कर दिया था कि अब हमें कोई नये तर्क उपस्थित नहीं करने हैं । निर्णय कदाचित् श्रीमच्छङ्कराचार्यके मायावादके पक्षमें ही होनेवाला था कि आपका शुभागमन हुआ । इन दिनोंमें सुना था, बहुत समयसे आप त्रिमदी बालाजीमें निवास कर रहे थे । अब आपको भी यदि कुछ कहना हो तो कह दीजिये, तत्पश्चात् निर्णय हो जायगा ।

वल्लभ–विद्वद्वर ! वैष्णव और स्मार्त—सभी वैदिक धर्मके अनुयायी हैं । मेरी दृष्टिसे सभी पूजनीय हैं, श्रीमच्छङ्कराचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानुजाचार्य—सभीमें मेरी असीम श्रद्धा और भक्ति है ।

सभासद्–धन्य है, धन्य है ।

वल्लभ–परंतु इन आचार्यचरणोंने जो कुछ उपस्थित किया है, उसपर विचार करना हमारे लिये इस हेतु आवश्यक हो जाता है कि वैदिक धर्म हमें अन्धविश्वास नहीं सिखाता । कहिये, मैं ठीक कहता हूँ या नहीं ?

अधिकांश सभासद्–ठीक, सर्वथा ठीक ।

वल्लभ–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सूत्रको मैं सर्वप्रधान सूत्र मानता हूँ । कहिये, इसमें तो किसीका मतभेद नहीं है ?

विद्यातीर्थ, व्यासतीर्थके सहित समस्त सभासद्–किसीका नहीं, किसीका नहीं ।

वल्लभ–अब इस सूत्रके आधारपर उन समस्त आचार्यचरणोंके वादोंपर विचार कीजिये । यहाँ मैं 'विचार' शब्दपर सबसे अधिक बल देता हूँ । विचार साधार है, अतएव मीमांसा कहा जाता है, तर्क निराधार है, अतः अनुमान कहा जाता है । मीमांसाके आधार वेद और वैदिक शास्त्र हैं, किंतु तर्कका आधार बुद्धिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । मीमांसाका अन्त है, तर्कका अन्त नहीं । अतएव विचारको प्रामाण्य है, तर्कको नहीं । इसलिये वेदको प्रमाण माननेवाले विद्वानोंने विचारका आश्रय लिया है, तर्कका नहीं । मीमांसामें वेदवाक्य प्रधान और उपजीव्य होते हैं और विचार उनके तात्पर्य तथा सिद्धान्तका उपजीवन करता है । तर्कमें तर्क प्रधान रहता है और वेदवाक्य उसके पीछे लगा दिये जाते हैं । कितने ही ग्रन्थकारोंने तो स्पष्ट कह दिया है—'एवमागमा अप्यनुसंधेयाः ।' कहिये, इससे किसीका मतभेद है ?

समस्त सभासद्–किसीका नहीं, किसीका नहीं ।

वल्लभ–तो अब 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के आधारपर श्रीमध्वाचार्यके द्वैत, निम्बार्काचार्यके द्वैताद्वैत और रामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैतपर विचार कीजिये और देखिये कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के अनुसार ये वाद ठीक-ठीक बैठते हैं या नहीं ?

विद्यातीर्थ–सर्वथा नहीं ।

कुछ सभासद्–हाँ, सर्वथा नहीं ।

वल्लभ—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सूत्रके अनुसार अद्वैत ही ठीक बैठता है।

विद्यातीर्थ—धन्य है, धन्य है।

कुछ सभासद्—धन्य है, धन्य है।

वल्लभ—परंतु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के साथ अद्वैतका प्रतिपादन करते-करते जब श्रीमच्छङ्कराचार्य कहते हैं—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' और इसपर जब वे अपने मायावादको प्रतिपादित करते हैं, तब वे भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सूत्रसे दूर होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यदि सब कुछ ब्रह्म है तो जीव और माया भी ब्रह्मसे पृथक् नहीं तथा यह जगत् भी सत्य है, मिथ्या नहीं। इसीलिये मेरा वाद है—ब्रह्मवाद, शुद्धाद्वैत।

अधिकांश सभासद्—धन्य है, धन्य है।

विद्यातीर्थ—मैं भी आपके विचारको स्वीकार करता हूँ।

समस्त सभासद्—(एक साथ ऊँचे स्वरसे) धन्य है, धन्य है।

[कृष्णदेवराया उठकर वल्लभके चरणोंमें गिर पड़ते हैं।]

कृष्णदेवराया—(उठकर) प्रभो ! यह शास्त्रार्थ आरम्भ करनेके समय मैंने संकल्प किया था कि जो शास्त्रार्थमें विजयी होगा, उसका सौ मन स्वर्णसे कनकाभिषेक करूँगा। अतः अब मैं इस संकल्पकी पूर्तिकी आज्ञा चाहता हूँ।

[वल्लभाचार्य कुछ न कह केवल मुसकरा देते हैं]

कृष्णदेवराया—(अपने आसनके पीछे जो कुछ राजकर्मचारी और भृत्य खड़े थे, उनमेंसे प्रधान राजकर्मचारीसे) लाओ अभिषेककी समस्त सामग्री।

[राजकर्मचारीका प्रस्थान और पुरोहित तथा भृत्यके हाथमें अभिषेकके लिये पूजाकी सामग्रीके साथ पुनः प्रवेश। इस राजकर्मचारी, पुरोहित और पूजाकी सामग्रीवाले भृत्यके पीछे उन भृत्योंकी पङ्क्ति लग जाती है, जो एक-एक अपने सिरपर एक-एक मन स्वर्ण थालमें उठाये हुए हैं। पुरोहित और पूजाकी सामग्रीवाला भृत्य वल्लभके आसनके निकट पहुँचते हैं। पुरोहित खड़ा हो पूजाकी सामग्रीमेंसे स्वर्णका कलश उठा कुशसे वल्लभका मार्जन करता है। पुरोहितके अभिषेक करनेको खड़े होनेके कारण जिन भृत्योंके सिरपर स्वर्णके भरे हुए थाल रखे थे, उनकी पङ्क्ति रुक जाती है और इनमेंसे कुछ ही दिखायी पड़ते हैं।]

पुरोहित—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सभूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ १॥
पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ २॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ ३॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥ ४॥
ततो विराडजायत विराजोअधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ ५॥
तस्माद् यज्ञात्सर्वहुतः संभृतम्पृषदाज्यम्।
पशूꣳस्ताꣳश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥ ६॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ ७॥
इत्यादि।

(मन्त्र समाप्त होनेपर एक आसनपर बैठ जाता है)

कृष्णदेवराया—अब, भगवन्! इस सुवर्णको ग्रहण करनेकी कृपा करें।

वल्लभ—राजन्! मैंने आपकी संकल्प-पूर्तिमें बाधा नहीं डाली। कनकाभिषेकका आपका संकल्प पूर्ण हो गया, परंतु अब मेरे भी एक संकल्पकी पूर्त्ति आपको करनी पड़ेगी, स्वीकार है न ?

कृष्णदेवराया—आपकी कोई भी आज्ञाका अब मैं जीवनभर उल्लङ्घन कर सकता हूँ ?

वल्लभ—मेरा संकल्प है स्वर्ण और उसकी समीपस्थ सभी वस्तुओंसे जितनी दूर रहा जा सकता है, उतनी दूर रहा जाय। अतः यह सौ मन सोना मेरे कामका नहीं। इस सबको निर्धनोंमें बँटवा दीजिये।

सारा उपस्थित जनसमुदाय—(उच्च स्वरसे) धन्य है, धन्य है।

कृष्णदेवराया—(गद्गदस्वरसे) जैसी आज्ञा। (राजकर्मचारीसे) ले जाओ, इस स्वर्णको और वितरण कर दो निर्धनोंमें।

[राजकर्मचारीका स्वर्णके थाल उठाये हुए भृत्योंके साथ प्रस्थान। बिल्वमङ्गलका प्रवेश। बिल्वमङ्गल अत्यन्त वृद्ध हैं, परंतु उनके मुखपर एक विलक्षण प्रकारका तेज है। गौरवर्ण, ऊँचा पर दुबला शरीर और सिर तथा दाढ़ी-मूँछोंके बढ़े हुए श्वेत केश। बिल्वमङ्गल श्वेत धोती और उत्तरीय धारण किये हैं। बिल्वमङ्गलके स्वागतके लिये स्वयं वल्लभ खड़े होते हैं। उनके खड़े होते ही सारी सभा खड़ी हो जाती है। बिल्वमङ्गलको वल्लभ अपने आधे आसनपर बिठाते हैं। सब लोग पुनः अपने-अपने स्थानपर बैठ जाते हैं।]

बिल्वमङ्गल—मैं विष्णुस्वामी-सम्प्रदायका आचार्य बिल्वमङ्गल हूँ। मैं जब अधिक वृद्ध हो गया और मैंने जब विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके भार वहन करनेयोग्य किसी शिष्यको नहीं देखा तथा इस कारण जब मेरी विकलता बढ़ी, तब मुझे भगवत्-आज्ञा हुई कि यह भार आपको समर्पित करूँ। आप आजसे विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके आचार्य।

सारा जनसमुदाय—श्रीवल्लभाचार्यकी जय।

कृष्णदेवराया—और, महाप्रभु! इस सम्प्रदायके आचार्य होनेपर प्रथम दीक्षा मुझे दीजिये।

वल्लभाचार्य—(मुसकराकर) स्वीकार है।

जनसमुदाय—महाप्रभु, वल्लभाचार्यकी जय!

कृष्णदेवराया—अब गुरुदक्षिणाके रूपमें तो आपको कुछ स्वीकार करना ही होगा महाप्रभु! (शीघ्रतासे प्रस्थान और एक भृत्यके सिरपर एक सहस्र मोहरोंका थाल लेकर पुनः प्रवेश।)

[कृष्णदेवराया भृत्यके सिरपरसे थाल उठा स्वयं थालको श्रीवल्लभाचार्यके चरणोंमें रखते हैं]

वल्लभाचार्य—(थालमेंसे सात मोहरें उठाकर) राजन्! इस द्रव्यमेंसे ये सात मोहरें ही दैवी द्रव्य है, जो मैं उठा लेता हूँ, यह कभी भगवत्सेवाके काम आयगा।

जनसमुदाय—धन्य है, धन्य है। महाप्रभु वल्लभाचार्यकी जय!

[बिल्वमङ्गल आशीर्वचनके रूपमें एक गीत आरम्भ करते हैं, जिसे सारा जनसमुदाय उनके साथ दोहराता है।]

कांकरवार तैलंग तिलक द्विज बंदो श्रीमद् लक्ष्मणनंद।
श्रीबृजराज सिरोमनि सुंदर, भूतल प्रगटे बल्लभचंद॥
अवगाहत श्रीविष्णुस्वामिपथ नवधाभक्ति रस रसकंद।
दर्सन करत प्रसन्न होत मन प्रकटे पूरन परमानंद॥
कीर्ति बिसद कहाँ लौं बरनौं गावत लीला श्रुति सुर छंद।
सगुनदास प्रभु षड्गुन संपन कलिजन उधरन आनँदकंद॥

(यवनिका)

ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

सप्त भूमिकाएँ ज्ञानकी सिद्धि अथवा आत्मानुभूतिकी भिन्न-भिन्न कक्षाएँ—अवस्थाएँ (Singas or grades) हैं। कक्षाके भेदसे साधनमें भेद हो जाता है, जिससे इन भूमिकाओंमें अद्वैतमार्गीय साधन-क्रमका भी निर्देश पाया जाता है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि इनमें साधककी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके आधारपर उसकी स्थिति तथा तदनुकूल साधनका भी निर्देश है; अतः इन ज्ञान-भूमिकाओंमें अद्वैत-साधनाका साररूपसे क्रमानुसार निर्देश है। इसलिये इनका विवेचन अत्यन्त उपयोगी है; मानो ब्रह्म-विद्यालयकी ये सात कक्षाएँ हैं।

इस विद्यालयमें प्रविष्ट होनेका अधिकार साधनचतुष्टय-सम्पन्न जिज्ञासुको ही है। विवेक, वैराग्य आदिके द्वारा ही प्रवेशाधिकारकी परीक्षा हो सकती है। अन्य वर्ण, आश्रम, शारीरिक बल, सौन्दर्य, धन, वैभव, ऐश्वर्य, राज्य, शास्त्र-पाण्डित्य, बुद्धिकी चतुरता आदि सामान्य गुणमात्र ब्रह्म-विद्यामें विशेष उपयोगी नहीं हैं। जब साधनचतुष्टयसामग्रीकी प्रचुर मात्रा हो, तब मनुष्य प्रथम कक्षामें प्रविष्ट हो सकता है। तदनन्तर प्रथम कक्षाके साधनके द्वारा उस कक्षामें उत्तीर्ण होनेपर ही दूसरी कक्षामें प्रविष्ट हो सकता है। अर्थात् तभी वह उसके अनुरूप साधना करनेमें समर्थ होता है। इसी प्रकार धैर्यसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके आदेशानुसार पूर्ण श्रद्धासे साधना करता हुआ वह अद्वैत-ज्ञानकी पराकाष्ठाको प्राप्त करके परमानन्दरूप जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्तिको प्राप्त करता है।

प्रथम	कक्षाकी साधना	श्रवण
द्वितीय	,, ,,	मनन
तृतीय	,, ,,	निदिध्यासन
चतुर्थ	,, ,,	अखण्ड ब्रह्माकार अपरोक्ष वृत्तिके द्वारा तुर्यातुर्य आत्मदर्शन।

५ से ७ भूमिकाओंमें चतुर्थ भूमिकामें उपलब्ध आत्मदर्शनकी युक्तिके द्वारा भूमारवानुभूतिरूप जीवन्मुक्ति।

श्रवण-अधिकारके लिये केवल संस्कृत-भाषा अथवा न्याय-तर्कका बोध ही पर्याप्त नहीं। जिज्ञासुके गुरुकी शरणमें उपस्थित होनेपर जब गुरु उसे स्वीकार करता है, तब यह ज्ञानका जन्म है; अथवा गुरु जिज्ञासुको शिक्षारूपी गर्भमें धारण करता है। पहली, दूसरी तथा तीसरी अवस्थाओंको गर्भकी अवस्थाएँ समझनी चाहिये। चतुर्थमें साक्षात्कार होनेपर मानो ज्ञानरूपी बालक पूर्णाङ्ग होकर गुरुके गर्भसे बाहर आता है। अब इसे गुरुकी शिक्षाकी आवश्यकता नहीं रहती। सप्तम कक्षामें ज्ञान प्रौढ़ अवस्थाको प्राप्त होता

है, यही इसकी अन्तिम—चरम स्थिति है। प्राणीके समान ज्ञानका अन्त मृत्युसे नहीं होता; क्योंकि यह तो अमृतस्वरूप है। बुद्धिके द्वारा इस अमृतके स्पर्शमात्रसे प्राणी अमर हो जाता है, अतः यह मृत्युकी मृत्यु है।

जिज्ञासाके आधार-वचन

१. विवेक, वैराग्य, जिज्ञासा, ब्रह्मनिष्ठ गुरु

**परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥**

(मुण्डक० १।२।१२)

ऋग्वेदादि अपर विद्यारूपी कर्म तथा उपासनाके अनुष्ठानके द्वारा अविद्या, काम तथा कर्मरूप दोषोंसे युक्त पुरुषको दक्षिण तथा उत्तरमार्गके द्वारा जिस पितृलोक तथा देवलोककी प्राप्ति होती है, तथा आसुर प्रकृतिवाले मनुष्यको शास्त्र-प्रतिषिद्ध आचरण करने तथा शास्त्रविहित आचरणका अनुष्ठान न करनेसे जिन नरक, तिर्यक्—कीट-पतङ्ग तथा प्रेतरूप लोकोंकी प्राप्ति होती है, उन लोकोंकी तथा स्वरूपकी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमके द्वारा ब्रह्मविद्याके अधिकारी ब्राह्मणको भली प्रकार परीक्षा करनी चाहिये कि ये जन्म, व्याधि, जरा आदि अनन्त संकटोंसे युक्त हैं, केलेके खंभेके समान निस्सार हैं; मायारचित गन्धर्वनगर, स्वप्न तथा जलके बुद्बुद तथा फेनके समान प्रतिक्षण नाशवान् हैं; इसलिये सद्-असद्विवेकीको उपर्युक्त त्रिविध लोकोंकी अविद्याजन्य तृष्णा त्याग देनी चाहिये। सम्पूर्ण लोक कर्मोंका फल है, अतः अनित्य हैं; अथवा अनन्त आयाससाध्य लोकोंसे कुछ सिद्धि नहीं होती, इसलिये अभय, शिव तथा नित्यपदकी प्राप्तिके लिये जिज्ञासुको शास्त्रविहित मर्यादाके अनुसार समिधा लेकर श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ आचार्यकी शरणमें जाना चाहिये।

२. यज्ञ, दान, तप (निष्काम गृहस्थ-धर्म)का लक्ष्य जिज्ञासा—तत्पश्चात् संन्यास-विधान

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन, एतमेव···प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वै तत् पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥ (बृह० उ० ४।४।२२)

'नित्य ब्रह्मकी जिज्ञासाकी उत्पत्तिके लिये ब्राह्मण वेदका स्वाध्याय, यज्ञ, दान तथा तपका अनुष्ठान करते हैं। परिव्राजकों, संन्यासियोंके इस नित्य ब्रह्मलोककी प्राप्तिकी इच्छासे ब्राह्मण गृहस्थाश्रमसे प्रव्रजन करते हैं, संन्यासाश्रममें प्रवेश करते हैं। पूर्वकालमें भी विद्वान् आत्मज्ञानी प्रजा अर्थात् कर्म एवं अपर ब्रह्मविद्याका, जो इहलोक, पितृलोक तथा देवलोकका साधन है, अनुष्ठान नहीं करते थे; क्योंकि उपर्युक्त तीनों लोकोंके साधनरूप प्रजा आदि साधनोंसे उनका क्या प्रयोजन, है ? वे तो आत्मलोककी आकाङ्क्षा करनेवाले हैं। इसलिये वे पुत्र, वित्त तथा लोकसम्बन्धी त्रिविध एषणाओंसे व्युत्थानकर—उन्हें त्यागकर भिक्षाव्रत—संन्यासका अनुष्ठान करते हैं।'

३. षट् सम्पत्तिका विधान

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्।······तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति॥

(बृह० उ० ४।४।२३)

'ब्रह्मवित्की महिमा ब्रह्मके समान नित्य है, न पुण्यसे इसमें वृद्धि होती है, न पापसे ह्रास। ब्रह्म अथवा ब्रह्मवित्की नित्य महिमामें श्रद्धा रखनेवाला शम, दम, तितिक्षा, उपरति तथा समाधानरूप सम्पत्तिसे युक्त होकर अपने अन्तःकरण (बुद्धि) में ही आत्मसाक्षात्कार करता है। सम्पूर्ण संसारको अपना रूप ही जानता है अर्थात् ब्रह्मात्मातिरिक्त कुछ नहीं देखता।'

४. प्रथम तीन साधन-भूमियों तथा चतुर्थ ब्रह्मविद्-भूमिके आधार-वचन

···न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः॥ (बृह० उ० ४।५।६)

'अरी मैत्रेयि ! पति, जाया, पुत्र, वित्त, पशु, ब्राह्मण आदि जाति, सप्तलोक, उनके अधिपति देवता तथा वेदादि सब पदार्थ स्वतन्त्ररूपसे प्रिय नहीं होते, आत्माकी हित-कामनाकी दृष्टिसे प्यारे लगते हैं; क्योंकि आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ तथा परमानन्दस्वरूप है, इसलिये आत्माका ही उपनिषदादिके द्वारा श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन एवं दर्शन करना चाहिये।'

५-७ भूमियोंके आधार-वचन

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावा-
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥
(मुण्डक० ३ । १ । ४)

जो प्राणोंका प्राणरूप ब्रह्म है, वही ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब-पर्यन्त सर्वभूतोंमें आत्मरूपसे भिन्न-भिन्न प्रकारसे भास रहा है। जो इस सर्वभूतव्यापी ब्रह्मको आत्मरूपसे जानता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, वह आत्मासे भिन्नरूपसे किसका वर्णन करे; क्योंकि आत्मासे भिन्न वह न देखता है, न सुनता है, न जानता है, अर्थात् जो कुछ दीखता है, जो सुनायी देता है, जो कुछ भी जाना जाता है, वह सब ब्रह्म ही है, ऐसा उसका निश्चय है। ऐसे ज्ञानीकी आत्मामें ही क्रीडा होती है न कि संसारी पुरुषके समान पुत्र-दारा आदि लौकिक पदार्थोंमें; उसकी आत्मामें ही रति-प्रीति होती है; ज्ञान-ध्यानमात्र ही उसकी क्रिया शेष रह जाती है, वह ब्रह्मज्ञानियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ होता है। यहाँ (१) आत्मक्रीड़ाः, (२) आत्मरतिः, (३) क्रियावान्, (४) ब्रह्मविदां वरिष्ठः—द्वारा, ४,५,६,७ सिद्ध ज्ञानीकी भूमिकाओं-का निर्देश किया गया है। ज्ञान-भूमिकाओंमें ज्ञान-साधना तथा सिद्धिका साररूपसे निर्देश है; इसलिये इनका विशद विवेचन उचित है।

ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंका विशद विवेचन

अन्य प्रकरणोंमें इस विषयका विस्तृत विवेचन हो चुका है कि ब्रह्म आदिके विषयमें वेद आदि सत्-शास्त्र ही अपूर्व प्रमाण हैं। 'औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृह०) 'उस पुरुषके विषयमें पूछना चाहता हूँ, जिसका ज्ञान उपनिषद्के द्वारा होता है।' स्वतन्त्र मानवीय बुद्धि तर्कके द्वारा इसके विषयमें कुछ निर्णय नहीं कर सकती। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' वेदको न जाननेवाला उस अपरिच्छिन्न ब्रह्मके विषयमें कुछ तर्क नहीं कर सकता। पक्षपातरहित सच्चा जिज्ञासु यदि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यकी संनिधिमें उपनिषदोंके निम्नलिखित वचनोंका अध्ययन करे—

ऐत० उ० १,३,१२; ३,१-३; कठ० ४, ११,१४, १५; ईश ७; प्रश्न ४,८-१४; ६,५; मुण्डक १,२,११; ३,१,३; माण्डूक्य २,७; तै० उ० २,६,७; छान्दो० ६,८-१५,७, (२४;१; २५,१-२) ८, १२, १-३; ८,१४,१; केन १,१२; १,५; बृ० उ० १,४,२; १,४, ७,१०; ३,४,१; ४,३ (१५,१६,२१-३२) ४,४ (५,६, १२,१९), ४,५ (६,१३-१५), ३,७,२३ इत्यादि।

—तो सर्वोपनिषदोंके परम सिद्धान्तका निस्संदिग्ध निर्णय होगा कि स्थूल आदि तीन शरीरोंसे भिन्न इनका साक्षी चिन्मात्र आत्मा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। इस प्रत्यगभिन्न ब्रह्मके साक्षात्कारसे शोक, मोहरूप मिथ्या संसारकी निवृत्ति होकर परमानन्दरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। ब्रह्मसे भिन्न नाम-रूपात्मक जड चेतन जगत् मिथ्या है, ब्रह्मात्मामें आरोपमात्र है। ब्रह्मसे भिन्न संसारकी सत्ताका नितान्त अभाव है। त्रिविध भेदरहित अखण्ड चिन्मात्र आत्मा ही परमार्थ सत्य है, परमार्थ-दृष्टिसे यही यथार्थ ज्ञान है। भेद-दृष्टि अज्ञान है। सब उपनिषदोंका समन्वय इस अखण्ड अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व-में ही है। इसी यथार्थ दृष्टिकी भिन्न-भिन्न कक्षाएँ ज्ञानकी भूमिकाएँ हैं। भूमिकाओंके विवेचनमें हम देखेंगे कि इस अभेदरूप यथार्थ दृष्टि-ज्ञानका क्रमशः विकास होता जाता है। प्रथम तीन भूमिकाएँ साधना अथवा जिज्ञासु-साधककी कक्षाएँ या अवस्थाएँ हैं। शेष चतुर्थसे सप्तमतककी चार श्रेणियाँ सिद्ध ज्ञानीकी भूमिकाएँ हैं। यद्यपि इन सबमें परमार्थ सत्य (ब्रह्मात्मा) का अपरोक्ष ज्ञान एक-सा होता है; परंतु जगत्-मिथ्यात्वकी दृष्टिमें क्रमशः विकास होता जाता है।

प्रथम भूमिका शुभेच्छा-जिज्ञासा

प्रत्यगभिन्न ब्रह्म ही निरपेक्ष, परमार्थ, शुभ, शिव तथा अभय पद है; अन्य सब भेद अशुभ एवं भयरूप ही है। द्वितीयाद् वै भयं भवति—अपनेसे भिन्न द्वितीयसे—भेदसे—भयकी आशङ्का बनी रहती है। प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूप शुभकी इच्छा या जिज्ञासा ज्ञानकी प्रथम भूमिका है। यज्ञ, दान, तप, हठयोग, शब्दयोग, कुण्डलिनीयोग, सांख्य, राजयोग, भक्तियोग, आत्मसमर्पण आदि भिन्न-भिन्न अध्यात्म-साधनाएँ उपयोगी हैं; परंतु इनका फल जिज्ञासाकी उत्पत्ति है। इन सब साधनाओंका उपयुक्त स्थान शास्त्र तथा ब्रह्मवित् महात्माओंके आदेशानुसार जिज्ञासा अथवा ज्ञानकी प्रथम भूमिकासे पूर्व ही है। उसके बाद इनका कुछ उपयोग नहीं है। शास्त्रके परम तात्पर्यकी दृष्टिसे इनका मूल भेददृष्टि अर्थात् अज्ञान है और ज्ञान-साधनामें अखण्ड निर्व्यापार ब्रह्मात्मतत्त्वके यथार्थ बोधद्वारा इस भेददृष्टिका नाश करना अभीष्ट है। इसलिये हठयोगादि उपर्युक्त साधनाएँ, जो

भेददृष्टिको बनाये रखती हैं, अखण्डात्मसाक्षात्कारमें प्रतिबन्धक तथा ज्ञान-साधनाकी विरोधिनी हैं। ये द्वैत तथा अद्वैतमूलक साधनाएँ ध्येय आदिमें अन्धकार और प्रकाशके समान परस्पर-विरोधी हैं। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य कभी ऐसा निर्देश नहीं कर सकता और कोई साधक इनके तथ्य तात्पर्य तथा लक्ष्यको जानते हुए एक कालमें इनका अनुष्ठान नहीं कर सकता। यदि इन साधनोंके लौकिक फलके आकर्षणके कारण इनके तथ्यस्वरूप आदिके ज्ञानका अभाव न हो तो इनका समकालीन सम्पादन सम्भव नहीं होता। विवेक-वैराग्य आदि साधनचतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासु ही अखण्ड ब्रह्मज्ञान-साधनाका अधिकारी है। वही प्रथम भूमिकामें प्रवेशकर उस भूमिकाकी साधना यथार्थ रूपसे कर सकता है।

स्वरूपानुसंधानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यास उष्ट्रकुङ्कुमभारवद् व्यर्थः। न योगशास्त्रप्रवृत्तिः, न सांख्यशास्त्राभ्यासः, न मन्त्रतन्त्रव्यापारः, नेतरशास्त्रप्रवृत्तिर्येतरास्ति। अस्ति चेच्छवालंकारवत् कर्माचारविद्यादूरः, न परिव्राण् नामसंकीर्तनपरो यद्यत् कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति। एरण्डतैलफेनवत् सर्वं परित्यजेत्। न देवताप्रसादग्रहणम्, न बाह्यदेवताभ्यर्चनं कुर्यात्॥ (संन्यासोप० २, ५९)

'आत्मस्वरूप-चिन्तनसे भिन्न शास्त्राभ्यास उष्ट्रके कुङ्कुमके भारके समान व्यर्थ है। यतिकी न भेदवादी योगशास्त्रमें प्रवृत्ति होती है, न सांख्यशास्त्रमें, न मन्त्र-तन्त्र-व्यापारमें, न अन्य भेदवादी शास्त्रोंमें। यदि ऐसी प्रवृत्ति हो तो वह शवके अलंकारके समान है। कर्माचार विद्यासे दूर—उसका विरोधी है। यतिको न तो निज नाम-महिमाका संकीर्तन करना चाहिये, न प्रत्यगभिन्न ब्रह्मभावनासे शून्य भेददृष्टिसे किसी ब्रह्मनामका संकीर्तन करना चाहिये। मनुष्य जो-जो कर्म करता है, उस-उसके फलको पाता है। एरण्डतैलके फेनके समान इन सब भेदमूलक लौकिक तथा शास्त्रोक्त व्यवहारको त्याग दे। देवताके प्रसादको न ले, न बाह्य देवताकी पूजा करे।

अधिकारी संन्यासी

ज्ञान-साधनाके आरम्भमें ब्रह्मलोकपर्यन्त जगत्-बन्धनमें सत्यत्व परंतु अनित्यत्व बुद्धि होती है। इस जगत्से छूटना उसका एकमात्र लक्ष्य होता है। मोक्ष-आकाङ्क्षाके साथ किसी अन्य लौकिक लक्ष्यका सामञ्जस्य बन ही नहीं सकता। जगत्के किसी एक पदार्थमें एक ही कालमें इष्ट तथा अनिष्ट बुद्धिका हो सकना असम्भव है। श्रेय तथा प्रेय तम और प्रकाशके समान नितान्त भिन्न एवं विरोधी हैं। जब मोक्ष ही लक्ष्य हो, तब सम्पूर्ण प्रयत्न तथा व्यवहार इसीके लिये होना चाहिये। गृहस्थाश्रम, जो कि कर्म-प्रधान तथा प्रायः काममूलक होता है, ऐसी दशामें असम्भव है। जिज्ञासाकी तीव्रता ही उसकी कर्तव्य-कर्म-बुद्धिको शिथिल कर देती है। 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'—जिस दिन लौकिक भोगसे वैराग्य हो जाय, उसी दिन गृहस्थाश्रमसे प्रस्थान कर संन्यासाश्रममें प्रवेश करे। यह शास्त्रवचन उसे गृहस्थसे छुट्टी ही नहीं देता, प्रत्युत अनिवार्य रूपसे उसके त्यागका विधान करता है और अन्य शास्त्रवचनोंके मनमाने अर्थके आधारपर गृहस्थाश्रमको सर्वश्रेष्ठ कहकर कर्तव्यबुद्धिके आधारपर गृहस्थसे मरते दमतक चिपटे रहनेकी अनुमति नहीं देता है। जिसके अन्तःकरणकी कलुषताको वैराग्यने धो डाला है, वह साधक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी संनिधिमें मोक्षके उपायोंका निरन्तर अनुष्ठान करनेके लिये ज्ञानप्रधान संन्यास-आश्रममें प्रवेश करता है। आभ्यन्तर संन्यास वैराग्य एवं जिज्ञासाका कारण है और शास्त्रविधिके अनुसार बाह्य संन्यास जिज्ञासाका परिणाम—फल है। तथ्य आभ्यन्तर संन्यासके बिना तथ्य जिज्ञासा असम्भव है। जिज्ञासाके उपयोगी श्रवणके अतिरिक्त संन्यासीका कोई स्वतन्त्र लक्ष्य अथवा साधन नहीं रहता। जो व्यक्ति संन्यासाश्रममें श्रवणादिके अतिरिक्त अन्य कुछ भी करता है, उसमें जिज्ञासाकी न्यूनता है। निर्विघ्न श्रवणके लिये अनिवार्य भिक्षादि शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये जिज्ञासुका एकमात्र अवलम्ब प्रारब्ध तथा ईश्वरविश्वास होता है। वह साधारण योगक्षेमकी चिन्ता और उसके लिये ओषधि, जन्तर, मन्तर, कथा-वार्ता, यौगिक सिद्धि आदि व्यवसायोंमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। ईश्वर तथा प्रारब्धके आश्रयपर वह सब कठिनाइयों तथा बाधाओंका प्रतीकार करता है, अथवा अन्य उपाय न करता हुआ ही जीवन व्यतीत करता है। श्रवण आदि साधनोंमें बाधा पड़नेपर भी वह ईश्वरके आधारको छोड़कर उपर्युक्त अन्य किसी उद्यममें प्रवृत्त नहीं होता; क्योंकि वह यह दृढ़ भावना रखता है कि कष्टसहनरूपी तपसे पूर्वकर्मजनित बाधाएँ शिथिल होती हैं। उसकी ऐसी दृढ़ धारणा होती है कि संन्यासीके लिये शास्त्रविरुद्ध अन्य उपायोंसे योग-क्षेम करके निर्विघ्न श्रवण आदि

साधन करनेकी भावना तथ्य नहीं है। वह साधनाभासमात्र है। उपर्युक्त तथ्य तितिक्षा, ईश्वरपरायणता आदिके सहित यत्किञ्चित् शास्त्र-श्रवणादि साधन ही यथार्थ साधन है। अन्य श्रवण शास्त्रोक्त श्रवण नहीं है; उससे लक्ष्यकी सिद्धि नहीं होती।

शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागः परिग्रहः।
अहंकारो ममत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम्॥
प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधपराशिषः।
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः॥
(नारद उ० ४। ५—७)

'यतिके लिये शिल्प, व्याख्यान देना, योग, काम, राग, परिग्रह, अहंकार, ममत्व, चिकित्सा, धर्मके लिये साहस-कार्य, प्रायश्चित्त, प्रवास, मन्त्र, औषध और अन्यको आशीर्वाद देना—ये सब निषिद्ध हैं। इनका सेवन करनेसे यति पतित हो जाता है।'

ऐसे जिज्ञासुके लिये संन्यास-आश्रम ही मुख्य है। परंतु यदि वह किसी उपयुक्त कारणवश गृहस्थ-आश्रममें ही रहे, तो उसका सम्पूर्ण जीवनव्यवहार निष्कामबुद्धिसे होता है। गृहस्थमें रहते हुए साधक अथवा ब्रह्मज्ञानीका ढोंग रचकर लौकिक कर्मोंको तो करते रहना और शास्त्रोक्त देवयज्ञ आदि कर्मोंको त्याग देना धृष्टतामात्र है।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
(गीता ३। २६)

'कर्मके फलमें आसक्त अज्ञानियोंकी बुद्धिको उनके उपर्युक्त अधिकारोचित कर्ममार्गसे विद्वान् उन्हें विचलित न करे। उन सबको शास्त्रकर्मोंमें ही प्रवृत्त करे और स्वयं अनासक्त योगबुद्धिसे शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करे।'

शास्त्रके विधानके अनुसार किया हुआ कर्मका त्याग अथवा ग्रहण उन्नतिका कारण होता है; ऐसे विद्वान्की शारीरिक आवश्यकताओंके सम्बन्धमें केवल निर्वाहमात्रपर दृष्टि होती है। इससे अधिकको वह वासनाकी दासता तथा परिग्रह समझता है।

साधना-क्रम

ऊपर वर्णन हो चुका है कि त्रिविध भेदरहित अखण्ड, प्रत्यगभिन्न ब्रह्मके ज्ञानके द्वारा शोक-मोह, जन्म-मृत्यु तथा संसारचक्रके मूल भेददृष्टिरूपी अज्ञानका नाश एवं ज्ञानसाधन मनुष्यजीवनका एकमात्र शास्त्रोक्त ध्येय है। यह भी निर्देश किया गया है कि उपनिषद् आदि सत्-शास्त्र ही इस विषयमें एकमात्र प्रमाण हैं और आचार्यवान् पुरुष ही शास्त्रके रहस्यको ग्रहण करता है; इसलिये साधन-चतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासु अन्य सम्पूर्ण कर्तव्यों तथा योग-क्षेमकी चिन्तासे मुक्त संन्यासी—उपनिषदोंके श्रवणके लिये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें उपस्थित होता है। जैसे शरीरके अङ्गोंका एक-दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इसी प्रकार श्रवण आदिका एक-दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये किसी कालमें भी एक दूसरेसे नितान्त पृथक् नहीं हो सकते। शास्त्र-तात्पर्य-निर्धारणरूपी श्रवणके षट्-लिङ्गोंमें ही उपपत्तिका निर्देश है; जिसका यह अभिप्राय है कि युक्ति, तर्क, अनुमानके बिना शास्त्र-तात्पर्यका निर्धारण नहीं हो सकता। इसीलिये मूल उपनिषदोंमें भी प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूपी परमार्थ सत्यकी सिद्धिके लिये अनेक उपयोगी युक्तियोंका दृष्टान्तसहित निरूपण है और तीव्रतम जिज्ञासुका उनसे ही समाधान हो जाता है। आत्मप्रत्ययका प्रवाहरूप निरन्तर चिन्तन अर्थात् मनन भी एक दृष्टिसे निदिध्यासन ही है। इसलिये उपनिषदोंके श्रवणमें ही शेष दो—मनन तथा निदिध्यासन-साधनोंका समावेश हो जाता है। इसलिये सामान्य-दृष्टिसे इन साधनोंके स्वरूप अथवा कालक्रमके भेदका वर्णन नहीं बन सकता। जैसे गर्भस्थ शिशुके सम्पूर्ण अङ्ग गर्भके आरम्भसे ही उपस्थित होते हैं, परंतु भिन्न-भिन्न अङ्गोंका विकास भिन्न-भिन्न मासोंमें होता है; इसी प्रकारसे ज्ञानसाधनारूपी शिशुके भिन्न-भिन्न अङ्ग बीजरूपसे प्रारम्भमें विद्यमान होते हुए भी इनका विकास क्रमशः होता है।

इसका विशद विवेचन अन्यत्र यों दिया गया है कि (१) साधनचतुष्टयसहित जिज्ञासा, (२) श्रवण, (३) मनन, (४) निदिध्यासन तथा (५) आत्मदर्शनमें तीव्रतम जिज्ञासुके अतिरिक्त साधारणतया कारणकार्यभावरूप अविनाभाव आदि सम्बन्ध है, जिससे इनके क्रम तथा अवधि-फलका ज्ञान होता है। अर्थात् तथ्य जिज्ञासाके अनन्तर ही शास्त्रोक्त श्रवण सम्भव होता है। तथ्य श्रवण अथवा निरन्तर श्रवणकी योग्यताका होना जिज्ञासासाधनाका फल अथवा अवधि है। श्रवणके अनन्तर ही सामान्य उपपत्तिसे भिन्न मननकी अनिवार्य आवश्यकता जँचती है। जैसे जिज्ञासाके अनन्तर ही श्रवणके महत्त्वका पता चलता है, ऐसे ही श्रवणके परिपक्व हो जानेपर मननका और उसके

पश्चात् निदिध्यासनका महत्त्व है । ज्ञानसाधनामें श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनका यही क्रम है। जैसा कि श्रवण आदि साधनाका विधानसम्बन्धी (बृह० उ० २, ४, ५, ६)क्रम पाया जाता है, इसमें क्रमका उल्लेख तात्पर्यशून्य नहीं है । इस वचनमें वेदान्त-साधनाके पथका रहस्यपूर्ण संग्रह है—
'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ॥'

प्रथम भूमिकाका साधन श्रवण

पूर्वमीमांसामें शास्त्र-तात्पर्यके निर्धारणमें उपयोगी षड्लिङ्गोंका वर्णन है—(१) उपक्रम-उपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद तथा (६) उपपत्ति । श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी संनिधिमें इन षड्लिङ्गोंद्वारा उपनिषदादि ब्रह्मविद्याविषयक शास्त्रोंके परम तात्पर्यका निर्धारण करना श्रवण कहलाता है । परमतत्त्वके सम्बन्धमें अनेक विकल्प हैं—(१) जड है अथवा चेतन, (२) विशिष्ट चेतन है अथवा चिन्मात्र, (३) कर्ता, भोक्ता है अथवा अकर्ता, अभोक्ता, (४) त्रिविध भेदयुक्त चेतन है अथवा अखण्ड चेतन, (५) विभु है, अणु है अथवा मध्यम परिमाण । इन भिन्न-भिन्न विरोधी सिद्धान्तोंका प्रकरणानुसार वर्णन उपनिषदादि सच्छास्त्रोंमें उपलब्ध होता है, जिसके आधारपर वेदान्तके सम्प्रदायोंमें भी कई भेद हैं । इसीलिये शास्त्रवचनोंमें भी विरोध-सा प्रतीत होता है, जिसके कारण संशय हो जाता है और श्रुतिप्रमाणमें आस्था भी शिथिल होने लगती है । यदि पुण्यबलसे कुछ श्रद्धा बनी रहे, तो भी बुद्धि इस परस्पर विरोधको सहन नहीं कर पाती । यदि इसकी उपेक्षा कर दी जाय तो भी कुछ फलकी सिद्धि नहीं होती । फल किसी निर्णीत सत्यके अनुष्ठानके द्वारा प्राप्त हो सकता है; इसलिये उपर्युक्त परस्पर-विरोधका समन्वय अनिवार्य है ।

श्रवणकी सफलता

परमतत्त्वके निर्णयके द्वारा तथा तद्विरोधी शास्त्रवचनोंके उपयुक्त अर्थके द्वारा शास्त्रके विरोधी वचनोंका समन्वय करनेमें श्रवणकी सफलता है । मुख्य या प्रधान विरोध यह है कि परमतत्त्व त्रिविध भेदरहित अखण्ड चेतन है अथवा जड-चेतन-भेदयुक्त चेतन है । दोनों प्रकारके वचन उपनिषदोंमें पाये जाते हैं । अभेदपरक कुछ वचन ऊपर उद्धृत किये गये हैं । कुछ भेदवचन भी पाये जाते हैं; जैसे कठ० ३, १; ६, ७-८; ईश० ८–१४; प्रश्न० ५, १; मुण्डक० ३, १; १–३; तैत्तिरीय० ३, १; ऐतेरय० १, १-२; बृह० ३, ७, ३–२३ इत्यादि ।

द्वैत तथा अद्वैत वचनोंका समन्वय

इसी प्रकार परमतत्त्वविषयक अन्य भी अनेक विरोध पाये जाते हैं । श्रवणके द्वारा इन परस्पर विरोधी वचनोंका गौण, मुख्य आदि भेदोंसे समन्वय करना अनिवार्य है । यहाँपर विशेष विवेचनका अवकाश नहीं । यहाँ तो केवल इतना ही दिखाना अभीष्ट है कि इस परस्पर-विरोधरूपी आपत्तिका निराकरण श्रवणके द्वारा हो सकता है । सूक्ष्म, एकाग्र तथा पक्षपातरहित बुद्धि ही आचार्यके सहयोगसे शास्त्रके तथ्य तात्पर्यका निर्णय कर सकती है । षड्लिङ्गोंसे उपनिषदोंके तात्पर्यकी समीक्षा करनेसे यह निर्णय करना सहज होता है कि अद्वैतपरक वचन ही मुख्य हैं । अन्यथा ये सब वचन निरवकाश हो जाते हैं और श्रुति प्रामाणिक नहीं ठहरती । यदि शरीर-शरीरिभाव तथा प्रेम-भावना आदिके द्वारा इनके गौण अर्थ किये जायँ, तो भी श्रुतिकी अपूर्वता खण्डित हो जाती है । कहा जा सकता है कि सर्वज्ञत्वादि गुणयुक्त ब्रह्मका ज्ञान शास्त्रसे ही हो सकता है; परंतु एक बार जगत्-नियामक चेतन सत्ताको स्वीकार कर लेनेपर, उपर्युक्त गौण अभेदके उपदेशकी आवश्यकता नहीं रहती । अर्थात् यदि शास्त्रका परम तात्पर्य द्वैतको स्वीकार किया जाय तो अद्वैतपरक वचन निरवकाश हो जाते हैं । यदि इस दोषकी निवृत्तिके लिये अद्वैतके गौण अर्थ किये जायँ, तो श्रुतिकी प्रामाणिकताके भङ्ग हो जानेकी आपत्ति आती है । इसी प्रकार श्रुतितात्पर्यनिर्णायक षड्लिङ्ग भी अन्य अनेक आपत्तियाँ उपस्थित करते हैं । इसलिये परमार्थ अद्वैतपरक वचन मुख्य हैं । जीव-ईश्वरका अभेद मुख्य तथा परम सत्य है और द्वैतपरक वचन लौकिक व्यवहारके अनुवादमात्र हैं तथा कर्म उपासनापरक हैं । ये वचन उनके लिये हैं, जिनकी बुद्धि स्थूल—प्राकृत है और परम अद्वैतको ग्रहण कर सकनेमें असमर्थ है । उनके लिये अधिकारोचित उपासनाकी साधनाके लिये भेद तथा उपासना आदिका निरूपण सापेक्ष सत्य है । साधनचतुष्टयसम्पन्न तीव्र-बुद्धिवाले जिज्ञासुके लिये ये वचन नहीं हैं ।

इसी प्रकार विरोधी प्रतीत होनेवाले अन्य शास्त्रीय वचनोंके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय भी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके प्रसादसे हो जाता है और शास्त्रोक्तियोंमें परस्पर विरोध नहीं रह जाता । शब्दप्रमाणका समन्वय होनेके साथ ही यह निश्चय हो जाता है कि अध्यात्मविषयक श्रुतिका मुख्य

तात्पर्य अभेदमें है। शब्दप्रमाण भेदको मिथ्या बताता है। भेदके प्रतीत होनेपर भी शब्दप्रमाण अभेदको ही सिद्ध करता है; इस विषयमें संदेह नहीं रहता।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचनका यही सार है कि साधनचतुष्टय-सम्पन्न जिज्ञासु प्रथम भूमिकाका अधिकारी है। ब्रह्मज्ञान-साधनाके अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण व्यवहारकी निवृत्तिरूपी संन्यास जिज्ञासुके लिये स्वाभाविक तथा निरन्तर ज्ञान-साधनाके लिये परमोपयोगी एवं अनिवार्य है। प्रवृत्ति और ज्ञान-साधनाका तम और प्रकाशकी भाँति परस्पर विरोध है। प्रथम कक्षाका प्रधान साधन श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यसे उपनिषद् आदि ब्रह्मविषयक शास्त्रोंका श्रवण करना है। उपनिषद्के द्वैत तथा अद्वैतपरक वचनोंके तथ्य तात्पर्यके द्वारा (१) उपनिषद्वचनोंके अन्तर्गत विरोधका समन्वय करना तथा (२) त्रिविध भेदरहित अखण्डचिन्मात्र तत्त्वका आत्मभावेन निःसंदेह निर्णय करना श्रवणसाधनाका कार्य, परम फल तथा अवधि है। इस अवस्थाके प्राप्त होनेपर जिज्ञासुको उपनिषद् आदि ग्रन्थों तथा इन ग्रन्थोंके उन भागोंका विशेष स्वाध्याय करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, जिनमें प्रधानतया आस्तिक बुद्धिवालोंके लिये परमतत्त्वका वर्णन है। उसे श्रवणका फल प्राप्त हो चुका है, शब्दप्रमाणके परम तात्पर्य अद्वैतका निश्चय हो चुका है; इससे अधिक श्रवणका कुछ लाभ नहीं और इसीलिये वैसे साधककी श्रवणमें रुचि नहीं रहती है; क्योंकि उसका प्रमाणगत संशय निवृत्त हो गया है।

महारास

(रचयिता—श्रीप्रफुल्लचन्द्रजी ओझा 'मुक्त')

समवेत गान

कैसी आज जुन्हाई !
कैसी अनुपम शोभा छितिपर छबि-छाई छहराई ॥
कैसी आज मनोहर राका,
भरा धरापर स्वप्न विभाका,
उतर अवनिपर, किरण-डोर धर, विधु-दीधिति सकुचाई ॥
उत्कंठा जागी जन-जनमें,
जागा मधुर मनोरथ मनमें,
तन-तनमें सिहरन भरनेको शशि-लेखा मुसकाई ॥
नभका हास-विलास मनोरम,
भू-अधरोंपर आज रहा थम,
लास-भरी धरती विलाससे लेती है अँगड़ाई ॥

सूत्रधार

चंद्रिका खिल उठी मिल धराके गले,
व्योममें सोमका स्निग्ध संचार है।
वात सहमा हुआ, रात ठिठकी हुई,
रुद्ध-सा लोकका शोक-संभार है ॥
हिल रही वल्लिका, मल्लिका खिल रही,
भर रहा हर दिशा अमित आमोद है।
व्योमके वक्षपर, सोमके पक्ष-सा
लक्ष्यको जा रहा श्वेत पाथोद है ॥

स्वर्गसे भूलकर भूमिकी धूलपर
यह विभाकी कुमारी चली आ रही।
लाजके व्याजसे आज या मेदिनी
शुभ्र घूँघट निकाले भली आ रही ॥

या रसाके लिये विधु स्वयं व्योमसे
हँस सरस, सोम-रस-धार बरसा रहा।
या कि मृत्पात्रहीमें महीके कहीं
कामधुक्का धवल क्षीर भर-सा रहा ॥

चंद्रिका चंद्रका हास लेकर चली,
आ अवनिके वदनपर बिखर-सी गई।
विटपोंके असित अंग उत्संगमें
कौमुदी भर स्वयं ही निखर-सी गई ॥

तेजके तीरकी पीर गंभीर जो
देह दिनभर धराकी तपाती रही।
चंद्रिका शीत-करसे उसीपर सदय
स्नेह-आलेप निशि-भर लगाती रही ॥

चंद्र-आलोक भी कोकके शोकको
रोक पाया नहीं, वह कलपता रहा।
कौन जाने कि किस शापसे रातभर
विरह-उत्तापमें आप तपता रहा ॥

सरस रस-लोभसे रहसमें बैठकर
अलि नलिन-कोषमें हो गया बंद है ।
कौमुदीमें मुँदी पंखड़ीको खड़ी
देखती दूर भ्रमरी निरानंद है ॥

वेणु-वनमें कहीं सो रहा स्वर मुखर
मर्म मर्मर विपिनका कसक-सा रहा ।
हर लहरपर हहर जो बही जा रही
उस सरितका तरल मन मसक-सा रहा ॥

गंधकी साँसमें रुद्ध उच्छ्वास-सा
छोड़कर कुसुम कमनीय झरने लगे ।
पर सुहागों-भरी वल्लरीके अधर
विद्रुमों-से द्रुमोंपर सिहरने लगे ॥

आज वृंदा विपिन मग्न हैं मोदमें
छबि अमर लोककी ज्यों छनी आ रही ।
आजकी यामिनी कामिनीके लिये
सहज अनुगामिनी है बनी आ रही ॥

आजके क्षण विलक्षण, सिहातीं खड़ी
भूमिका भाग्य देवांगना, स्वर्ग भी ।
आजका काल ऐसा कि सिर धुन रही
साधना, मल रहा हाथ अपवर्ग भी ॥

शांत आकाश है, शांत वातास है,
इंदु-कर भूमिपर शांति जड़-सा रहा ।
आज यमुना-किनारे खड़े कृष्णके
चित्तमें रास-रस है उमड़-सा रहा ॥

ईशकी कामनासे बना विश्व यह
आज रह-रह बुलाता उन्हें पास है ।
धर अधरपर मुरलिका मधुर, श्यामने
इसलिये ही बजाई अनायास है ॥

समवेत गोपी-गान

यमुनाके तीर कौन बाँसुरी बजाता ?
अंग-अंग है उमंग–संग बहा जाता ॥
स्वरके रसकी हिलोर
तन-मनको रही बोर
सिहर यह शरीर है अधीर हुआ जाता ।
मनको मन्मथ ललाम
मथता-सा हाय राम
बरबस इस याम हमें कौन है बुलाता ?
बंसी यह टेर रही
किसका पथ हेर रही
लोक-लाज आज भला है किसे सुहाता ?

गोपियाँ लग्न थीं गेहके नेहमें
वेणुका स्वर सुना, भ्रांत-सी हो गईं ।
कृष्णके प्रेमको क्षेमकर जानकर
देह-मन खो, मगन हो, बिजनको गईं ॥

वेणुकी तानमें गान जो प्राणका
चित्तको खींचकर वह बुला-सा रहा ।
अमित आनंद–संदोहके पालने
ब्रह्म ज्यों जीवको है झुला-सा रहा ॥

यह घड़ी है बड़ी भाग्यशाली कि जो
श्यामने आप ही है पुकारा हमें ।
कर कृपा-कोर चितचोरने चावसे
आज ही तो प्रथम है निहारा हमें ॥

व्यर्थ असमर्थताका न कुछ अर्थ है
त्यागकर दर्प अर्पण स्वयंको करें ।
आज आत्मा मिले तत्त्व परमात्मसे
हम अमर लोकका रस रसामें भरें ॥

सोचकर इस तरह रह सकीं चिर न फिर
श्यामकी लालसासे मचलने लगीं ।
तोड़ बंधन सभी, मोड़ मुँह मोहसे
गोपियाँ घर-नगरसे निकलने लगीं ॥

धेनु पय-भारसे राँभती रह गई
बह गई छाछ फिर दूर गिर पात्रसे ।
सुध बिसरकर, सिहरकर, किधर जा रहीं
वस्त्र-भूषण गिरे स्रस्त हो गात्रसे ॥

कंठलग्ना स्वपतिकी नवोढ़ा निकल
चल पड़ी हो बिकल तिलमिलाती हुई ।
स्तन्य छूटा सरल शिशु मचलता रहा
माँ चली मोदसे गीत गाती हुई ॥

जो सती थी व्रती मतिमती, कांतकी
चरण-आराधना छोड़ वह चल पड़ी ।
घर सँजोती बिलोती हुई दूध जो
काजसे आज मुँह मोड़ वह चल पड़ी ॥
एक थी राँधती, एक लट बाँधती,
एक अंजन नयनमें लगाती रही ।
देरसे हेरती पंथ प्रिय पांथका
एक थी नीर दृगसे बहाती रही ॥
एक खाती रही, एक गाती रही,
एक रोता हुआ शिशु सुलाती रही ।
त्यागकर सब जहाँका तहाँ, चल पड़ीं
गोपियाँ, वेणु जिनको बुलाती रही ॥
सासकी ताड़ना, नन्दका वारना,
रोष पतिका उन्हें रोक पाया नहीं ।
देख सम्मुख सिसकता सलोना सुवन
गोपियोंने तनिक शोक पाया नहीं ॥
बावली-सी गलीमें चली जा रहीं,
जा मिलीं तरणिजाके तरल तीरपर ।
चित्तमें छवि छिपाये विमल श्यामकी
कर निछावर तरुण प्राण आभीरपर ॥
बाँसुरीमें भरे प्रेमके स्वर मुखर
गूँजते घर-नगर, सरि-लहरपर रहे ।
भूमिको चूमकर, झूमकर जो उठे
शून्य आकाशमें हास भरकर रहे ॥
गोपियाँ देह-सी आ गईं पास, पर
प्राण-सी राधिका रुक गईं मानसे ।
हरि हँसे हेरकर, टेरकर बाँसुरी
फिर पुकारा उन्हें योग्य सम्मानसे ॥

राधा-माधव-संवाद

श्रीकृष्ण–
राधा राधा राधा !
हरिका हृदय तुम्हींने अपने प्रेम-रज्जुसे बाँधा ॥
मैंने सबको सहज पुकारा,
पर तुमने ही मुझे बिसारा,
नहीं जानती हो क्या, तुमसे रहित रहा मैं आधा ॥
राधा राधा राधा !

राधा–
लो, आई माधव, मैं आई, अब न रही कुछ बाधा ॥
महा मिलनका रास रचाकर,
किंतु मुझे ही नहीं बुलाकर,
तुमने दी पीड़ा, मैंने उस व्रीड़ासे चुप साधा ।
पर आई माधव, यह आई, अब न रही कुछ बाधा ॥

श्रीकृष्ण–
तुम हो मेरे रोम-रोममें,

राधा–
तुम अणु-अणुमें, धरा-व्योममें,

दोनों–
तुम मुझमें हो, मैं तुममें, दोनोंकी प्रीति अगाधा ।
एक दूसरेसे अभिन्न हैं दोनों माधव-राधा ॥

श्रीकृष्ण–
है अनादिसे तुमने मुझको प्रेम-रज्जुसे बाँधा ।

राधा–
भव-भावन नारायणके चरणोंमें नत है राधा ॥

श्रीकृष्ण–
आओ, हिलमिल रास रचाएँ,

राधा–
स्वर्ग उतार धरापर लाएँ,

राधा–
नरसे नारायण मिल जाएँ, बरसे शांति अबाधा !
हे माधव, मुकुंद, मधुसूदन !

श्रीकृष्ण–
राधा, राधा, राधा !!

बह रहा नील नभके तले नील जल
नीलरुचि शुचि शिलापर समासीन हैं ।
रम रहे कोटि ब्रह्मांड हैं रोममें
पर स्वयं वे अहंसे उदासीन हैं ॥
बाँसकी बाँसुरी है अधरपर धरी
जो विधुर लोकमें स्वर मधुर भर रही ।
प्रीतिकी बेलिको केलिसे सींचकर
गोपियोंके हियोंको विमल कर रही ॥
बाँधकर दल सकल गोपियाँ आ गईं
घेरकर कृष्णको नाचने लग गईं ।
लास-उल्लासमें, हास-परिहासमें
वासना त्यागकर प्रीतिमें पग गईं ॥

नूपुरोंके रणन, किंकिणीके क्वणन,
स्वन चरणके मधुर ताल देने लगे।
अंगकी भंगिमाको मिली गति चपल
तन तरल तंतुसे लहर लेने लगे॥

मोदमें मग्न होकर कहीं गोपियाँ
तालसे स्वर मिला गीत गाने लगीं।
कंठके नीड़से मीड़-खगको मधुर
मूर्च्छना-ग्राम-संयुत उड़ाने लगीं॥

नृत्य-संगीतकी यह मनोहर छटा
देखकर देवगण भी सिहाने लगे।
मेनका-उर्वशी भी ठगी-सी रहीं
पुष्प गंधर्व-किन्नर गिराने लगे॥

रास-गीत

यमुना-तट रासका विलास-लास छाया।
गोकुलमें उमड़ आज यह हुलास आया॥
आज मत्त-मोद-भरी
विविध विधि विनोद-भरी
शारदीय शर्वरी, झरी प्रफुल्लताया।
नटवर नरके समान
नाच रहे बन अजान
फैल रहा लोक-ओकमें सुयश सुहाया।
पायलकी छूम-छनन
मुरली-सुरलीन विजन
प्रकृतिमें पुरुष पुराण प्राण-सा समाया।
उडुगण, ग्रह, सूर्य, सोम,
धरा, अंतरिक्ष, व्योम,
नाच रहे तमस्तोममें प्रकाश-छाया।
इंद्र, वरुण, यम, कुबेर
नृत्य-निरत रहे हेर
नाच स्वयं शेषने समस्त जग डुलाया।
नर्तित खग-मृग-निकाय
शैल-विटप विपुलकाय
भव यह शीतलच्छाय रास-रस-नहाया।

गोपियोंका परम भाग्य थीं हेरती
स्वर्गमें मुग्ध देवांगनाएँ खड़ी।
सोचतीं, क्यों न व्रजमें मिला जन्म जो
कृष्णका संग पातीं सहज दो घड़ी॥

गोपियोंने विचारा कि त्रैलोक्यमें
रूप हम-सा किसीको मिला ही नहीं।
कांति-सरमें अमर-लोकके भी कभी
छबि-नलिन आजतक है खिला ही नहीं॥

रूपके गर्वसे गर्विता गोपियाँ
नृत्य-श्रम-स्वेद क्रमसे बहाने लगीं।
मंद होने लगी गति सहज चरणकी
आभरण खोलकर वे गिराने लगीं॥

रुक गये कृष्ण तब छद्मसे हो चकित
देखकर गोपियोंको थकित इस तरह।
भक्त-अनुरक्त आसक्त कब आत्ममें
पर अपरकी व्यथा कब नहीं है असह?

चर-अचरमय सकल सृष्टि है दृष्टिका
एक इंगित सहज सच्चिदानंदकी।
भासती मात्र लीला उसीकी यहाँ
ज्योति उसकी बनी सूर्यकी, चंदकी॥

प्राणका दंभ करने चली पुत्तली
कृत्य कर्ता स्वयंको लगा मानने।
सर्वमय खर्व करते सदा गर्वको
जन्म जिसको दिया असत्-अज्ञानने॥

देख आरंभ यह दंभका ईशने
एक कौतुक किया बात ही बातमें।
खो गये, हो गये दृष्टिसे दूर जो
थे अभीतक सभीके समुद साथमें॥

गोपियोंकी पलक भी झिपीतक न थी
फिर छिपी वह मनोहारिणी छवि कहाँ?
हो गईं वे विकल जल भरे नैनमें
रह गईं सब ठगी-सी जहाँकी तहाँ॥
क्या हुआ यह अरे, हे हरे, क्या करें
दीन हैं हम अकेली विपिनमें यहाँ।
ज्योति ज्यों लोचनोंकी गई हो, हमें
छोड़कर तुम भला हो सिधारे कहाँ?

देहका मोल क्या प्राणसे हीन जो
मीन जलसे बिछुड़कर जिये किस तरह।
चातकी स्वातिकी बूँद पाये न तो
अन्य जल वह अनल-सा पिये किस तरह॥

लक्ष नक्षत्र ले अंक निःशंक हो
सोम यह व्योमपर राजता है अभी ।
इन लता तन्वियोंका तुनुक भार ले
वृक्ष सज्जा नई साजता है अभी ॥

यह सलिलवाह लेकर तरंगें अमित
मोदसे मत्त गाता चला जा रहा ।
क्या हुई भूल जो शूल-सा यह विरह
है हमें ही रुलाता चला जा रहा ॥

एक क्षण था मिला क्षीण सौभाग्यका
अल्प हो, कल्प-सा ही लगा यों हमें ।
स्वप्नने सत्यका रूप ले, मूर्त हो
धूर्त बनकर अचानक ठगा यों हमें ॥

यह निशा यह दिशाओं-भरी चंद्रिका
चंद्र निस्तंद्र यह, घोर है यह विपिन ।
हा सकें पा कहाँ ढूँढ़ लें जा कहाँ
रह सकें सह विरह किस तरह यह कठिन ॥

यों बिलखती विविध भीतिके भावसे
घोर वनमें विकल हो सकल टेरतीं ।
घेरकर भूमिको घूमतीं, ढूँढ़तीं
हो विफल हारकर शून्यको हेरतीं ॥

दो दृगोंने गिरा जल विमल कर दिया
गोपियोंका हिया, प्रभु प्रकट तब हुए ।
राधिकाने गही बाँह, उन्मादिनी
गोपियोंने शरणके चरण जा छुए ॥

गोपी-गीत

नमो नमो पूर्णकाम हे नमो नमो
तुम विकार-रहित ब्रह्म जीवमें रमो ।
त्याग सकल देह-धर्म
पावें हम आत्म-मर्म
हे सुकर्म चर्म-अंतरायको दमो ।
जरा-मरण-भय अतीव
सहते हैं सभी जीव
मुक्त करो भीतिसे न अब तनिक थमो ।
पाप-ताप दैन्य-दुरित
दूर जायँ सभी त्वरित
तोषयुक्त ! दोष दीनके सभी क्षमो ।
देह-दंभ दमन करो
कृपा-कोर कम न करो
शमन करो विरह प्राण-प्राणमें रमो ।

यों महारास-रस है बरस-सा रहा
है सरस यह रसा डोलती लोल-सी ।
आजकी चाँदनीसे छनी यामिनी
है महीपर रहीं मत्तता घोल-सी ॥

नाचते राधिका-संग माधव मुदित
नाचती सृष्टि सारी निहारी गई ।
सोम रविके सहित स्वर्गकी छवि अमित
आज यमुना-किनारे उतारी गई ॥

कृष्ण हैं एक ही, एक ही राधिका
किंतु आराधिका गोपियाँ हैं बहुत ।
श्याम-उत्संगमें राधिका-अंगको
देखकर संगको व्यग्र-सी हैं बहुत ॥

किंतु सहसा हुई एक घटना नई
हरि सभी गोपियोंके सहित हो गये ।
एक ही ब्रह्म सब जीवमें रम रहे
गोपियोंके हृदय मल-रहित हो गये ॥

नाचने-सी लगी यह रसा रासमें
अब्धिमें दूरतक पूर आने लगा ।
स्वर्गमें यक्ष-गंधर्व-किन्नर-निकर
मत्त हो नाचने और गाने लगा ॥

नाचने लग गये ग्रह-उपग्रह सभी
रह सके जड न, जड आज चेतन बने ।
दूरकर देहका दाह देही रहा
विजित जगमें सजग मीनकेतन बने ॥

रामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा

(लेखक—मानसकेसरी श्रीकृपाशङ्करजी 'रामायणी')

(१)

आज श्रीअवधके प्रत्येक नर-नारियोंकी म्लान मुखश्री देदीप्यमान हो उठी है। प्रत्येकके हृदयमें आशाकी सुवर्णमयी किरणें चमक उठी हैं। सभी विभिन्न कार्योंमें संलग्न हैं। कोई हस्तियोंके पृष्ठभागपर मनोरम कनकमय हौदे सुसज्जित कर रहे हैं। कोई जीन रच-रचके चपल तुरंगोंको सुशोभित कर रहे हैं। इसी प्रकार नगरके गृह-गृहमें जनसमुदाय नाना प्रकारके वाहनोंको समुद्यत कर रहा है। सब-के-सब श्रीराघवेन्द्र सरकारके चरणकमलकी संनिधि प्राप्त करनेकी त्वरामें हैं। श्रीभरतलालकी सराहना करनेके साथ-साथ नागरिक परस्परमें कहते हैं कि आज बहुत विशाल कार्य सम्पन्न हो गया—

कहहिं परसपर भा बड़ काजू। सकल चलै कर साजहिं साजू॥

इधर श्रीभरतलालने भी विश्वासपात्र अनुचरोंको नगर सौंपकर श्रीवसिष्ठको, विप्रवृन्दको, श्रीकौसल्यादि माताओंको और श्रीरामप्रेमोन्मत्त नागरिकोंको आदरपूर्वक प्रस्थान कराकर श्रीसीतारामजीके मङ्गलमय चरणसरसिजोंका स्मरण करके श्रीरघुनाथपददर्शनार्थ प्रस्थान किया—

सौंपि नगर सुचि सेवकनि सादर सकल चलाइ।
सुमिरि राम सिय चरन तब चले भरत दोउ भाइ॥

आज श्रीभरतलालकी काननयात्राका चतुर्थ दिवस है—शृंगवेरपुर दिखायी पड़ रहा है। किंचित् दिवस पूर्व श्रीराघव भी यहाँ एक रात्रि विश्राम कर चुके हैं। श्रीनिषादराजने प्रभुकी सम्पूर्ण सेवा की थी। परंतु आज श्रीभरतका आगमन सुनकर वे ही श्रीरामसखा निषादराज श्रीभरतके लिये स्वागत-सामग्रियोंका संकलन नहीं कर रहे हैं। वे उनसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित नहीं हो रहे हैं। अपितु इन सब क्रियाओंके प्रतिकूल कटकसहित श्रीभरतका आगमन सुनकर श्रीनिषादराजको अपने प्रेमास्पद श्रीराघवके अनिष्टकी आशंका हुई और वे लगे सविषाद विचार करने—

कारन कवन भरतु बन जाहीं। है कछु कपट भाउ मन माहीं॥
जौं पै जियँ न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्ह संग कटकाई॥
जानहिं सानुज रामहि मारी। करउँ अकंटक राजु सुखारी॥

श्रीरामके वनगमनमें तो कारण था, परंतु श्रीभरतके काननगमनमें क्या कारण है? कारणरहित कार्य नहीं होता। अवश्य ही इनके मनमें कुछ कपट-भाव है। यदि श्रीभरतके मनमें कुटिल भावना न होती तो साथमें कटक लेनेकी क्या आवश्यकता थी? साथमें कटक लेना ही कुटिलताका प्रत्यक्ष प्रमाण है। अवश्य ही चौदह वर्षके वनवाससे इनको संतोष नहीं प्राप्त हो सका। वे यह समझ रहे हैं कि राज्यपथमें कंटकस्वरूप श्रीराम-लक्ष्मणको सर्वदाके लिये दूर हटाकर सानन्द राज्य-सुखका उपभोग करेंगे।

श्रीनिषादराजने केवल विचार ही नहीं किया, अपितु वे भी श्रीभरतसे समर करनेके लिये संनद्ध हो गये—

सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥

श्रीभरतके साथ प्रत्यक्ष लोहा मैं लूँगा और जीते जी गङ्गा उतरने न दूँगा।

केवल श्रीनिषादराज ही समरोद्यत नहीं हुए, अपितु उनकी समस्त सेना भी अपने स्वामीके साथ श्रीरामकार्यमें अपने प्राणोंका बलिदान करनेको कटिबद्ध हो गयी। श्रीगुहराजकी ललकार सुनकर वीर सुभटोंने रोषपूर्वक जिन शब्दोंको वदनच्युत किया है, वे शब्द कितने ओजस्वी हैं—

राम प्रताप नाथ बल तोरे। करहिं कटकु बिनु भट बिनु घोरे॥
जीवत पाउ न पाछें धरहीं। रुंड मुंडमय मेदिनि करहीं॥

नाथ ! श्रीराघवेन्द्रके प्रचण्ड प्रतापसे एवं आपके बलसे हमलोग श्रीभरतकी सेनामें एक भी योद्धा तथा एक भी अश्व जीता न छोड़ेंगे। विश्वकी कोई भी शक्ति हमलोगोंको निष्प्राण किये बिना आगे बढ़नेमें नितान्त असमर्थ होगी। हम भगवती वसुन्धराको रुण्डमुण्डसे आच्छादित कर देंगे।

देखा आपने श्रीभरतलालके प्रति गुहराज एवं उनके सुभटोंके द्वारा की गयी कुत्सित धारणाको—

यद्यपि यह ठीक है कि श्रीरामसखा निषादराज एवं उनके सम्पूर्ण सुभट श्रीरामके अनन्य प्रेमी थे। उनका प्रेम तो उनके वचनोंसे और उनकी क्रियाओंसे ही स्पष्ट है। श्रीगुहराजके कितने मार्मिक, उपदेशपूर्ण और श्रीरामभक्तिसे ओतप्रोत ये वचन हैं।

समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभंगु सरीरा॥
भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू। बड़ें भाग असि पाइअ मीचू॥
स्वामि काज करिहउँ रन रारी। जस धवलिहउँ भुवन दस चारी॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें॥
साधु समाज न जाकर लेखा। राम भगत महुँ जासु न रेखा॥
जायँ जिअत जग सो महि भारू। जननी जौबन बिटप कुठारू॥

श्रीगुहराज श्रीभरतसे समराङ्गणमें समर करके विजय-प्राप्तिका ध्यान भी मनमें नहीं लाते; वे तो यह समझते हैं कि भरतसे युद्ध करनेमें मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है। किंतु मेरी मृत्यु भाग्यवान्‌की मृत्यु होगी; क्योंकि युद्ध-भूमिमें मरनेसे वीरगति प्राप्त होती है। दूसरी बात यह है कि लोकपावनी गङ्गाके पवित्र तटपर मेरी मृत्यु होगी। तीसरे, क्षणभरमें विनष्ट हो जानेवाला यह शरीर श्रीराघवेन्द्र सरकारके कार्यमें आ जायगा। इससे अच्छा और क्या होगा? कहाँ तो श्रीरामके भ्राता भरत और कहाँ मैं नीच जन; फिर श्रीभरत नरेन्द्र भी तो हैं? बड़े भाग्यसे ऐसी मृत्यु मिलती है। मैं अपने राघव सरकार-के लिये समरभूमिमें युद्ध करूँगा और अपने यशसे चौदहों लोकोंको धवलित कर दूँगा। श्रीरघुनाथजीके निमित्त प्राणत्याग करूँगा। मेरे दोनों हाथोंमें आनन्दके मोदक हैं। अर्थात् मेरा लोक-परलोक दोनों सुधर जायगा। सज्जनोंके समाजमें जिसकी गणना न हो और श्रीराम-भक्तोंमें जिसकी रेखा न हो, वह इस जगत्‌में व्यर्थ जीता है। वह पृथ्वीपर भारस्वरूप है और उसके उत्पन्न होनेसे उसके माँका यौवन अकारण ही नष्ट हुआ। अस्तु!

श्रीगुहराजके भक्त सुभटोंकी भी कितनी भक्तिभरी उक्ति है। श्रीरामके प्रतापमें उनका कितना अटूट विश्वास है। वे पृथ्वीको रुण्ड-मुण्डमय बना देनेकी प्रतिज्ञा करते हैं, किंतु यदि उनसे पूछा जाय कि तुममें इतनी प्रचण्ड शक्ति विद्यमान है कि तुम ऐसा विकराल कार्य कर सको? तो वे कहते हैं ना भैया ना! मुझमें इतनी शक्ति कहाँ जो मैं तिनका भी उठा सकूँ? इस कार्यके सम्पन्न होनेमें तो श्रीरामचन्द्रका प्रताप ही मुख्य निमित्त होगा—

'राम प्रताप नाथ बल तोरे'

अहा! कितनी उत्कृष्ट भावना है! श्रीरामप्रतापमें कितनी अविचल श्रद्धा है!

श्रीगुहराजने श्रीभरतके प्रत्यक्ष समराङ्गणमें अपनेको उपस्थित करनेका विचार किया, परंतु शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होनेके पूर्व श्रीराघवेन्द्रका ही मङ्गलमय स्मरण करते दीख रहे हैं—

'सुमिरि राम मागेउ तुरत तरकस धनुष सनाहु'

श्रीनिषादराजके भक्त सुभटगण भी शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होनेके पूर्व कितना सुंदर स्मरण करते हैं—

'सुमिरि राम पद पंकज पनहीं'

विशेष—वीर सुभटोंने धनुष, तरकस, कवच, शिरस्त्राण, परशु, भाले, बरछे और तलवार आदि सभी युद्धोचित सामग्रियोंका संकलन किया एवं सभी शस्त्रास्त्रोंसे अपने शरीरको सुसज्जित किया, परंतु यह क्या? युद्धका एक प्रधान अस्त्र दिखायी नहीं पड़ता,

जिसके अभावमें शत्रुके प्रचण्ड आघातसे अपनेको सुरक्षित रखना असम्भव नहीं तो दु:साध्य अवश्य होता है। उस अस्त्रका नाम है 'चर्म' अर्थात् 'ढाल'। कुछ महानुभाव 'एक कुसल अति ओड़न खांडे'के 'ओड़न' शब्दको 'ढाल'के अर्थमें प्रयुक्त करते हैं। कुछ विद्वान् समालोचक यह कह दिया करते हैं कि वे सुभटगण तलवारके आघातको अवरुद्ध करनेमें इतने समर्थ थे कि उन्हें ढालकी आवश्यकता ही न थी। इसी प्रकार अनेक संतोंकी अनेकानेक विचारधाराएँ हैं। मैं सबका सम्मान करता हूँ। परंतु मेरे परमपूज्य आदरणीय श्रीमहाराजजी कहा करते थे कि सुभटोंने इस परमावश्यक अस्त्रसे अपनेको सर्वप्रथम सुसज्जित किया था। इनकी 'ढाल' बड़ी विशाल थी। जिस ढालके ऊपर विश्वके बड़े-बड़े अस्त्र टकराकर उसी भाँति निष्फल सिद्ध होते हैं, जिस भाँति पादपोन्मूलन शक्तिवाला वायुका वेग पर्वतोन्मूलनमें व्यर्थ सिद्ध होता है। वह 'ढाल' थी श्रीराघवेन्द्र सरकारके चरणसरसिजोंकी मङ्गलमयी 'पनहीं'। कितनी सुन्दर ढाल है। 'ढाल'को भी 'चर्म' कहते हैं। 'पनहीं' भी चर्मकी ही होती है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि यद्यपि श्रीनिषादराज एवं उनके वीर सुभट श्रीरामके अनन्य प्रेमी थे, परंतु विचारना तो यह है कि श्रीभरतलालके भावको उन्होंने कितना विपरीत समझा। जिन श्रीभरतके रोम-रोममें श्रीराम रम रहे थे, जिनका जीवन ही अपने श्रीरामके लिये था, जिन्हें अहर्निश अपने प्रेमास्पद श्रीरामकी ही याद रहती थी, जिन्होंने देवदुर्लभ अवधराज्यका परित्याग कर अपने श्रीराघवके लिये मुनिवेष धारण किया था, उन श्रीभरतके प्रति इनकी की गयी धारणा कितनी कुत्सित धारणा थी। यह भी ठीक है कि निषादगण-सहित निषादराज अपने श्रीरामके लिये प्राणोत्सर्ग करनेको उद्यत है; परंतु विचारना तो यह है कि क्या श्रीभरत भी उनके प्राण लेनेकी धारणा करते हैं? ध्यानसे मनन करें कि आज परिस्थिति श्रीभरतके कितनी प्रतिकूल है। आज उनके प्रेमी हृदयको वनकी रहनेवाली जाति भी कपटमय समझ रही है। परंतु श्रीभरतके लिये तो श्रीनिषाद, श्रीरामके मङ्गलमय सखा हैं। सखाकी श्रेणी समानताकी है। अतएव श्रीभरतके हृदयमें तो इनके लिये महान् आदर है।

श्रीनिषादनाथने वीरोंके सुसज्जित दलको देखकर समरवाद्य वादित करनेकी आज्ञा दे दी। वीरोंमें उमङ्ग भी था। श्रीराम-कार्यके लिये बलिदान हो जानेका उत्साह भी था। श्रीनिषादनाथकी आज्ञा भी थी। परंतु युद्ध नहीं हुआ। सम्पूर्ण वीरसेना चित्र लिखी-सी खड़ी रह गयी। आगे बढ़ भी कैसे सकती थी? इन लोगोंने श्रीराघवेन्द्रके लोकोपकारक मनोहर चरणोंमें ध्यान जो लगाया था। श्रीरामचन्द्रजी मर्यादापुरुषोत्तम हैं। उनके स्मरणके पश्चात् भी दो श्रीरामभक्तोंका पारस्परिक संग्राम कैसे हो सकता था? क्योंकि यह कार्य अमर्यादित होता। श्रीरामके प्रतापका स्मरण करके कोई श्रीराम-भक्त, श्रीरामप्राणप्रिय, श्रीरामप्रेमास्पद श्रीभरतलालके साथ विरोध-जैसा जघन्य कार्य कर भी कैसे सकता था? अतएव 'जुझाऊ ढोल' सुवादित करनेकी आज्ञा देनेके साथ-साथ श्रीनिषादनाथको शकुन-विचारकर्ताओंकी शरण लेनी पड़ी।

एतना कहत छींक भइ बाँए। कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाए॥

सगुन विचारकर्ताने छींकका फल बताया—

बूढ़ु एकु कह सगुन बिचारी। भरतहि मिलिअ न होइहि रारी॥
रामहि भरतु मनावन जाहीं। सगुन कहइ अस बिग्रहु नाहीं॥

एक बूढ़ेने शकुन विचारकर कहा कि भरतजीसे मिलाप होगा, उनसे मिलिये, युद्ध न होगा। श्रीभरत श्रीरामचन्द्रको मनाने जाते हैं। शकुन ऐसा कह रहा है, अर्थात् हम अपने मनसे नहीं कहते, शकुन ही ऐसा बता रहा है कि श्रीभरतके मनमें विरोधभाव नहीं है।

शकुनफलश्रवणानन्तर भी परीक्षक गुहराजकी आशंका दूर न हुई। उन्होंने प्रेममय श्रीभरतलालको निष्कपट न माना। वे परीक्षा लेनेकी भावनाका परित्याग न कर सके। उन्होंने अपने वीरोंको सम्बोधित करते हुए अपनी भावनाको व्यक्त किया—

गहहु घाट भट समिटि सब लेउँ मरम मिलि जाइ।
बूझि मित्र अरि मध्य गति तस तब करिहउँ आइ॥

सबलोग सिमिटकर घाटको रोकनेका ठाट ठटो। मैं जाकर श्रीभरतसे मिलकर उनका भेद लूँ कि श्रीराघवेन्द्रके प्रति इनके मनमें विरोधभाव है या मित्रभाव है अथवा समानभाव है। श्रीनिषादने परीक्षण-सामग्रियोंका संकलन किया और विधिवत् संकलन किया। उनकी परीक्षण-सामग्रियाँ थीं भेंट-सामग्री। उन्होंने तीन प्रकारकी भेंटें एकत्रित कीं। ये तीनों प्रकारकी सामग्रियाँ भावपूर्ण सामग्रियाँ थीं और क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी द्योतिका थीं। पाठक सामग्रियोंपर ध्यान दें—

अस कहि भेंट सँजोवन लागे। कंद मूल फल खग मृग मागे॥
मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने॥

श्रीनिषादराज भेंटका साज सजाने लगे। कन्द, मूल, फल, पक्षी और मृग मँगाये और कहाँर मोटी तथा पुरानी पहिना मछलियोंके भार भर-भरकर लाये।

विशेष—श्रीनिषादनाथ गुह भी बड़े अच्छे राज-नीतिज्ञ थे। मित्र, शत्रु, मध्यगति-परीक्षणकी कितनी विचित्र युक्ति है? भेंटसे राजाके प्रति अपने कर्त्तव्यका निर्वाह भी हुआ; क्योंकि 'रिक्तपाणिर्न पश्येत राजानं भिषजं गुरुम्' और उधर राजनीतिकी चाल भी चली गयी कि यदि श्रीरामके प्रति मित्रभावना होगी तो सत्त्वगुणी पदार्थ कंद-मूल-फल स्वीकार करेंगे; क्योंकि सत्त्वगुणी प्रकृतिवाले व्यक्ति कन्द-मूल-फल ही रुचिपूर्वक ग्रहण करते हैं। सम्भवतः मुनिसमूह कंद-मूल-फलसे प्रेम इसीलिये करते हैं। यदि अरिभावना होगी तो रजोगुण पदार्थ खग-मृग स्वीकार करेंगे; क्योंकि रजोगुणी प्रकृतिवाले व्यक्तियोंका खग-मृगकी ओर झुकाव स्वाभाविक ही है। इसीलिये राजाओंके राजोद्यानमें खग-मृगकी बहुलता रहती है। यदि उदासीनता होगी तो तमोगुणी पदार्थ मीन-पीन-पाठीन पुराने स्वीकार करेंगे; क्योंकि घोर तामसिकोंका आहार है 'मीन पीन पाठीन पुराने।' सच्छास्त्रोंने मत्स्य-मांसको गर्हित बताया है। 'मत्स्यादः सर्वमांसादः।' अस्तु—

श्रीनिषादनाथने मिलन-वस्तुओंको सजाकर मिलनेके लिये प्रस्थान किया तथा श्रीवसिष्ठको देखकर दूरसे ही शिष्टाचारपूर्वक दण्ड-प्रणाम करके आशीर्वचन प्राप्त किये।

आइये श्रीभरतलालकी अनुरागमयी भावनाकी एक झाँकी करें।

श्रीवसिष्ठने श्रीभरतलालको समझाकर कहा कि यह उपस्थित हुआ व्यक्ति श्रीरामसखा गुह है। 'रामसखा' इस शब्दको सुनते ही श्रीभरत पुलकित हो उठे। उन्होंने रथका परित्याग कर दिया और प्रेममें उमँगते हुए निषादकी ओर चल पड़े—

रामसखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥

श्रीनिषादको दण्डवत् करते देखकर श्रीभरतने उठाकर उनको हृदयसे लगा लिया, मानो श्रीलक्ष्मण मिल गये हों। हृदयमें प्रेम अँटता नहीं—

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥

श्रीभरतलालकी भावनासे भावित होकर भूतलकी तो बात ही क्या अन्तरिक्ष भी आनन्दमय हो गया। देवगण श्रीनिषादके भाग्यकी सराहना करके पुष्प-वृष्टि करने लगे—

धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला॥

जनसमुदाय ईर्ष्यापूर्वक श्रीभरत-प्रीति-रीतिकी प्रशंसा कर रहा है—

भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥

श्रीभरतके निष्कपट प्रेमालिङ्गनको प्राप्तकर श्री-निषादराज प्रेममय हो गये। क्यों न होते? प्रेमीका मिलन होता ही ऐसा है। तभी तो प्रेमियोंसे मिलनेके लिये प्रभु भी उतावले रहते हैं। श्रीनिषाद श्रीभरत-मिलनसे तो केवल प्रेममय ही हुए थे, किंतु भरतकी अनुरागसानी वाणी सुनकर तो भूल गये अपने-आपको एवं संकलन की हुई परीक्षण-सामग्रियोंके अर्पित करनेकी सुधिको—

रामसखहि मिलि भरत सप्रेमा। पूँछी कुसल सुमंगल खेमा॥
देखि भरत कर सीलु सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥

धन्य है श्रीभरतलालकी प्रेममयी वाणी एवं भावनाको तथा उनके सौशील्यको। जिसके कारण श्रीभरतको कपटी एवं कुटिल समझकर परीक्षा लेनेकी भावनासे आये हुए निषाद भी श्रीभरतलालकी शील, स्नेह और त्यागमयी त्रिवेणीमें डूब गये।

आपके अभाव और अधूरापन

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

'प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥'

अर्थात् 'ब्रह्माजीका स्वभाव सब गुणोंको एक ही स्थानमें एकत्र करनेके विरुद्ध है—वे कहीं कुछ रचते हैं तो कहीं कुछ।'

आपके जीवनमें अतृप्ति, अभाव एवं असंतोष उत्पन्न होनेका एक कारण यह है कि आप अपनी स्थिति और जीवनको, अपने गुण या अभावोंको दूसरोंसे विशेषत: अपनेसे अच्छी सामाजिक और आर्थिक स्थिति एवं अधिक योग्यतावालोंसे तथा हैसियतमें उच्च पद पानेवालोंसे तुलना करते हैं।

आप दूसरोंके समान उच्च स्थिति, सुन्दर वस्तुएँ और नाना समृद्धियाँ तो ले नहीं पाते, उलटे अपनेको तुच्छ, निर्बल, दीन-हीन समझने लगते हैं। अपनी अपेक्षा उच्च स्थिति, बड़े ओहदे और समृद्धिवालोंसे तुलना करनेपर हममें ईर्ष्याभाव उत्पन्न होता है। हम उनकी सुन्दर वस्तुएँ, उन्नत स्थिति और जीवनकी सुविधाएँ देखकर ईर्ष्याकी अग्निमें निरन्तर दग्ध होते रहते हैं।

आपका मन चुपचाप आपसे कहा करता है, 'हाय! हम न हुए बड़े-बड़े मकानोंके मालिक! जमीनों, जायदादोंके अधिपति, मोटरकार और रेडियोके स्वामी। हे परमेश्वर! इस दुनियामें एक-से-एक बड़ा आदमी पड़ा है, किंतु क्या हमारे भाग्यमें यही गरीबी, यही बेबसी और अभाव लिखा है। हमारा यह पड़ोसी मजेमें रोज मेवा-मिष्टान्न उड़ाता है, फलोंके ढेर लगे रहते हैं; इसके यहाँ एक-से-एक उत्तम वस्त्र और फैशनेबल वस्तुएँ हैं और इसकी पत्नी कितनी सुन्दर है। हमारे भाग्यमें फूहड़ नारी ही लिखी है। हमारे पास ठीक तरह लज्जा ढकनेतकको वस्त्र नहीं हैं, दूसरा दर्जनों कपड़ोंको संदूकोंमें सड़ा गला रहा है; उफ् हमारी कैसी विषम स्थिति है। हमारे पड़ोसीके दो पुत्र हैं, उधर हमारे तीन-तीन पुत्रियाँ हैं और सो भी निम्न मानसिक गुणोंवाली। हमारे चारों ओर वैभवका अमित भण्डार बिखरा दीखता है, किंतु हमारे भाग्यमें टूटा मकान और रूखी-सूखी रोटियाँ ही बदी हैं। काश! हम भी ऐसे ही ऊँचे पद, ऐसे ही समृद्धिके स्वामी, ऐसे ही स्वस्थ, सर्वगुणसम्पन्न, अमीर, प्रतिष्ठित और वैभवशाली होते।'

आपके इन उद्गारोंमें ईर्ष्या बोल रही है। सावधान! आप अपनी निम्न स्थितिको—जो आपके वशकी बात नहीं है—दूसरोंकी अच्छी स्थितिसे मिलाकर हीनत्वकी भावनाका अनुभव कर रहे हैं। सम्भव है, उनकी समृद्धिका कोई ऐसा गुप्त कारण हो, जो आपके वशकी

बात नहीं है। अनेक गुप्त कारणोंसे चली आती हुई उस समुन्नत स्थितिसे तुलनामें आप अपनेको साधारण पाकर दुखी हो रहे हैं। तुलना करनेमें आप उनकी केवल अच्छाई-ही-अच्छाईको तथा अपने जीवनकी बुराई-ही-बुराईको देख रहे हैं। आपका निर्णय एकपक्षीय है।

अभाव, बुराइयाँ और निर्बलताएँ किसमें नहीं होतीं? कौन हर दृष्टिसे पूर्ण है? ये कमजोरियाँ मनुष्यमात्रमें सर्वत्र हैं। किसीमें शारीरिक, किसीमें नैतिक तो किसीमें मानसिक या बौद्धिक निर्बलताएँ हैं। आपने अपनी अच्छाइयों, उत्तमताओं और गुणोंको छोड़ अपने विषयमें तुच्छ तथा उसके मुकाबलेमें दूसरेके साधारण-से गुणोंको बढ़ा-चढ़ाकर देख लिया है।

दूसरेका धन आपको बढ़-चढ़कर दीखता है तो अपनी गरीबीमें अभाव-ही-अभाव नजर आता है। दूसरेके पैसोंमें भी आपको अशर्फियाँ दीखती हैं, तो अपने रुपयोंमें भी पाइयाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं।

दूसरेके साधारण स्वास्थ्यमें भी आपको पहलवान दीखता है। दूसरेके बच्चे आपको बल, पराक्रम और शक्तिसे भरे-पूरे नजर आते हैं तो अपने कुशाग्रबुद्धि बच्चे मन्दबुद्धि दीखते हैं। उनमें कोई बुद्धि, सौन्दर्य अथवा विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती।

दूसरेकी साधारण-सी पत्नीमें आप उच्चकोटिका सौन्दर्य, नवीनता, अपूर्व आकर्षण देखकर मुग्ध हो उठते हैं, तो अपनी शील-गुणसम्पन्न, सती-साध्वी धर्मपत्नीमें फूहड़पन, अशिक्षा और मूर्खता देखते हैं। उसके द्वारा बनाया हुआ भोजन, सफाई, शिष्टाचार, बोलचालमें आपको कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती।

अपना पेशा आपको सबसे बुरा, नीरस और श्रमसाध्य प्रतीत होता है; किंतु दूसरोंके कठोर पेशे भी बहुत अच्छे, आमदनीसे परिपूर्ण और आरामदायक लगते हैं। हम चाहते हैं कि दूसरों-जैसे हम भी सुख और सुविधाओंसे पूर्ण रहें। हम संगीतज्ञके मधुर संगीतपर विमुग्ध हो उठते हैं और स्वयं चाहते हैं वैसा ही गाया करें, जब कि उनके द्वारा उठाये हुए श्रम और बलिदानका हमें कोई ज्ञान नहीं होता।

संक्षेपमें यों कहें कि दूसरा व्यक्ति, उसका जीवन, परिवार, साधन, स्वास्थ्य, बाल-बच्चे आदि सभी हमें आकर्षक प्रतीत होते हैं। उसका जीवन हमें बाहरसे सर्वगुणविभूषित, सर्वाङ्ग-सुन्दर प्रतीत होता है जब कि हमें अपना सब कुछ अति साधारण, तुच्छ और बेकार-सा प्रतीत होता है। वास्तवमें ऐसा नहीं है। अपने विषयमें, अपने परिवारके प्रति आप कितना बड़ा अत्याचार कर रहे हैं—यह आप नहीं जानते।

हम दूसरोंके जीवनके बाह्य पहलूमात्रको ही देखते हैं। हमारा निर्णय एकपक्षीय होता है। हम केवल ऊपरी निगाहसे कुछ तत्त्वोंको देखकर दूसरोंके विषयमें बहुत ऊँची-ऊँची भ्रमात्मक कल्पनाएँ करने लगते हैं। हमारी आँखें दूसरोंकी खूबियोंमें मस्त हो जाती हैं। हमारी त्रुटि यह है कि हमारी वृत्ति बहिर्मुखी है। हम अपने जीवन और साधनोंको दूसरोंके मापदण्डोंसे नापते और दुखी होते रहते हैं। अभाव और ईर्ष्याकी अग्नियोंमें निरन्तर दग्ध होते रहते हैं।

तुलनात्मक दृष्टिसे उत्पन्न होनेवाले दुःख तथा चिन्तासे मुक्त होनेका एक उपाय पुराने शास्त्रकारोंने इस प्रकार बतलाया है—

'प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः।'

अर्थात् 'ब्रह्माजीका स्वभाव सब गुणोंको एक ही स्थानमें एकत्र करनेके विरुद्ध है—वे कहीं कुछ रचते हैं तो कहीं कुछ।'

वास्तवमें हर दृष्टिसे पूर्ण संसारमें कोई भी नहीं है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य सभीमें एक सुन्दरता या-

गुण हैं, तो कई अवगुण भी हैं। मोर कितना सुन्दर पक्षी है। उसके सुन्दर रंगोंको देखकर मन अनायास ही प्रसन्न हो उठता है, किंतु तनिक उसके पाँव देखिये, कितने गंदे और कुरूप होते हैं। मुर्गेके सिरकी कलँगी कितनी रंगीन और शानदार प्रतीत होती है, पर कैसा घृणित है उसका भोजन। वह अभक्ष्य पदार्थ खाता है। बारहसिंगेके सींग कितने अच्छे मालूम होते हैं, पर वह कैसा दुर्बल होता है। सिंहका चर्म खूबसूरत, धारियाँ मुलायम देखने योग्य होती हैं, पर उसका खूँखारपन हिंसक दुष्प्रवृत्ति भयावह है। हाथीकी चाल शानदार है, पर उसका आलस्य निन्दनीय है। निष्कर्ष यह कि संसारके हर जानवरमें (और इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यमें भी) कोई-न-कोई अभाव है। एक अच्छाई है तो दो बुराइयाँ भी हैं। पूर्णरूपसे सुन्दर और उपयोगी कोई नहीं है। परंतु इन अभावोंके बावजूद अपने विशिष्ट गुणके कारण सब पशु-पक्षी प्रसन्न रहते हैं और अपने गुणप्रदर्शनसे दूसरोंके नैराश्यको दूर करते हैं। खेलते-कूदते, मधुर संगीतका उच्चारण करते और मस्त रहते हैं।

मानव-जगत्में भी प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी अभावसे पूर्ण है। किसीके पास स्वस्थ शरीर है तो सौन्दर्य नहीं है। सौन्दर्य है तो शक्ति नहीं है। शक्ति है तो चरित्र नहीं है। चरित्र है तो खाने-पीनेके लिये पैसा नहीं है। सामाजिक प्रतिष्ठा या उच्च पद नहीं है। कोई शरीरसे स्वस्थ है तो अनेक पारिवारिक अड़चनोंमें डूबा हुआ है। किसीको बच्चों-की शिक्षा, विवाह आदिकी चिन्ता है तो किसीके बाल-बच्चे हैं ही नहीं। किसीको सौ-सौ बीमारियाँ लगी हुई हैं। कोई समाजमें निम्न वर्णमें पड़ा सवर्णोंसे ईर्ष्या कर रहा है। कोई नौकरीके लिये परेशान है तो किसीका व्यापार नहीं चल रहा है। किसीमें अच्छी स्थिति होते हुए भी बचत नहीं है, समृद्धि नहीं है। कोई मादक द्रव्योंके मादक संसारमें सुखके लिये भटक रहा है। जितने मनुष्य हैं, उतने ही उनके अभाव हैं। प्रत्येक व्यक्तिमें कहीं-न-कहीं अधूरापन है। अपूर्णता है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो सामाजिक, शारीरिक, आर्थिक, पारिवारिक या आध्यात्मिक सभी दृष्टियोंसे सर्वगुणसम्पन्न हो, चिन्तामुक्त हो, सर्वोत्तम स्थितिमें हो या हमेशा प्रतिष्ठित रहा हो।

जीवनका पथ समतल भूमि नहीं है। कहीं उसमें सपाट भूमि है तो कहीं कंकड़-पत्थर, काँटे बिखरे हुए हैं; कहीं पुष्पोंसे युक्त सुन्दर सुगन्धित हरे-भरे वृक्ष हैं तो कहीं काँटोंसे भरे बीहड़ जंगल भी हैं। कहीं कठिनाइयोंके दुर्वह पर्वत हैं तो कहीं सुख-सुविधा-प्रतिष्ठाके सुन्दर रमणीक दृश्य भी हैं।

अपने अभावोंको ही देखते रहना और अपनी दुर्दशापर रोना-कल्पना, गिरी हुई स्थितिपर कुढ़ना, दोष देना अपनी उन्नतिमें बाधा उपस्थित करना है। अपनी दुर्बलता देखनेसे दुर्बलता और दोषोंकी ही वृद्धि होती है। अभाव, दुःख, कमजोरी, गरीबीके कुविचारोंसे वैसी ही दुःखदायक विषम स्थिति उत्पन्न होती है। अपना सत्-चित्-आनन्दस्वरूप—आत्मरूप—ही देखना न्याय है।

ईश्वरको धन्यवाद दीजिये कि आपके पास स्वास्थ्य है, शक्ति है, सामर्थ्य है, रूप और गुण है। निश्चय जानिये, आपकी योग्यताएँ बहुत हैं। केवल उनपर आलस्य, कुविचार और अज्ञानका गहरा पर्दा पड़ा हुआ है। आपको ऊँचा उठकर सद्विचार, सद्ग्रन्थावलोकन, शुभचिन्तन और दृढ़ संकल्पद्वारा अपनी गुप्त शक्तियोंको पहचानना है, विकसित करना है। आप अपने सद्गुणों, सत्प्रवृत्तियोंको देखिये और उसी दिशामें अपना विकास कीजिये।

अधूरापन, अभाव तथा अशान्ति दूर करनेके लिये

आप अपनेसे नीचेवालोंकी स्थितिसे अपनी तुलना कीजिये । उनसे तुलना करनेपर आपको अपनी शक्तियों, सुविधाओं और अच्छाइयोंका ज्ञान हो सकता है। आपके भाग्यमें उच्चतम शक्तियाँ आयी हैं । इनके लिये परमपिता परमेश्वरको धन्यवाद देते हुए आगे बढ़ने, विकसित होनेके लिये निरन्तर संघर्ष कीजिये ।

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥

अर्थात् 'उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता—इन छः दोषोंका त्याग कर देना चाहिये ।'

हिंदू-संस्कृति और समाजके आचार

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

आहार

आहार-शुद्धिपर हिंदू-समाजने बहुत अधिक ध्यान दिया है । आहारमें स्वरूप-दोष, संसर्ग-दोष और भाव-दोष—ये तीन प्रकारके दोष माने गये हैं। इन तीनों दोषोंसे रहित आहार ही ग्राह्य है। आहार-शुद्धिसे ही सत्त्वशुद्धि होती है और सत्व-शुद्धिसे अन्तर्मुखता प्राप्त होती है, अतएव अन्तर्मुखता जिस समाजका लक्ष्य है, उसका पूरा ध्यान आहार-शुद्धिपर हो, यह स्वाभाविक है ।

आहार सात्त्विक होना चाहिये । कन्द-मूल-फल और गोरस तथा मधु—ये पूर्ण सात्त्विक आहार हैं। अन्न राजस आहार है और मांसादि तामस । समष्टिरूपसे यह भेद होनेपर फिर इनमेंसे प्रत्येकमें भी सात्त्विक, राजस, तामस-भेद होते हैं। आदि युगमें मनुष्यका आहार पूर्ण सात्त्विक था। द्वापरके अन्ततक राजस और तामसमेंसे भी उनका सात्त्विक भाग ही ग्रहण किया जाता था। जैसे अन्नमें गेहूँ आदि सात्त्विक हैं, परंतु बासी, कटु, अत्युष्ण आदि होनेपर वे तामस या राजस हो जाते हैं। आदर्श तो यह है कि सात्त्विक आहारपर ही रहा जाय; परंतु यदि ऐसा न हो सके तो राजसके भी सात्त्विक-रूपसे ही काम चलाना चाहिये। अन्न, फल प्रभृति भी गंदे स्थानों और गंदे जलसे उत्पन्न हों तो उन्हें शास्त्रने त्याज्य बतलाया है। आज डाक्टर स्वीकार करते हैं कि गंदे नालेके जलसे सींचे वृक्षोंके फल तथा शाक और गंदी खादसे उत्पन्न अन्न अनेक बीमारियोंके कारण होते हैं। इतनेपर भी आज वैज्ञानिक खादोंकी प्रशंसा होती है। गंदगीको खादके उपयोगमें लेनेकी योजनाएँ बनती हैं। उस गंदगीसे उत्पन्न अन्नादिका भोजन करके मनुष्य चाहता है कि वह स्वस्थ रहे। उसका मन पवित्र रहे। देखकर भी वह नहीं देखता कि अन्न, फल, शाकमें वे तत्त्व आये बिना रह नहीं सकते, जो उस भूमिमें हैं; जिसमें वह अन्न उत्पन्न हुआ है । आयुर्वेदके विद्वान् जानते हैं कि अयुक्त स्थलपर उत्पन्न ओषधि गुणहीन होती है और कभी-कभी विपरीत परिणाम भी प्रकट कर देती है ।

कनेरके श्वेत फूलोंको डंठलसहित तोड़ लीजिये । उनके डंठलको ऐसे पात्रमें डुबो दीजिये, जिसमें लाल या नीला रंग जलमें मिला हो । कुछ घंटोंमें पुष्पोंपर वह रंग स्पष्ट दीखने लगेगा । यह बात सिद्ध करती है कि भूमिके सब तत्त्व अन्नमें बदल नहीं जाते। कुछ उसमें पहुँचते ही हैं। आजकल लोग मधुमक्खियाँ पालते हैं। आसपास शीरेके पीपे रख देते हैं। मक्खियाँ वह शीरा ले जाकर छत्तेमें भर देती हैं। जैसे इस प्रकारके छत्तेका मधु शुद्ध मधु नहीं है और इसीलिये वैद्यक ग्रन्थोंमें नगरोंमें लगा तथा जहाँ हलवाइयोंकी दूकानें हों वहाँ लगा मधु गुणकारी नहीं कहा गया है, वैसे ही कृत्रिम तथा गंदी खादोंसे उत्पन्न फल तथा अन्न भी शुद्ध नहीं हैं। वे शारीरिक रोग और मानसिक विकृति उत्पन्न करते हैं ।

आहारमें दूसरा दोष संसर्गज होता है । यह तीन प्रकारका है—सजातीय, विजातीय, और स्वगत । एक पदार्थ अमुक समयके पश्चात् दूषित हो जायगा, यह अमुक समयमें लेनेसे हानि करेगा, उसका स्वगत विकार है । अमुक पात्रमें बनाने या रखनेसे, अमुक पदार्थके साथ अमुकके मेलसे, अमुक पदार्थ अमुकके पास रखनेसे हानिकर हो जायगा, यह

सजातीय भेद है। अमुक व्यक्ति या भोज्य पदार्थोंसे भिन्न वस्तुके स्पर्शसे जो विकार आते हैं, वे विजातीय विकार हैं। आज डाक्टर कीटाणु-विज्ञानको लेकर स्वच्छतापर अत्यन्त बल देते हैं। बात-बातमें गर्म पानी और साबुनसे हाथ धोना उन्हें आवश्यक प्रतीत होता है; परंतु भारतीयके बार-बार हाथ धोनेका उपहास किया जाता है। कीटाणु तो समझमें आते हैं और स्वच्छता आवश्यक जान पड़ती है; परंतु प्रत्येक पदार्थ एवं व्यक्तिसे निरन्तर परमाणु निकलते हैं एवं समीपस्थ तथा संसर्गमें आनेवाली वस्तुओंमें प्रवेश करते हैं, यह बात स्मरण नहीं होती। इन परमाणुओंमें उस पदार्थ या व्यक्तिके शरीरगत एवं विचारगत सब गुण-दोष होते हैं, यह बात समझमें आ जाय तो हिंदूकी पवित्रता तथा स्पृश्यता-अस्पृश्यताका रहस्य समझनेमें कठिनाई नहीं होगी।

भोज्य-पदार्थमें एक दोष भावका होता है। सब जानते हैं कि यदि भोजनके समय भोजनके प्रति रुचि न होकर घृणा हो जाय तो उसका पाचन ठीक नहीं होता। यह बात अपने-तक ही सीमित नहीं है। दूसरेकी भावना भी यदि हमारा भोजन देखकर खराब होगी तो भोजन हमें अनुकूल फल नहीं देगा। उससे हानि हो सकती है। अतएव भोजन एकान्तमें करनेका विधान है और ऐसे पदार्थ त्याज्य माने गये हैं जो अपनी आकृति आदिके कारण कोई अयुक्त भाव उत्पन्न करते हैं।

आहारमें एक बात और भी परम आवश्यक मानी गयी है, वह है द्रव्य-शुद्धि। अन्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त किया हुआ आहार मन और बुद्धिको बिगाड़ता तथा वृत्तिको सर्वथा बहिर्मुख कर देता है।

जहाँतक भोजनोंकी विविधताका प्रश्न है षड्रस एवं चतुर्विध भोजन (चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय) मेंसे प्रत्येकमें अनेक प्रकार प्रचलित थे। छप्पन प्रकारके व्यंजन तो इस देशमें प्रसिद्ध ही हैं; परंतु हिंदू-समाजमें यह सब विस्तार जिह्वाकी तृप्तिके लिये विहित नहीं है। वानप्रस्थ तो वन्य कन्द, मूल तथा मुन्यन्नोंपर निर्वाह करे, ऐसी आज्ञा है। संन्यासी जहाँतक हो सके वानप्रस्थके यहाँसे भिक्षा करे और गृहस्थके यहाँसे भिक्षा लेना हो तो सबके भोजन कर चुकनेपर तीसरे प्रहरके प्रारम्भमें भिक्षाटन करने जाय। ब्रह्मचारी कच्चे अन्नकी भिक्षा ले और उसे गुरुदेवके सम्मुख रख दे। गुरु जो उसके लिये उपयुक्त समझकर उसे दें, उससे क्षुधा-शान्ति कर ले। तीन आश्रम तो ये तपस्याके आश्रम हुए और ब्राह्मण गृहस्थ वनवासी थे ही। गृहस्थके लिये कहा गया है कि यदि वह केवल अपने लिये भोजन बनाता है तो पाप खाता है। अतिथिके लिये, आराध्यको निवेदित करनेके लिये वह विविध व्यंजन प्रस्तुत करता है। बलिवैश्वदेव करके अतिथि, ब्राह्मण, सेवकादिको देकर जो बचे, वह यज्ञशेष है। वही उसका भाग है। जिह्वाकी तृप्तिको उसमें अवकाश नहीं।

स्वागत-सत्कार

शिष्टाचारकी बात तो पृथक् ही वर्णन करनेयोग्य है; परंतु स्वागत-सत्कारमें और भी बहुत-सी बातें हैं। हिंदू-समाजमें अतिथि तो आराध्यका रूप है। उससे जाति, कुल, उद्देश्य पूछनेकी आज्ञा नहीं। घरपर अतिथि आवे तो गृहस्थका सौभाग्य। उसे मानना चाहिये कि स्वयं उसके आराध्य पधारे हैं। इसी दृष्टिसे सब सेवा-सत्कार उसे करना चाहिये। हिंदू-समाजमें सुगन्धित अर्घ्य देने और चरण धुलवाने या धोनेकी अत्यन्त सुरुचिपूर्ण, स्वास्थ्यप्रद प्रथा थी। दुर्भाग्यसे अर्घ्यका लोप हो गया।

अतिथिके समान ही ब्राह्मण भी पूज्य होते हैं। द्वापरतक कहीं किसीके घरमें जानेके लिये ब्राह्मणको पूछना नहीं पड़ता था। राजाके अन्तःपुरसे झोंपड़ीतक कोई ब्राह्मण चाहे जब अबाध जा सकता था।

किसी अत्यन्त सम्मानित व्यक्ति या राजाके निकलनेपर, उत्सवोंके समय घरोंके ऊपरसे पुष्प, लाजा (धानकी खीलें) बालिकाएँ और स्त्रियाँ डालती थीं। द्वारोंपर मङ्गल कलश और प्रदीप सजाये जाते थे। दूर्वा, अक्षत, केसर तथा दधिके द्वारा एक दूसरेका अभिषेक करते थे। मार्गपर वस्त्र (पाँवडे) बिछाये जाते थे, उस सम्मान्य जनके आनेके लिये।

हाथी, घोड़े ये भारतीय स्वागत-सत्कारमें भाग लेते। वृषभ और गोमाता सदासे हिंदुओंकी पूज्य हैं और नाना प्रकारके भेरी, नफीरी, वंशी आदि वाद्य स्वागतसमारोहमें प्रयुक्त होनेपर भी हमारा मङ्गल-वाद्य शङ्ख ही है। शङ्ख हिंदू-समाज और हिंदुस्थानका राष्ट्रिय वाद्य है। वह मङ्गलवाद्य एवं युद्धवाद्य भी है।

मनोरञ्जन

किसी भी जातिकी आन्तरिक प्रवृत्ति उसके मनोरञ्जनके साधनोंमें स्पष्ट होती है। हिंदू-समाजके मनोरञ्जनके साधनोंमें एक ओर ललित कलाएँ हैं। उन चौसठ कलाओं-

में से अब बहुतोंका लोप हो गया है। कुछके अपूर्णांशको लेकर ही आजके महान् कलाकार धन्य हो जाते हैं। इनमें काव्य, चित्र, नृत्य, गान, वाद्य प्रभृति सभी कलाएँ हैं। प्राचीन समयमें ये सब कलाएँ आदरकी दृष्टिसे देखी जाती थीं। इन सबमें मनुष्यको अन्तर्मुख करनेकी प्रेरणा ही कलाकी सार्थकता मानी जाती थी। इनके अतिरिक्त अनेक साधन मनोरञ्जनके थे, जो अपने वर्णधर्मकी शिक्षामें सहायता देते थे। आजका प्रसिद्ध बौद्धिक खेल शतरंज पुराने 'शत्रुंजय' क्रीडाका ही एक सरल रूप है। प्राचीन ग्रन्थोंमें इस क्रीड़ाका जो वर्णन है, वह आज समझना भी कठिन है।

कन्दुक-क्रीड़ा—गेंद खेलना, यह खेल पहले बच्चों और स्त्रियोंके योग्य ही माना जाता था। इसमें जितना साधारण शारीरिक एवं बौद्धिक श्रम होता है, वह शिशुओं या नारियोंके लिये तो ठीक है, पर शक्तिशाली पुरुषका व्यायाम उससे होता नहीं। आजकलके कोमलकाय, हीनशक्ति पुरुषों-की बात मैं नहीं कहता। हिंदू-समाजका जो पुरुष खुली भूमि-पर केहरीको खाली हाथों मल्लयुद्धके लिये ललकार सकता था, उसकी क्रीड़ा मल्लयुद्ध या तैरना या आखेट ही हो सकती थी। राजकुमार घोड़ोंपरसे एक प्रकारकी कन्दुक-क्रीड़ा करते थे। उसका जो वर्णन है, उससे जान पड़ता है कि वह वर्तमान 'पोलो' से मिलता-जुलता कोई खेल होगा।

मनोरञ्जनकी दूसरी विधि होती है समाजके सामूहिक समारोह। हिंदू-समाज इस सम्बन्धमें आज भी विश्वमें सबसे आगे है। यहाँ 'सात वार नौ त्योहार' प्रसिद्ध कहावत है। इन सब पर्वों तथा उत्सवोंमें पूजा, पाठ, जप, देवयात्राहीका विधान होता है। जीवनका प्रत्येक अंश यदि अन्तर्मुख होनेके प्रयत्नसे सार्थक न हो, तो संस्कृतिका उद्देश्य कैसे पूर्ण होगा।

हिंदू-संस्कृतिने कभी शरीरको महत्त्व नहीं दिया और कभी मृत्युको जीवनसे अधिक महत्त्वशाली नहीं माना। हमारे यहाँ शरीरका मोह त्याज्य है, हेय है। अतएव हमारे उत्सवों, प्रथाओंमें ऐसा कोई भाव नहीं, जिससे शरीर या मृत्युको महत्ता मिले। जो असुर शरीरको महत्त्व देनेवाले थे, वे हमारे शास्त्रोंमें तिरस्कृत हुए। इसीलिये हमारे यहाँ आत्मकथा, अनुपयोगी जीवनियाँ, अभिनन्दन-ग्रन्थ लिखने-लिखानेकी परिपाटी कभी नहीं थी। मृत पुरुषोंकी न तो समाधियाँ बनायी जाती थीं, न स्मारक। मरण-तिथि मनाना तो मृत्युको जीवनपर महत्त्व देना है। हिंदू-समाजने जयन्तियाँ, जन्मतिथि तथा विजय-दिवस मनाना श्रेयस्कर माना है।

पाश्चात्त्य संस्कृति शरीरको महत्त्व देती है। अतः मृत्यु वहाँ बहुत बड़ी घटना है। शरीरको सुरक्षित रखनेकी वृत्ति ही कब्र, समाधि आदि बनवाती है और आगे फिर उसी वृत्तिसे प्रेरित स्मारक बनते हैं। आत्मकथा या जीवनी इसी वृत्तिका दूसरा रूप है। इसी प्रकार अभिनन्दन-ग्रन्थ तथा अनेक प्रणालियाँ पाश्चात्त्य देशोंकी अब भारतीय समाज स्वीकार करता जा रहा है। भगवान् बुद्धके समयमें ही समाधि बनने लगी थी। हिंदू-समाजपर यह आक्षेप भी किया जाता है कि हम महान् व्यक्तियोंका उपयुक्त आदर करना नहीं जानते और इतिहास नहीं रखते। प्रश्न तो यह है कि कोई व्यक्ति चाहे जितना महान् हो, उसके प्रति सच्चा आदर क्या है? उसके जीवनवृत्तको गाना, उसकी मूर्तियाँ स्थापित करना या उसने जिस सत्य, मङ्गल-तत्त्वका साक्षात्कार किया है, उसे अपना लेना? लेनिनका शरीर रूसमें सुरक्षित है; पर उसके सिद्धान्त? भारतमें महात्मा गान्धीजीके प्रति आदर बहुत किया जाता है, पर उनके अनुयायी कितना उनके आदर्शका पालन कर रहे हैं?

हिंदू-समाजकी मान्यता है कि शरीर नश्वर है। उसका स्मरण कोई अर्थ नहीं रखता। ध्यान एवं चिन्तनयोग्य तो भगवान्के नित्य दिव्य शरीर और उनके अवतार-चरित हैं। भगवान्के भक्तोंका ध्यान तथा उनके चरित भी हृदयको पावन करते हैं। इनके अतिरिक्त व्यक्ति अपने या दूसरेके शरीरको महत्ता दे, यह वृत्ति बहिर्मुखताको उत्तेजित करती है। महान् व्यक्ति कैसे रहते थे, क्या खाते थे, कहाँ जन्मे, यह सब तो उनके नश्वर शरीरको महत्ता देना है। अवश्य ही उनके जीवनमें जो घटना हमारे लिये कल्याणप्रद हो, शिक्षा देती हो, वह सुरक्षित रखनी चाहिये। उन महापुरुषोंने जिस तथ्यको समाजके लिये अर्पित किया है, वही उनका शाश्वत शरीर है। वही आदरणीय है। हिंदू-समाज चाहे बाणभट्ट, वररुचि, वाराहमिहिर, कालिदास, पतञ्जलि, कणाद, गौतम आदिके शारीरिक जीवनको न जाने, परंतु हमारे हृदयोंमें वे चिरजीवी हैं। उनके मङ्गलप्रयत्नोंको जिन आपत्तियोंमें जितनी कठिनाइयोंसे रक्षित रक्खा गया है, वह हमारी श्रद्धा प्रकट करनेके लिये पर्याप्त होना चाहिये। कालके सहस्रों युगोंके विस्तारमें दूसरे स्मरण स्थिर रखने

सम्भव है क्या ! शरीर नाशवान् है तो उसके स्मारक नाशवान् न होंगे ? फिर शरीरको महत्ता दी क्यों जाय ? आज यदि शेक्सपियरके नाटक गुप्त हो जायँ ? उसका एक चित्र या जूता रहा तो और न रहा तो। चाहे जितने उपाय हों वह एक दिन तो नष्ट होगा ही। अमृतपुत्र मानव नश्वर पदार्थोंको महत्त्व दे, यह ज्ञानका लक्षण नहीं है। एक महापुरुष, जो 'शरीर' और 'नाम' की सीमाको लाँघकर अमृतराज्यमें प्रवेश कर चुका है, उसके शरीर और 'नाम' की पूजा तो एक प्रकारसे उसके ज्ञानस्वरूपका तिरस्कार ही है।

आज प्रत्येक राष्ट्र अपने इतिहासका इस प्रकार निर्माण करना चाहता है, जिसमें देशकी भावी संतति राष्ट्रके माने हुए उद्देश्योंकी ओर अग्रसर हो सके। घटनाओं तथा व्यक्तियोंकी अपेक्षा उद्देश्य अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह ऐतिहासिक विद्वान् अब मानने लगे हैं। हिंदू-समाजका उद्देश्य वर्तमान पाश्चात्त्य-विचारधारासे सर्वथा भिन्न है, यह दूसरी बात—परंतु अनादिकालसे अपने उद्देश्यके अनुरूप हमने अपने इतिहास-का संकलन किया है। हम जिसे व्यर्थ मानते हैं, वही दूसरेके लिये ग्राह्य हो तो बात भिन्न हो जाती है। आजकी शिक्षा ही प्राचीन शिक्षासे भिन्न है।

हिंदू-समाजकी शिक्षा-पद्धति

बालकोंकी शिक्षा उसी प्रकार होनी चाहिये, जिस प्रकार वे समाजमें आदर्श व्यक्ति बन सकें। समाजका आदर्श जैसा होगा, शिक्षाका आदर्श भी वैसा ही बनेगा। आजका समाज भोगप्रधान है। आजका आदर्श पुरुष है पर्याप्त धनी, बड़ा विद्वान्, महान् वक्ता या लेखक अथवा वैज्ञानिक। मनुष्यने अर्थको प्रधानता दे दी है और अर्थको पानेके लिये बौद्धिक विकास उसका आदरणीय है। आजके समाजमें आचरणका महत्त्व ही नहीं है। समाजके अग्रगण्योंके व्यक्तिगत आचार अनेक बार सामान्य जनके लिये आश्चर्यजनक होते हैं। वरं यहाँतक कहा जाता है कि किसीका 'सामाजिक जीवन' देखना चाहिये। 'व्यक्तिगत जीवन' चाहे कैसा ही हो ! मनुष्यकी इस आचारहीनताको वे सोचतक नहीं सकते। फलतः आजकी शिक्षामें व्यक्तिके आचरणकी कोई महत्ता नहीं है। शिक्षाका अर्थ है अर्थोपार्जन-की युक्तियाँ सीखना और बुद्धिका विकास।

आजकी शिक्षामें आचार्यका कोई महत्त्व नहीं है। जब शिक्षामें शीलकी भावना ही नहीं तो 'गुरु' की क्या आवश्यकता ? आज तो केवल बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना है। अध्यापक 'वेतनभोगी सेवक' हैं और मूल्य देकर घरपर उन्हें बुलाकर पढ़ा जा सकता है। आजकी शिक्षामें दोष भी बहुत-से हैं; वर्तमान परीक्षा-प्रणाली उचित नहीं है। उससे योग्यताकी परीक्षा नहीं होती। विद्यार्थीको उसकी रुचिके विपरीत शिक्षा देनेसे उसका बौद्धिक विकास मारा जाता है। ये ऐसे दोष हैं, जिन्हें समाजने समझ लिया है। इन्हें दूर करनेके प्रयत्न अनेक देशोंमें हुए हैं। मुख्य प्रश्न तो उद्देश्यका है। आजके समाजका उद्देश्य है—अनियन्त्रित भोग। सहशिक्षा आचारके रहे-सहे बन्धनको भी समाप्त कर देगी। आजके छात्रोंका शील तो उनके अध्यापक जानते ही हैं; जिन्हें निरन्तर अपने शिष्योंके द्वारा पीटे जानेकी आशंका बनी रहती है और उपहास तथा अपमान तो नित्यकी सेवा-पूजा है !!

हिंदू शिक्षा-पद्धतिके पाठ त्याग, संयम, श्रम, सेवा और श्रद्धासे प्रारम्भ होते हैं। पुस्तकीय बौद्धिक ज्ञान तो गौण वस्तु है। पाँचसे बारह वर्षके मध्यमें ही द्विजातियोंके बच्चोंका यज्ञोपवीत-संस्कार हो जाता था। माता-पितासे दूर बच्चे वनमें भेज दिये जाते थे। यह पहला पाठ मिलता था मोह-त्यागका। सम्राट्से लेकर भिक्षुकतकके बालक एक वेशमें, एक स्थानपर वर्षोंतक साथ रहते थे। यह समताका पाठ था। 'गुरुदेव ही आराध्य हैं, उनकी सेवा-आज्ञापालन ही सब कुछ है।' यह श्रद्धा थी और ब्रह्मचर्याश्रमके त्यागमय जीवनका तो पूछना ही क्या। छोटे-छोटे बालक मूँजकी मेखला पहिनते, वनसे समिधाएँ और फल एकत्र करते। भूमिपर सोते। हवन करते। भोजनके लिये भिक्षा माँग लाते और गुरुदेवके सम्मुख रख देते। गुरुदेव उसमेंसे जो उपयुक्त समझते, वह दे देते और शेष रख लेते। बाल बनवाना, तेल लगाना, शृङ्गार करना, दर्पण देखना, व्यर्थ हास-परिहास करना, खेल-तमाशे देखना, नाच-गान करना, जूते पहनना आदि सब मना और रहना था दिन-रात गुरुदेवके समीप। संयम, सादगी, सदाचार, कष्ट-सहिष्णुता यही तपोवनकी शिक्षा थी। (आजके बोर्डिंगहाउसोंका रहन-सहन और कालेजकी शिक्षा इससे ठीक विपरीत है।)

शिक्षा ? किसीको पूछनेका अधिकारतक नहीं कि गुरुदेव कुछ पढ़ायेंगे भी या नहीं। बौद्धिक शिक्षाका क्या अर्थ ! गुरुदेवके आश्रमका निवास ही तो शिक्षा है। जब कभी

किसी छात्रपर गुरुदेव प्रसन्न होते; समझ लेते कि यह अमुक बौद्धिक ज्ञानका अधिकारी हो गया है। उसे ठीक-ठीक समझनेकी क्षमता इसमें इस समय है और यह इसका दुरुपयोग नहीं करेगा तो उस प्रकारके ज्ञानके सूत्र शिष्यको सुना देते। शिष्य उतनेसे धन्य हो जाता। ठीक समय जब बुद्धि ग्रहण करनेको प्रस्तुत हो, उसमें क्षमता हो, किया गया उपदेश पूर्णतः ग्रहण हो जाता है। मस्तिष्कपर भार नहीं पड़ता। इसके साथ प्राप्त ज्ञानका सदुपयोग-दुरुपयोग दोनों हो सकता है। आज विज्ञानके आविष्कारोंका दुरुपयोग हो रहा है। तपोवनोंमें रुचि, अधिकार, क्षमताके अनुसार ही शिक्षा मिलती थी। समाजका भावी जीवन जिन तरुणोंपर अवलम्बित था, वे गुरुगृहसे श्रद्धा, संयम, त्याग, तितिक्षा, कष्टसहिष्णुता और श्रम करनेका स्वभाव लेकर आते थे। उनके समीप उनकी रुचि, योग्यताके अनुरूप ज्ञान होता था।

शिक्षा प्राप्त करके तरुणने समाजमें प्रवेश किया। वह गृहस्थ बना। उसे स्मरण रखना है कि यह गृह उसका वास्तविक गृह नहीं है। वह जिस तपोवनसे लौटा है, वैसे ही तपोवनमें उससे अधिक तपके लिये उसे पुनः लौट जाना है। दूसरी बार न उसके वे दयामय संरक्षक गुरुदेव होंगे और न वे सहृदय साथी। उसे एकाकी रहना होगा। यह उसे विश्रामका एक समय मिला है। इसमें यदि वह अपने स्वभाव एवं अभ्यास बिगाड़ लेगा तो बड़ा कष्ट पायेगा। तपोवनकी शिक्षा भूलनेका अवसर ही नहीं है उसके लिये।

हिंदू-समाज तरुणोंका समाज है। बालकोंको शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। जब शरीरकी शक्ति क्षीण होने लगती है, तब आसक्ति बढ़ती है। जीवनके प्रति मोह बढ़ता है। शरीरकी, स्वास्थ्यकी चिन्ता बढ़ती है। इस समय समाजमें मनुष्य रहेगा तो वह आसक्त, शरीरसेवी, बहिर्मुख बन सकता है। अतः उसे तपोवन चले जाना चाहिये। तपस्याके द्वारा शरीरासक्तिपर पूर्ण विजय प्राप्त करनी चाहिये। समाजके संचालनका अधिकार सक्षम, सशक्त, परिश्रमी, बुद्धिमान् तरुणोंके हाथमें ही रहना चाहिये। यह स्वस्थ सबल हिंदू-समाजका स्वरूप है।

कुछ भी हो; मनुष्य बहिर्मुख न बने और न आचारका त्याग करे। जो नियम, संयम अपनी शक्तिके बाहर हों, उनका संकल्प लेकर दम्भ और प्रमादको आश्रय न दिया जाय। शास्त्रोंने कलियुगमें नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन आश्रमोंका निषेध किया है। इनके नियम आजकी शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलताके कारण पालन नहीं किये जा सकते। शास्त्रोंकी शिक्षाका उद्देश्य है—अन्तर्मुख बनाना। अपनी शक्तिके अनुसार त्यागमय जीवन व्यतीत करना।

समाजका आधार

आजका समाज अर्थपर निर्भर है, अतः अर्थसे ऊपरकी बात आज सोची ही नहीं जा पाती। आजके साम्यवादी आर्थिक साम्य उपस्थित करना चाहते हैं। वे पुराने समाजको 'सामन्तवादी समाज' कहते हैं। जैसे आधुनिक इतिहासवेत्ता श्रुतियोंका समय निर्धारित करने बैठते हैं और कुछ सहस्र-वर्ष मानवसभ्यताका काल मानकर संतोष कर लेते हैं, वैसे ही आजके राजनीतिक एवं अर्थशास्त्री विद्वान् पुराने समाज-निर्माणको समझनेमें असमर्थ होकर उसे सामन्तवादी, राज्यतन्त्र आदि कहने लगते हैं। वे उस समयके सामाजिक गठनको समझ ही नहीं पाते।

हिंदू-समाजकी रचना समझनेके लिये हमें यह मुख्य बात सदा ध्यानमें रखनी होगी कि शास्त्रोंने और समाजने भी अर्थ और कामको यहाँ कभी प्रमुखता नहीं दी। यही दो आजके प्रगतिवाद या साम्यवादके मूलाधार भाव हैं; पर हिंदू-समाजमें ये गौण माने गये हैं। हिंदू-समाजने मुख्यता धर्मको दी है। धर्म ही मुख्य है और उससे अविरोधी अर्थ तथा कामका उपभोग किया जा सकता है। वह उपभोग भी दूसरोंके लिये त्यागा जा सके तो श्रेष्ठ है। इस प्रकार त्याग श्लाघ्य माना गया और समाजकी प्रतिष्ठा धर्मके आधारपर हुई।

महाभारतमें एक कथा आती है। उसका संक्षिप्त भाव यह है कि महर्षि अगस्त्यको एक बार यज्ञ करनेके लिये द्रव्यकी आवश्यकता हुई। वे अयोध्यानरेशके यहाँ गये। महाराजने उनका सत्कार किया और अभीष्ट द्रव्य देना चाहा। महर्षिने इच्छा प्रकट की कि वे प्रजाके आवश्यक व्ययसे बच रहनेवाला द्रव्य ही लेंगे। हिसाब देखा गया तो ज्ञात हुआ कि आय-व्यय समान है। एक कौड़ी बचती नहीं। महर्षिको दया आयी कि महाराजके पास अपने उपयोगको द्रव्य ही नहीं। वे अपने साथ महाराजको भी लेकर चले। महाराजको भी कुछ दिलाना चाहते थे। एक-एक करके मिथिला आदि अनेक राज्योंके प्रसिद्ध राजाओंके पास पहुँचे।

सबके यहाँ वही आय-व्यय समान, सबको वे साथ लेते गये। अन्तमें असुर इल्वलके यहाँ उन्हें द्रव्य मिला।

इस कथामें हिंदू-समाजकी आर्थिक व्यवस्थाका सुन्दर स्पष्टीकरण है। समाजके संचालक राजा नहीं—तपोवनमें रहनेवाले महर्षिगण थे। वे सम्पूर्ण प्रजाके लिये पूज्य, आराध्य हैं। अतः प्रजाका धन उनकी सेवामें लगे, यह सबसे प्रथम उस धनका उपयोग है। उन ज्ञानात्माओंकी तुष्टि समाजका प्रथम कर्तव्य है। परंतु यदि आय-व्यय देखना हो तो राजा तो एक प्रजासेवकमात्र है। आय-व्यय बराबर है वहाँ।

प्रिंस क्रोपाटकिनने कल्पना की है—शासनहीन समाजकी। अराजकतावादियोंके इस अग्रणीने अपने आदर्श समाजकी रूप-रेखा उपस्थित की है। उसका कहना है कि मनुष्यका स्वभाव है कि वह श्रम किये बिना रह नहीं सकता। यन्त्रोंकी इतनी उन्नति हो जाय कि मनुष्य विनोदके लिये जितना श्रम करे, उतनेसे ही समाजकी आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ तो शासन-संस्था आवश्यक न होगी। लोग प्रशंसाके लिये भी श्रम करेंगे। साम्यवादी कहते हैं कि सबको आर्थिक सुविधा समान मिलनी चाहिये; परंतु जो जैसा श्रम करे, उसे समाजमें वैसा सम्मान प्राप्त होना चाहिये। मनुष्यमें सम्मान पानेकी वृत्ति लोभसे प्रबल है, अतः यशकी इच्छाको लेकर समाजका गठन हो ही सकता है।

मनुष्यकी भोगेच्छा कभी तृप्त नहीं होती। प्रिंस क्रोपाटकिनने यहीं भूल की कि मनुष्य यन्त्रोंके अमुक उत्पादनसे तुष्ट हो जायगा और संघर्ष नष्ट हो जायगा। साम्यवादी यह नहीं देखते कि यशकी इच्छा धर्मसे बँधी है। एक बार वासनाकी तृप्ति अनिवार्य मान ली जानेपर मनुष्य निर्लज्ज हो जाता है; जैसा कि साम्यवादियोंकी ही साहित्यिक धारा प्रगतिवादमें उच्छृंखल भोगवृत्तिका प्रदर्शन गौरवास्पद माना जाने लगा है। भोगको प्रधानता देकर यशपर समाजगठन सदा स्वप्न ही रहेगा।

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम्॥
(मनु० १२। ३८)

तमोगुणका लक्षण काम, रजोगुणका अर्थ और सत्त्वगुणका धर्म है। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम्॥

उत्तम पुरुष मानकी इच्छा करते हैं और मान प्राप्त होता है धर्मसे। हिंदू-समाजका गठन इस धर्मपर ही अवलम्बित था। वहाँ अधिकारका प्रश्न ही नहीं था। अधिकार प्राप्त था धर्ममूर्ति तपस्वियोंको। राजा कार्य-संचालकमात्र था और प्रजाको संतोष था कि समाजमें जो सर्वश्रेष्ठ धर्मप्राण हैं, वही हमारी व्यवस्थाके नियन्त्रक हैं। जब भी राजा इस व्यवस्थामें अपनेको प्रधान मानकर हस्तक्षेप करता, उसे वेनकी भाँति च्युत होना पड़ता।

राजाकी आवश्यकता क्या? इस सम्बन्धमें यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि निवृत्तिप्रधान तपस्वी केवल आदेश दे सकते थे। धर्मका मूल रूप निवृत्ति है। अतः प्रवृत्तिमें रहकर पूर्णतः समय मिलना शक्य नहीं। राजा एक सक्षम प्रतिनिधि था। यह उसी प्रकार, जैसे प्रधान सेनापतिकी आवश्यकता युद्धसचिव पूरी नहीं कर पाते, पर प्रधान सेनापतिका संचालन वे ही करते हैं।

यातायात

समाजकी पूरी व्यवस्था उसके यातायातपर निर्भर है। सामग्री, शिक्षा और विचारोंका पारस्परिक विनिमय आवागमनसे ही होता है। भारतीय आवास जलाशयोंके किनारे थे; अतएव यातायातके सबसे सुलभ मार्ग जलीय थे। वर्तमान सभ्यताकी पिछली शताब्दीतक भारतीय व्यापार नौकाओंद्वारा होता था। अब भी वह अनेक प्रदेशोंमें चलता है। इस जलयात्राकी सुविधाके लिये सारे देशमें नहरें थीं। उनमेंसे कईके चिह्न अबतक वर्तमान हैं। इतिहासके अन्वेषक जानते हैं कि जब भारतमें रेलोंके प्रचलनका प्रश्न आया, तब ब्रिटिश पार्ल्यामेंटमें अनेक सदस्योंने इसका विरोध किया। उनका मत था कि इस विशाल कृषिप्रधान देशमें रेलोंकी अपेक्षा नहरें अधिक उपयोगी होंगी। आज भी सरकार सोच रही है कि बाढ़से रक्षा और अकालसे बचावके लिये नहरें आवश्यक हैं। यूरोपके कुछ स्थानोंमें रेलोंका काम नहरोंसे लिया भी जाता है; परंतु भारतमें रेलोंका विस्तार इंगलैंडके लिये लाभप्रद था, अतः हुआ।

नौकाओंके अतिरिक्त समुद्री यानोंद्वारा भारतीय व्यापार यूरोपतक विस्तृत था। भारतीय वस्तुओंका पृथ्वीके सभी भागोंमें पाया जाना समुद्री व्यापारका प्रमाण है। समुद्रयात्रामें संध्यादि नित्य-कर्मोंमें बाधा पड़ती थी, दूसरे देशोंकी स्थितिके कारण अपना आचार व्यवस्थित नहीं रह पाता था, अतः ब्राह्मण समुद्रयात्रा प्रायः नहीं करते थे। क्षत्रियनरेश भी रथोंसे ही यात्रा करते थे। भूमिपर यात्रा एवं सामान

ढोनेके लिये घोड़े, हाथी, ऊँट, खच्चर, बैल सभीका उपयोग प्राचीन ग्रन्थोंमें है; परंतु मुख्य यात्राका साधन रथ था। इन रथोंमें घोड़े जोते जाते थे। उनमें पहिये होते थे। इतनेपर भी ये रथ पृथ्वीपर, जलपर, आकाशमें भी समान रूपसे चलते थे। महाराज प्रियव्रत अपने रथमें बैठकर पृथ्वीकी प्रदक्षिणा एक दिन-रातमें कर सकते थे और वह पृथ्वी वर्तमान पृथ्वी नहीं है। वर्तमान पृथ्वी तो उसका एक भाग जम्बूद्वीपमात्र है। महाराज पृथुका रथ पर्वतों, नदियों, जंगलों, समुद्रों और नभमें अबाधगतिसे चल सकता था। प्राचीन रथोंके सम्बन्धमें कल्पना उसी प्रकार अभी कुण्ठित है, जैसे पचास वर्ष पूर्व विमानोंकी कल्पना नहीं थी।

रथोंके अतिरिक्त विमान भी होते थे; परंतु यन्त्रमय होनेके कारण प्रायः असुर ही उनका व्यवहार करते थे। महायन्त्र जिनमें अनियन्त्रित हिंसाकी सम्भावना रहती है, हिंदू-समाजमें कभी आदरणीय नहीं रहे। वैसे तो भारतमें कभी रेल भी थी और रेलमें पत्थरका कोयला जलाया जाता था, एक राजाका यह आज्ञापत्र कई स्थानोंमें पत्थरपर खुदा हुआ मिला है।

आचारका आधार

सब प्रकारसे देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदू-समाजके आचारका आधार प्रवृत्ति नहीं, निवृत्ति है। जीवनमें उपभोगके लिये जो थोड़ा-सा काल छोड़ा भी गया है, उसमें भी सब ओर धर्मके नियन्त्रण हैं। वैधभोग ही समाजमें विहित हैं। दूसरोंका स्वत्व अपहरण करके, प्राणियोंको कष्ट देकर जो भी भोग उपलब्ध होते हैं, वे सब निषिद्ध एवं त्याज्य माने गये हैं।

मनुष्यको पशुओं, वृक्षों आदिको उपयोगमें लेनेका अधिकार वहींतक है, जहाँतक वह उनका पालन एवं रक्षण करता है। जाति-विपर्यय करके, उनके स्वाभाविक भोगसे उन्हें वञ्चित करके और उनकी आयुका ह्रास या नाश करके उनका उपयोग करना हिंसा है। हिंसासे प्राप्त भोग निषिद्ध होते हैं। परीक्षण करके देखा गया है कि जिस शेरके बच्चेको बचपनसे भरपेट मांस दिया जाता है, उसके पिंजरेमें बकरा छोड़ देनेपर भूखा होनेपर भी वह आक्रमण नहीं करता। पशु भी तभी हिंसा करता है, जब क्रोधित होता है या क्षुधातुर। जंगलोंके ह्राससे, मानवकी हिंसासे पशुओंको विवश होकर हिंसा सीखनी पड़ी और आज जब हम पढ़ते हैं कि ऋषियोंके आश्रमोंमें, पवित्र तीर्थोंमें पशु परस्पर द्वेष नहीं करते थे, तब तर्क जाग्रत् होता है। पशु, पक्षी बहुलतासे होंगे, जब वन बहुत थे और तब मांसाहारी प्राणी मृत शरीरोंसे अपना काम चला लेनेमें कठिनाईका अनुभव न करते होंगे, यह बात समझमें ही आज नहीं आती। आज तो मनुष्य सर्वभक्षी हो गया है। वनस्पतिजगत् उसने उजाड़ दिया और पशु-पक्षियोंको उदरस्थ करता जा रहा है। हिंसक पशु आखेट न करें तो कैसे जीवें, यह वह सोच ही नहीं पाता।

किसी प्राणीको कष्ट न दिया जाय, कोई प्राणी अपनी पूरी आयु और भोगसे वञ्चित न हो, किसीकी जाति नष्ट न हो, इतना ही नहीं; सभी प्राणियोंका मनुष्यके उपार्जनमें भाग है। कुत्ते, पक्षी, चींटी सबको मनुष्यके उपार्जनमेंसे ही पोषण प्राप्त होना चाहिये। इनके अतिरिक्त भावजगत्के असुरादि भी मनुष्यसे ही आशा करते हैं। उन सबका भी पालन होना चाहिये। हिंदू-समाजने विश्वके समस्त प्राणियोंको एक ही परिवारका माना है और सबके लिये यथोचित भाग देनेका विधान किया है।

हमारे शास्त्रीय कृत्योंमें घृणा और हिंसाका आरोप करनेवाले भूल जाते हैं कि हिंदू-शास्त्र भौतिक भोग और भौतिक देहको महत्त्व नहीं देता। अतिथिकी तृप्तिके लिये अपने शरीरका मांस देने या अपने पुत्रको आरेसे चीरनेके दृष्टान्त हमारे ही इतिहासमें हैं। इन दृष्टान्तोंमें बताया गया है कि सामान्यतः किसी प्राणीको किसी प्रकार कष्ट नहीं होना चाहिये। सब पुत्रके समान ही स्वजन हैं। अपने शारीरिक स्वार्थसे, अपने प्रमादसे प्राणियोंको पीड़ा देना पाप है; परंतु जहाँ आत्मकल्याण, आत्मोन्नतिका प्रश्न हो, वहाँ शरीर तुच्छ है। यदि कोई शरीर नष्ट होकर किसीकी अन्तर्मुखतामें, आत्मोन्नतिमें कुछ भी सहायता करता है तो वह शरीर सफल हो गया। उसमें स्थित जीव उन्नत हुआ। इसी प्रकार शारीरिक अहंकारवश घृणा या द्वेष पाप हैं, परंतु आत्मशुद्धिके लिये असंसर्ग आवश्यक कर्तव्य है। हिंदू-समाजके इस तत्त्व-बोधको प्राप्त करके ही उसके आचारोंका समुचित सामञ्जस्य प्राप्त होता है। वैधभोग वे हैं जो आत्मोन्नतिमें बाधक न हों; किसीकी हिंसा या कष्टसे उपार्जित न हों अथवा अन्तर्मुखतामें सहायक हों; इनसे विपरीत सब निषिद्ध भोग हैं। इसी आधारपर समस्त आचार व्यवस्थित होता है।

पूँजीवादकी जड़ और उसके डाली-पत्ते

(लेखक—श्रीजयेन्द्ररायजी भ० दूरकाल एम० ए०)

[गताङ्कसे आगे]

(२)

पूँजीमें आसक्ति बुरी है

(१) हमको पहले ही यह समझ लेना चाहिये कि धन अथवा लक्ष्मी कोई बुरी वस्तु नहीं है, अन्यथा पूँजीवादी या साम्यवादी और संसारवादी सब-के-सब इसके पीछे क्यों दौड़ते ? बुरा है इस मायामें आसक्त होना, इसमें लिपटे रहना। कहते हैं कि लोहेकी बेड़ियोंसे तो कदाचित् मनुष्य छूट सकता है, परंतु स्त्री-धन आदिके बन्धनमें पड़कर छूटना कठिन है। महात्मा ईसा भी इसी अर्थमें कहते हैं कि 'सूईके छेदमेंसे ऊँट निकल सकता है, पर धनाढ्य व्यक्ति स्वर्गके द्वारमें प्रवेश नहीं पा सकता।' इसलिये पूँजीको बड़ी करनेवाला और उसपर मुग्ध होनेवाला पूँजीवाद ठीक नहीं है। इसी कारण सभी धर्म संन्यासको, त्यागको, फकीरीको ही आदर्शरूप मानते हैं, धनको नहीं।

धनासक्तिसे राज्य और प्रजाका पतन

(२) धन प्रभुकी एक अटपटी माया अथवा इन्द्रजाल है, इसलिये इसके सङ्गसे मनुष्य इसमें फँसता जाता है और फिर अनेक प्रकारके राग-द्वेषमें फँसकर उसका पतन हो जाता है, वह जीवनकी सच्ची, महान् भावनाओंसे वञ्चित—दूर रह जाता है। इसलिये मनुष्यको पतनके मार्गमें ढकेलनेवाला पूँजीवाद ग्राह्य नहीं है। धनके आधारपर जीवनकी नीति, योग्यता, प्रशंसा और प्रगतिका निश्चय करना अथवा वर्गसृष्टि करना—इसके समान दूसरी कोई भूल नहीं हो सकती। मनुष्यको खाने-पीने इत्यादिकी जरूरतें तो बहुत थोड़ी होती हैं, इससे अधिक धनको पूँजी कह सकते हैं—इसमें जो अभिमान रखता है वह राग-द्वेष, क्रोध और दुष्कर्मोंमें जा पड़ता है। इसलिये पूँजीवाद तथा पूँजीका राष्ट्रीयकरण, दोनों ही बुरे हैं। एक व्यक्तिको और दूसरा राज्यको बिगाड़ता है। कहावत भी है कि लक्ष्मी देखकर मुनिका मन भी चलायमान हो जाता है। राज्यके पास अधिक धन-सम्पत्तिके साधन बढ़ाना राज्यका पतन साधन करना है, यह कहना बहुधा सच होता है।

मनुष्यका सच्चा विकास या प्रगति धनसे नहीं

(३) आज जिसको प्रगति या विकास कहते हैं, वह धनलालसाके विस्तारसे उत्पन्न होनेवाले अनुसंधान, आयात-निर्यात, पैसा इकट्ठा करनेकी प्रक्रिया, विज्ञापन और मौज-शौकके साधनोंका परिणाम है। आजकलके रेलवे, जहाज, वायुयान, प्रयोगशालाएँ, सिनेमागृह, आमोदप्रमोद, दवा-दारू, मिल-फैक्टरियाँ, नल-नहर, अनेकों मंजिलोंके मकान इत्यादिमें एक भी चीज ऐसी नहीं कि जिसके लिये सदाचार आवश्यक हो, अथवा जिसे दुष्ट मनुष्य बनवा न सकते हों, अथवा जिससे मनुष्यके मानसकी सच्ची उन्नति होती हो। नैतिक विकास और नैतिक प्रगति ही वास्तविक विकास और वास्तविक प्रगति है। धन तो वास्तविक सुख-शान्तिको बढ़ानेवाली वस्तु भी नहीं है। पूँजीवादके इतने प्रचार और पूँजीकी वृद्धि तथा स्वार्थसाधकोंकी बहुलता होनेपर भी जीवन सरल और शान्तिमय न हो सका, लोगोंके रोग कम न हुए, संघर्ष और धक्का-धक्कीमें कमी न आयी, सुलह-समझौता बढ़ा नहीं, मानव-परिश्रम कम न हुआ। बढ़े हैं—धन खींचने, लूटने, सफाईसे पाकेट मारनेके साधन। जिनका इनमें स्वार्थ है, वे इसको प्रगति कहते हैं; और यह क्षम्य है पर सत्य नहीं है।

पूँजीवादसे महँगाई, खर्च और कर्ज बढ़ जाता है

(४) पूँजीवादसे लोगोंमें यह भ्रम फैल जाता है कि पूँजी ही प्राप्त करने योग्य वस्तु है, इसलिये सब इसको प्राप्त करनेकी माथापच्चीमें पड़ जाते हैं। प्रत्येक मनुष्यको अधिक पैसे चाहिये, इसलिये मजदूरी और माल, दोनों ही महँगे हो जाते हैं। जीवन अति कठिन बन जाता है और दया, परोपकार, दान आदिके स्रोत साधनाहीनताके कारण दुर्बल बन जाते हैं। राज्यका खर्च बढ़ जाता है और इससे लोगोंके ऊपर एक पौंडमें १५से१७ शिलिंगतक कर लग जाते हैं। सीधे करोंका लोग विरोध करते हैं, इसलिये आड़े-टेढ़े करोंके द्वारा पैसे खींचनेकी राज्यकी दूसरी निष्णात युक्तियाँ बढ़

जाती हैं और राज्यका ऋणभार भी बढ़ जाता है एवं बढ़ता रहता है। 'किसके बापकी दीवाली' इस कहावतके अनुसार घाटेके बजटका भी फैशन चल पड़ता है। विविध प्रकारसे प्रजाकी प्रतारणा चलती रहती है। प्रतिनिधि तो विदा हो जाते हैं, परंतु भार प्रजाकी कमरके ऊपर या सिरपर आ पड़ता है।

पूँजीवादकी समर्थक सारी फिलासफी गलत है

(५) कतिपय बड़े राज्योंमें प्रजाके व्यवहारमें और अन्ताराष्ट्रिय कारोबारमें पूँजीवादके प्रविष्ट हो जानेके कारण इनमें नयी फिलासफी और परिभाषाएँ उपस्थित कर दी गयी हैं। वह भी अधिकांश भ्रामक यानी भ्रममें डालनेवाली है। जैसे मौज-शौकके साधन अथवा लड़ाईके हथियार या शीघ्र यातायातके साधन—ये प्रगतिके माप हैं; परंतु वस्तुतः ये लूटनेवाली, मारनेवाली या आँखोंमें धूल डालकर धन छीननेवाली प्रगतियाँ हैं। फिर 'राज्यका प्रभुत्व लोगोंका है' यह फिलासफी, जो लोकतन्त्रके लिये खड़ी की गयी है, वह भी गलत है। लोग तो बेचारे शोर मचा सकते या बलवा कर सकते हैं अथवा बेचारे राजाको धमकी-घुड़की देकर हटा देते हैं, परंतु सत्ताधीश लोकशाहीको वे हटा नहीं सकते। वे (बर्नार्ड शाके कथनानुसार) राज्य भी नहीं चला सकते, उनके नामसे पार्टीबाज लोग राज्यको हस्तगत कर लेते हैं और लोग ताकते रह जाते हैं। राज्यकी, देशकी और लोककी प्रभुता तो प्रभुकी है, वही क्षणभरमें दुनियाकी सृष्टि और संहार कर सकते हैं। लोग तो बेचारे भोले-भाले, अज्ञानी, ठगे जानेवाले बहुसंख्यक और प्रतिदिन बदलते रहते हैं, उनकी प्रभुता बतलाना तथा यह कहना कि 'तुम्हीं राजा हो, अफसर तुम्हारे नौकर हैं, तुम्हींको राज्य चलानेका अधिकार प्राप्त है'—इत्यादि मत लेने या धन खींचने तथा राज्यसत्ता बढ़ानेकी नयी युक्ति है। इसको एक प्रकारकी धोखाधड़ी भी कह सकते हैं। भूमि, राज्य, देश—ये राजाके भी नहीं हैं, ये तो प्रभुके ही हैं। यह वास्तविकता है। इसलिये ईश्वर ही सारे देशका सर्वकालमें और सब पदार्थोंका स्वामी है। मनुष्य तो समय पड़नेपर अपनी एक इन्द्रियको या अपनी नाडीको या एक तिनकेको भी हिला नहीं सकता। इसलिये प्रभुका नियम ही सच्चा नियम है, प्रभुकी सत्ता ही सच्ची सत्ता है और प्रभु ही सबका सम्राट् है। लोगोंकी प्रभुता कहना और लोगोंको उलटे पाटेपर चढ़ाना बराबर है। लोग तो बेचारे जानते हैं कि अपने शरीरपर ही अपनी प्रभुता नहीं है, फिर देशके ऊपर कैसे हो सकती है? फिर, एक दूसरा यह भी भ्रम प्रचलित है कि 'राज्य सर्वसत्ताधीश है और इसीको मजबूत करना चाहिये।' ईश्वरको भूल जानेके बाद तो राज्य ही सत्ताधीश रहा। धर्मराज्यका नियम तो जहाँ धर्म है, वहाँ चलता है। लोगोंके राज्यमें तो लोकसभाकी जैसी इच्छा होती है, वैसा ही कानून बनता है। इस प्रकारकी सत्ताधीश्वरताको मजबूत बनाना तो अंधे भैंसेका खेल है और यदि इसमें दंगा-फसाद होता है, भ्रष्टाचार फैलता है, हरामका चस्का लगता है, लोगोंको राज्यके सामने हाथ फैलाना पड़ता है, करवृद्धि होती है और अनधारी लड़ाइयाँ फूट निकलती हैं तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? राज्य व्यापार करता है, पूँजीके लोभसे बार-बार आर्थिक नीति बदलता है, इच्छाके अनुसार भाव, सहायता, महसूल, चुंगीमें परिवर्तन करता है, यानी कितनी अधिक अव्यवस्था, उद्विग्नता और परेशानियाँ खड़ी हो जाती हैं। यह भी जानी हुई बात है। राज्यके दो मुख्य कर्त्तव्य हैं—प्रजाकी संस्कृति (या संस्कृतियों) की बाहरी शत्रुओंसे रक्षा करना तथा प्रजाकी आन्तरिक व्यवस्थाके तोड़नेवालेके विरुद्ध न्याय-व्यवस्था करना। दूसरे सारे कर्त्तव्य आगन्तुक हैं और उनमें राज्यके ऊपर कठिन नियन्त्रण होना चाहिये। इन नियन्त्रण करनेवाली शक्तियोंमें धार्मिक शासनविधान, संत-महात्माओंकी प्रेरणा और लोकसभाके अल्पमत दलका समावेश होता है। संस्कृति साध्य है और राज्य उसका केवल साधन है। परंतु इस नये वादने संस्कृतिकी परिभाषा ही बदल डाली है। वस्तुतः जीवात्माकी उन्नतिके लिये कार्य-विधान ही साधारणतः संस्कृति समझी जाती थी और धर्म संस्कृतिका प्रधान प्रेरक माना जाता था। उसके बदले अब चित्रकला, नृत्यकला, संगीत, स्थापत्य—इन सबको संस्कृतिके वाचक बना दिया गया है और इनका समूह ही संस्कृति है। एक साथ सात्त्विक धर्म, कर्म, क्रिया, कला, ज्ञान और जीवनको किनारे करके इन सब राजसी-तामसी रूपोंको प्राधान्य दिया जाने लगा है; क्योंकि रजोगुणमें राग, तृष्णा, धन और क्रियाका प्राधान्य स्वभावतः होता है और वही आजकलके पूँजीवादकी वासनाओंका मूल है।

पूँजीवादका समर्थन

(६) पूँजीवादका समर्थन करनेवाले प्रधान तत्त्वचिन्तकोंमें डा० गार्विन एक मुख्य विद्वान् हैं। वह पूँजीवादको

आधुनिक दुनियाकी प्रगतिके प्रेरक बलोंमें प्रमुख स्थान प्रदान करते हैं। परंतु उसकी सारी प्रगति भौतिक, मायिक और धनवृद्धिरूप है, जिसे दुनियाके महापुरुषों और महात्माओंने बहुत गौण स्थान प्रदान किया है। पूँजीवादके समर्थक पूँजीवादके दो मुख्य तत्त्वोंको व्यक्तिके भावनाबलका विकास करनेवाला बतलाते हैं—(१) वैयक्तिक सम्पत्ति तथा (२) साहस करनेकी स्वतन्त्रता। वैयक्तिक सम्पत्तिको जीवनके एकमान्य और उपकारक तत्त्वके रूपमें मानना ठीक है, यह हम कह सकते हैं। केवल इसका अतिलोभ, लोलुपता और प्रधानता मनुष्यको उल्टे रास्ते ले जाता है, इसलिये हम इसको तोड़नेके लिये कहते हैं। किसी कड़वी ओषधिके समान स्वत्वको स्वीकार करना इसके परित्यागके लिये है। दूसरा तत्त्व है—साहसकी स्वतन्त्रता। इसमें एक बड़ा भयका कारण यह है कि दुनियामें कोई बहुत अच्छा साहस नहीं करता। दुष्टको दुष्ट साहस, मूर्खको मूर्ख साहस अथवा अज्ञानीको अन्धकारसे साहस करनेकी स्वतन्त्रताका आदर्श अनिष्ट और दूषित आदर्श है और इस अंधे भैंसेकी क्रीड़ाके आदर्शसे ही दुनियाकी आज अव्यवस्था, निष्फलता और हैरानी आ गयी है। चाहे जिस वस्तुके लिये धनके पीछे मुट्ठी बाँधकर आँखें मूँदकर श्वास बिना लिये दौड़ो तो वह चीज प्राप्त होती है, इसमें कोई विशेषता नहीं है। पर सवाल यह है कि वह वस्तु इतनी कीमती है या नहीं? बुद्धिमान् लोगोंका कहना है कि—'जर, जमीन और जोरू, ये तीनों तकरार बटोरू'—इन तीनोंके पीछे दौड़नेवाले तकरार, क्लेश और झंझट बटोरते हैं। इसलिये इनका सङ्ग कार्यमात्रके लिये रखना चाहिये—ऐसा पक्के अनुभवी लोग कहते हैं और वे हँसते-हँसते कहते हैं। फिर इनका अधिक सङ्ग करना हो तो मनुष्य स्वयं जोखिम उठावे और खर्च करे। डा० गार्विन पूँजीवादके पदार्थों, प्रक्रियाओं और खोज तथा अन्वेषण उत्पन्न करनेवाली प्रजनन-शक्तिकी प्रशंसा करते हैं, इन सबकी वास्तविकताके विरुद्ध भी बहुत कहना नहीं है। चीजें, उनका उत्पादन करनेवाली मिलें और उनकी मशीनें बढ़ गयी हैं, इसमें संदेह नहीं है। परंतु यह सारी अभिवृद्धि मानवजातिके सारे महान् आदर्शों और प्रक्रियाओंके मार्गमें रोड़ा अटका रही है और इसने इनपर प्रतिबन्ध लगा रक्खा है, यह बात विश्वके तत्त्वदर्शी लोगोंके लिये विचारणीय है। इतनी महँगाईके साथ मजदूरीका दर बढ़ा, इतनी अधोगतिके साथ मौज-शौकके साधन बढ़े, इतने भयस्थानोंके साथ विज्ञान बढ़ा। फिर इसकी क्या कीमत रही? मानवके जीवनकी रक्तधारा और ज्ञान-तंतुजाल तो इसके हृदयमेंसे और इसके ब्रह्मरन्ध्रमेंसे फैलते हैं, हाथ-पैरसे नहीं निकलते। हाथ-पर तो इनके संवादक, संवाहक और परिचारक बनकर जीवनको चिरंजीवी करते हैं। बल्कि आजकल प्रजनन-शास्त्र-विद् बहुत सृजन-प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं देखते। प्राणी और पदार्थोंकी जनसंख्या तो बहुत बढ़ गयी है और फिर यदि दुनिया दुखी होती है तो प्रजामें सारासारका विवेक करके, भेद-भावको समझकर बुरेका नियमन और भलेका सृजन करना ही भलमनसाहत समझी जा सकती है। पूँजी और मजदूरके बीच कोई स्वाभाविक विरोध नहीं। मजदूर और मिलमालिक, नौकर और मालिक दोनोंमें पहले तो पिता-पुत्र-जैसा सम्बन्ध था। नौकर व्यापारीकी कोठीमें आनन्द, ममता और प्रेमसे नौकरी करते थे, मजदूर मिलमालिकोंको नौकरी देनेवाला, सवाई रोजी देनेवाला अन्नदाताके रूपमें मानते जानते थे, इन सबके बीच मधुर सम्बन्ध था। पहलेकी गुलामी भी आजकलकी विषैली प्रवृत्ति और पैसा ऐंठनेवाली गर्हित मनोदशाकी अपेक्षा हजार दर्जे अच्छी थी और इसीलिये बर्क-जैसा मनोवैज्ञानिक उसकी मुक्तकण्ठसे और विलापके स्वरमें प्रशंसा करता है। लोगोंको चढ़ाकर और लड़ाकर सत्ता प्राप्त करना और उनका मत प्राप्त करना तो लोकशाहीमें चालू रहता है। इन सारे वादोंके झगड़ेकी जड़ तो वहाँ है। जैसे संतति-नियमनके प्रचारकोंको दुनियाके भविष्यकी कोई चिन्ता नहीं होती, उनको तो वर्तमानमें दवा बेचनेकी फिक्र होती है। उसी प्रकार इन वाद-विवादवालोंको दुनियाके भावी उद्धारका ठीका लेनेकी कुछ पड़ी नहीं होती, उनके लिये तो वर्तमान सत्ता—राज्यसत्ता हस्तगत करनेके लिये लोगोंको फँसाये रखना ही मुख्य प्रश्न होता है। इसमें पूँजीवादी और साम्यवादी सब पिल पड़े हैं और जरूरत पड़नेपर इसके लिये सत्यके ऊपर, हितके ऊपर और श्रेयसके ऊपर पर्दा डाल रहे हैं। इसलिये इन सब बुराइयोंकी जड़ है 'सब मनुष्योंकी समानताका मूल्याङ्कन' तथा बहुमत जो कहे उसके अनुसार राज्य चलानेका सिद्धान्त। इसका हम यहाँ पुनरावर्त्तन करके फिर आगे विवेचन करेंगे।

महाचक्र, महासंख्या और मौज-शौककी हानियाँ

(६) पूँजीका अति मोह, उसकी आवश्यकता और उसके प्रलोभनोंमें तीन चीजोंका समावेश हो सकता है—महाचक्र,

बड़ी मजदूरोंकी संख्या और मौज-शौक। अधिक पैसा हो तो अधिक मौज-शौक किया जाय—जैसे मोटरकार, बिजलीका पंखा, रेडियो, सिनेमा, नाटक, वायुयानयात्रा, सुन्दर भवन, मनोरम वस्त्र, सौन्दर्य-साधन इत्यादि। बड़े चक्केवाले कारखानोंसे बड़ी पूँजी तथा बड़ी संख्याके मजदूरोंकी जरूरत पड़ती है और उसके परिणामस्वरूप लड़ाई, झगड़ा, हड़ताल, तालाबंदी और फिर लाठीचार्ज, सत्याग्रह और गोली चलना आदि उसके सगे साथी आ पहुँचते हैं; क्योंकि 'लोभमें रोक नहीं' और 'लाखकी पत' जोखिममें डालती है, इसलिये बड़ी दीख पड़ती है। पुनः राज्य जिसको अधिक मान देता है, उसका और मान बढ़ता है और राज्यको अधिक गरज पैसेकी होती है, इसलिये वह पैसेदारको, पूँजीपतिको महत्त्व देता है, इससे भी पूँजीका मोह बढ़ता है। परंतु राज्य कहाँतक जाय? महँगाई, बेकारी और बहुत धनका जखेड़ा इतना बढ़ता जाता है कि पूँजीवादमें उसको राज्य भी पूरा नहीं कर सकता। पहले महाचक्रसे चीजें या यात्रा अथवा मेहनत बहुत सस्ती जान पड़ती है। परंतु महाचक्र धनकी वृद्धिसे ही उत्पन्न होनेके कारण, उसके कार्यकर्त्तागण लोगोंको शोषण करनेकी टेव पड़नेके कारण उसका भाव बढ़ानेसे नहीं चूकते। फिर बहुतेरी चीजोंमें तो भावकी समानता भी नहीं होती। ताड़का पंखा तीन पैसेका होता है और बिजलीका पंखा तीन सौ रुपयेका। बग्गी तीन सौमें आती है तो मामूली मोटर तीन हजारकी आती है। कलम पैसेकी तीन और टाइपराइटर नौ सौ रुपयेका एक। इन सारी मौज-शौककी आवश्यकताओंसे गरीबीकी, अन्यायकी और उत्पादनकी आवश्यकताकी भी कुछ अंशोंमें भ्रान्ति हो जाती है और लोगोंको अधिक मजदूरी करनी पड़ती है या बेकारी सहन करनी पड़ती है। इससे यह पूँजीवादका आरा आते भी काटता है और जाते भी काटता है। मजदूरी भी कराता है और महँगाई भी लाता है। किंतु यह सारी सामाजिक घटना ऐसी बेकाबू होने लगी है कि कम्युनिस्ट—साम्यवादी उसके ऊपर शस्त्रक्रिया करनेके लिये तैयार हो गये हैं और पूँजीवादी उसको गाँवमें (कुछ सुख-शान्तिवाली प्रजामें) फैलाकर सारी दुनियाको उसके फंदेमें डालकर तैयार हो गये हैं कि फिर कोई बोलनेवाला न रहे। इस प्रकार पूँजीवाद और समाजवादके दोनों कण्टक एक दूसरेके विरुद्ध संग्राम करनेके लिये तैयार हो गये हैं, तब लोगोंको हसरत हो रही है और जो अधिक लोभ दिखलानेवाला साहित्य तैयार करता है, उसमें वे फँसते और बरबाद होते जा रहे हैं। इसलिये राज्य भी अब अपनी प्रशंसाका प्रचार करने लगे हैं। दूसरी ओरसे सब पशुओंको एक बाड़ेमें भरनेकी नासमझीके समान वर्ण-वर्ग, जात-पाँत, संस्कार, खान-पान सबका विचार दरकिनार करके सब मनुष्योंको एक बाड़ेमें करनेसे सब ऐक्य-सूत्रमें, बुद्धिमान् तथा सुख-शान्ति युक्त हो जायँगे ऐसा रासायनिक प्रयोगवाला बनावटी कल्याण-राज्य—'वेल्फेयर स्टेटका पथ' भी चला है और दूसरे पन्थ भी बढ़ते जा रहे हैं। 'क्योंकि—

'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना'

—तथा 'अक्लसे कोई हीन नहीं होता और पैसेसे कोई पूर्ण नहीं होता' इन कहावतोंके अनुसार सबसे राय-बात करके अन्तमें कहना यह है कि 'अरे भाई, तेरी गाड़ी आगे, और मेरी गाड़ीका मुँह आगे'—'पाँच और सातका जोड़ करनेवालेको खरा उत्तर है बारह;' परंतु बारहके सिवा गलत उत्तरका क्षेत्र अनन्त आकाश-जैसा, अथवा खाने-पीनेमें मिलावट-जैसा विशाल है। (शेष आगे)

श्रीसीतारामसे निवेदन

सवैया

जकड़े जग-जाल बिहाल फिरैं,
सबही बड़ छोट जो जीव की कोटी।
नहिं पावत ढूँढ़े पता—प्रभु कौं,
अनुमान लगावत हैं मति-मोटी।
कितनोई उपाय करौ बल-बुद्धि सों,
सिन्धु समात न पम्प की टोंटी।
कवि "श्रीरस" फाँदति है फुदकी,
उड़ि कै कहुँ शैल-सुमेरु की चोटी॥

घनाक्षरी

देतो दान जौन जन लेतो फेरि नाहिं ताहि,
जोरतो है नात-नेह नित्य नव निखरै।
स्वान कौं बुलावतो है स्वामी जो सनेह साथ,
देतो कौर भरपूर फिरि नाहिं फिसरै।
दीन-हीन-सिरस कौं सरस कियो है राम,
करुना करहु देखौं मुख माहिं तिसरै।
दीबे हेत दरस के खोलि द्वार दीन्हो नाथ,
सीताराम-सुरति न दिन रैन बिसरै।

—शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'

मुझे कोई पुकारता है

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'मुझे कोई कष्ट नहीं है, कोई भय नहीं है, कोई रोग भी नहीं है।' किसी चिकित्सकके पास, चाहे वह मनोवैज्ञानिक चिकित्सक ही क्यों न हो, ऐसा व्यक्ति कदाचित् ही आया होगा। 'मुझे केवल जानना है। मनोविज्ञानका एक अन्वेषक होनेके कारण मैं आपसे सहायता पानेकी आशा करता हूँ।'

'आप भी मनोवैज्ञानिक हैं?' चिकित्सकमें आदरका भाव आ गया। पहिले वे इस प्रकार मिले थे, जैसे अपने किसी नवीन रोगीसे मिलते हैं। परंतु अब तो स्थिति बदल गयी थी। उनके सामने उनके समान ही मनोविज्ञानका एक ज्ञाता था—उनका सहव्यवसायी न सही; किंतु उनका मित्र तो वह अपनेको कह ही सकता था। नम्रतासे डा० उपाध्याय बोले—'मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?'

'मैं मनोवैज्ञानिक तो नहीं हूँ; किंतु मनोविज्ञानका विद्यार्थी अवश्य अपनेको मानता हूँ।' उसने बताया—'मैंने पाश्चात्य मनोविज्ञानके अतिरिक्त भारतीय मनोविज्ञानका भी कुछ अध्ययन किया है और मुझे तो भारतीय मनोविज्ञान अधिक पूर्ण लगता है। परंतु इस समय तो मैं एक दूसरे विषयमें आपकी सम्मति और सहायता चाहता हूँ।'

'हम सभी विद्यार्थी हैं।' डा० उपाध्याय ठीक कह रहे हैं। विज्ञान विषय ऐसा है कि बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक आजीवन उसका नन्हा छात्र ही रहता है।

'मुझे कोई पुकारता है—जब मैं गाढ़ निद्रामें होता हूँ तो कोई मेरा नाम लेकर स्पष्ट मुझे पुकारता है।' उसने बतलाया—'सदा वह मुझे केवल दो बार पुकारता है, उत्तर-की ओरसे लगभग बीस-पचीस फीट दूरसे पुकारता है।'

'आपको स्मरण है, आप उस समय कैसे स्वप्न देखते हैं?' डा० उपाध्यायने पूछा।

'मैं कोई स्वप्न नहीं देखता महोदय!' वह हँसा—'आप मेरी पूरी बात सुन लें, यह अच्छा होगा। यह अन्तर्मनका कार्य नहीं है। मैंने इस विषयमें बहुत सोचा है।'

'अच्छा!' डाक्टरका स्वर स्पष्ट कह रहा था कि उनसे जो कुछ कहा जा रहा है, उसपर वे पूरा विश्वास नहीं करते। वे माननेको प्रस्तुत नहीं कि यह अन्तर्मनका कार्य नहीं है।

'मैं वैसे भी बहुत कम स्वप्न देखता हूँ। परंतु यह पुकार प्रायः तब आती है, जब मैं गाढ़-निद्रामें होता हूँ।' उसने विवरण दिया—'मुझे अच्छी निद्रा आती है। इतनी गाढ़ी नींद सोता हूँ कि सिरके पास ढोल बजता रहे तो भी मेरी निद्रामें बाधा नहीं पड़ती। आवश्यकता पड़नेपर मुझे पुकारकर जगानेवाले पुकारते-पुकारते प्रायः झल्ला उठते हैं।'

डाक्टर कुछ बोले नहीं! वे चुपचाप सुन रहे थे। अवश्य ही अपने सदाके अभ्यासके अनुसार उनके हाथमें पेन्सिल थी और मेजपर पड़े कागजपर वे कुछ शब्द नोट कर लेते थे बीच-बीचमें।

'मुझे स्वयं आश्चर्य है, जब यह पुकार आती है, मेरी गाढ़ी निद्रा पहिली ही पुकारमें टूट जाती है।' उसने बताया 'परंतु नेत्र खोलने या सिर उठानेसे पूर्व ही दूसरी बार पुकार आती है। दूसरी बारका पुकारना मैं सदा जागकर पूरी सावधानीमें सुनता हूँ।'

'जब आप उठते हैं, आपको कैसा लगता है?' डाक्टरने बीचमें पूछा।

'अच्छी निद्रासे उठनेपर एक स्वस्थ व्यक्तिको जैसी स्फूर्ति तथा ताजगीका अनुभव होता है।' डाक्टरकी आशाके सर्वथा विपरीत उसने बताया—'मुझे उस पुकारसे उठनेपर न कभी भय लगा, न आलस्य जान पड़ा। मन प्रसन्न रहता है, शरीरमें स्फूर्ति रहती है, जैसे मैं जगाया नहीं गया हूँ, निद्रा पूरी होनेपर स्वयं उठा हूँ।'

'दुबारा नींद आनेमें कितना समय लगता है?' डाक्टरने फिर पूछा।

'यह सर्वदा मेरी इच्छापर रहा है।' उसने फिर डाक्टरकी आशाके विपरीत उत्तर दिया—'कभी मैं लघुशंकादि कर दस-पंद्रह मिनट बाद सोता हूँ, कभी केवल सिर उठाकर देखकर एक मिनट बाद सो जाता हूँ और कभी तो नेत्र भी नहीं खोलता; क्योंकि अभ्यस्त होनेसे

यह बात तुरंत मनमें आ जाती है कि यह वही पुकार है । नेत्र बंद करके सो जानेका प्रयत्न करते ही निद्रा आ जाती है—पहलेकी भाँति स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा ।'

'समस्या टेढ़ी है ।' डाक्टरने गम्भीरतासे कहा—'मैं पूरा इतिहास सुनना चाहता हूँ ।'

'मैं लगभग पाँच वर्षका होऊँगा जब पहली बार यह पुकार मुझे सुनायी पड़ी' उसने बतलाना प्रारम्भ किया—'ग्राममें अपने घरके बाहर सो रहा था । मेरे द्वारपर चहार-दीवारीसे घिरी पर्याप्त भूमि थी । पिताजीके साथ उनके पलंगसे लगी मेरी छोटी खाट थी । सामने २०–२५ फीट दूर उत्तरकी ओर दूसरे मकानकी पिछली दीवार पड़ती है, जिसमें कोई खिड़की नहीं । गाँवोंके लोग घरोंकी पिछली, बाहरी दीवारोंमें खिड़कियाँ नहीं बनाते । चोरीसे रक्षाके लिये यह पद्धति ठीक ही है । रात्रिके तीसरे प्रहरमें सामनेके मकानकी दीवारसे सटकर जैसे किसीने मुझे पुकारा ।'

डाक्टर उपाध्याय चुपचाप सुनते रहे और नोट करते रहे । 'स्पष्ट स्वरमें केवल मेरा नाम लेकर पुकारा गया । मेरे नेत्र खोलनेसे पहले दूसरी बार मेरा नाम लिया गया । मैं उठ बैठा । पिताजीको जगाकर मैंने बताया । उन्होंने केवल आश्वासन दिया कि 'डरनेकी कोई बात नहीं ।' परंतु भय तो मेरे मनमें उस समय तनिक भी नहीं था । वैसे मैं बचपनमें अँधेरेमें जाते बहुत डरता था; किंतु उस पुकारसे जगनेपर मुझे कभी भय नहीं लगा ।'

डाक्टर इस प्रकार देख रहे थे जैसे अभी और कुछ सुनना चाहते हों । वह कहता गया—'पहली पुकारपर मैं प्रायः 'क्या है ? कौन है ?' आदि बोल पड़ता था । परंतु धीरे-धीरे अभ्यस्त हो जानेके कारण अब तो केवल 'हूँ' या 'जी' कहकर रह जाता हूँ । पुकारका वह स्वर मुझे कभी नहीं भूलेगा । मैं इतना ही कह सकता हूँ कि वह नारीका कण्ठस्वर नहीं है । परंतु पुरुषका कण्ठस्वर गम्भीर और कोमल भी होता है—यह उस पुकारके अतिरिक्त मैं सोच ही नहीं सकता । वैसा स्वर कभी कहीं सुननेको मिलेगा, ऐसी आशा नहीं ।'

× × ×

[२]

'आपके कुलमें किसीको सोते-सोते चलनेका रोग रहा है ?' डाक्टर उपाध्यायने बहुत देर मस्तक झुकाकर सोचा और तब वह अद्भुत प्रश्न किया ।

'रहा है' उसने बताया—'मेरे पिताजी बतलाते थे कि पहले किसी समय कुछ महीनोंतक उनकी यह अवस्था रही कि पलंगपर सोते थे और सबेरे उठनेपर देखते थे कि गायोंके सामने घास-भूसा डालनेकी चरनी (लम्बे कच्चे हौदे) में लेटे हैं ?'

'यह रोग कैसे दूर हुआ ?' डाक्टरने पूछा ।

'पिताजी तो इसे रोग मानते ही नहीं थे । वे भगवती दुर्गाके उपासक थे और मानते थे कि देवीका ही यह कोई चमत्कार है ।' उसने निःसंकोच बतलाया—'उनका रोग जैसे अकस्मात् प्रारम्भ हुआ था, वैसे ही अकस्मात् अपने आप चला भी गया और दुबारा फिर कभी नहीं लौटा ।'

'आप जानते हैं कि मनोविज्ञान भूत-प्रेत तथा देव-चमत्कारोंमें विश्वास करके नहीं चलता ।' डाक्टरने उसकी ओर देखा !

'मैं भी सोचता हूँ कि किसी प्रकार निर्णायक मन उनका स्वप्नावस्थामें जाग्रत् हो जाता था ।' उसने कहा ।

'आपकी बात मैं ठीक समझ नहीं सका ।' डाक्टरने बाधा दी ।

'पाश्चात्त्य मनोवैज्ञानिक मनके दो भाग करते हैं—बहिर्मन और अन्तर्मन । परंतु भारतीय मनोवैज्ञानिक चार भाग मानते हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ।' उसने अपनी व्याख्या सुनायी—'जाग्रत् अवस्थामें हम संकल्प करते हैं और उसके अनुसार कार्य करें या न करें, यह निर्णय भी करते हैं । पाश्चात्त्य मनोविज्ञान इन दोनोंको ही बहिर्मनका कार्य मानता है; किंतु भारतीय मानते हैं कि संकल्प करना मनका कार्य है और निर्णय करना बुद्धिका । इस बुद्धिका ही नाम आधुनिक मनोविज्ञानके शब्दोंसे मेल बैठानेके लिये मैंने 'निर्णायक मन' रख लिया है ।'

डाक्टरको अभी कुछ बोलना नहीं था । वह कहता गया—'अन्तर्मनको भारतीय चित्त कहते हैं । उसकी व्याख्या और कार्यकी मान्यतामें कोई मतभेद नहीं । वह संस्कारात्मक—स्मृतियोंका कोषागार है । स्वप्नके समय वही कार्य करता है । परंतु उसमें निर्णयकी शक्ति न होनेसे स्वप्नोंमें कोई क्रम, कोई ठीक व्यवस्था नहीं रहती । स्वप्नमें ऊँटके धड़पर बकरीका सिर या बकरीके हाथी-जैसी सूँड़ इसी अव्यवस्थाके कारण दीखती है ।'

अब भी डाक्टर कुछ बोले नहीं । वे गम्भीरतासे सुन रहे थे । उसने बताया—'यहीं भारतीय मनोविज्ञानकी मान्यता

कि मनके चार भाग हैं—बहुत महत्त्वकी जान पड़ती है। सामान्य अवस्थामें बहिर्मन (मन) और निर्णायक मन (बुद्धि) दोनों सो जाते हैं साथ ही। यदि अन्तर्मन भी सो जाय तो गाढ़ निद्रा आ जायगी। अन्तर्मन जागता रहे तो स्वप्न दीखेंगे। परंतु किसी कारण केवल बहिर्मन सो जाय और अन्तर्मनके साथ निर्णायक मन (बुद्धि) भी जागता रहे तो मनुष्य जाग्रत्के समान व्यवस्थित रूपमें कार्य करने लगेगा। अन्तर्मनमें संस्कार तो हैं ही, निर्णायक मन उन्हें व्यवस्था देकर शरीरको उनके अनुसार चलाने लगता है।'

'मैंने ऐसी घटनाएँ बहुत पढ़ी हैं कि लोगोंने निद्रासे उठकर लेख या पत्र लिखे हैं, दुर्गम यात्राएँ की हैं। यह सब उन्होंने अनजानमें सोते-सोते किया है।' डाक्टर उपाध्याय अब बोले—'इससे आपकी व्याख्या—आपका मनोविभाजन तो ठीक लगता है; परंतु अहंकार आप किसे कहते हैं ?'

'वैज्ञानिकके लिये—विशेषतः यूरोपीय वैज्ञानिकके लिये इसे समझना बहुत कठिन है। वह यही जानता है कि शरीरमें रक्तका प्रवाह तथा हृदयकी गति अपने आप होती है। मनका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं।' उसने समझाया—'परंतु आप भारतीय हैं, आपने देखा भले न हो; किंतु यह सुना होगा कि योगी जब समाधि लगा लेता है, तब हृदयकी गति तथा रक्तका प्रवाह भी बंद हो जाता है। समाधिका अर्थ है—सम्पूर्ण मनोनिग्रह अर्थात् मनके सब कार्यालयोंको बंद कर देना। मनके निरोधसे जो कार्य रुक जाते हैं, उनका संचालन मनके द्वारा होता है, यह समझना कठिन नहीं है। शरीरका पूरा अन्तर्बहिःसंचालन मनके द्वारा ही होता है। मनके इस संचालक भागको, जो गाढ़ निद्रामें भी सदा जाग्रत् रहता है, अहंकार कहते हैं। आप सुविधाके लिये चाहें तो इसे संचालक मन कह सकते हैं।'

'हम अपने वास्तविक विषयसे बहुत दूर चले आये, यद्यपि मुझे इससे लाभ ही हुआ।' डाक्टर उपाध्याय बोले—'मैं आपके इस विवेचनको और समझना चाहूँगा यदि आप समय देंगे।'

'परंतु मेरी समस्या इससे किसी प्रकार सुलझती नहीं।' उसने कहा—'मैं बहुत सोचकर थक गया हूँ। जो पुकार आती है, वह मानव-कण्ठसे इतनी भिन्न होती है कि उसके संस्कार मेरे भीतर होंगे, यह विश्वास करनेकी बात नहीं है। मैं स्वप्नावस्थामें उसे सुनता तो वह मेरे अन्तर्मनका कार्य हो सकता था, पर मैं तो घोर निद्रामें उसे सुनता हूँ। कब सुनूँगा यह समय भी निश्चित नहीं। चार दिनसे लेकर महीनोंतकके अन्तर पड़े हैं उसे सुननेमें।'

'मेरी समझमें कुछ नहीं आया, यह कहनेमें मुझे कोई लज्जा नहीं है।' डाक्टर उपाध्यायने बड़ी सरलतासे कह दिया। 'परंतु यहाँ गङ्गा-किनारे एक विरक्त संत आये हैं दो दिनसे। मुझे तो अच्छे साधु लगते हैं। आप उनके दर्शन कर आयें। जहाँ विज्ञान असफल होता है—इन महात्माओंकी शरण वहाँ अनेक बार सफल होते देखी गयी है।'

× × ×

[३]

'महाराज ! मुझे कोई पुकारता है।' वह आस्तिक है और जब एक अच्छे मनोवैज्ञानिक किसी साधुकी प्रशंसा करते हों, तब उन महापुरुषके दर्शन करनेकी उत्कण्ठा किसको नहीं होगी। वह सायंकाल महात्माके दर्शन करने पहुँच गया। वे एक वटवृक्षके नीचे बैठे थे। एकान्त देखकर उसे प्रसन्नता हुई। प्रणाम करनेके पश्चात् अपनी समस्या उसने सुना दी।

'विश्वका कण-कण चञ्चल हो रहा है।' संतने अपने ढंगसे बात प्रारम्भ की—'प्रत्येक अणु गतिशील है। प्रत्येक प्राणी आकुल है कुछ करनेके लिये, कुछ पानेके लिये। इस गतिका, इस क्रियाका, इस आकुलताका एक ही अर्थ है—कोई पुकार रहा है। उसके पासतक जाना है। उसे पाये बिना विश्राम नहीं है। उसतक पहुँचे बिना सुखसे सोया नहीं जा सकता।'

'परंतु मुझे तो कोई नाम लेकर पुकारता है। मैं उसकी पुकार सुनता हूँ।' उसने फिर पूछा—'वह क्या चाहता है ? क्यों पुकारता है मुझे ? कौन है वह ?'

'वह तो सभीको पुकार रहा है। यह सारी व्यग्रता उसकी पुकारकी ही प्रतिध्वनि है।' संतने अपनी ही बात कही—'उसकी पुकार कहाँ प्राणी सुनते हैं। वह पुकारता है, वह चाहता है कि इस अपूर्णतासे उस परम पूर्णकी गोदमें लोग पहुँचें। वह कौन है, यही तो जानना है। उसे जान लो बस, काम पूरा हो गया।'

'महाराज !' उसका समाधान नहीं हो रहा था। परंतु संतने बीचमें ही रोककर बात समाप्त कर दी—'उसकी पुकार सुनो ! इसमें तुम्हारा परम सौभाग्य है कि यह स्मरण रक्खो कि तुम्हें कोई पुकारता है।'

बड़े अद्भुत होते हैं ये साधु। बाबाजी तो उठे और चल खड़े हुए। वह दो क्षण खड़ा रहा उनको जाते हुए देखता। व्यर्थ था अब उनके पीछे जाकर कुछ पूछना। वे अपनी मस्तीमें चले जा रहे थे। लौट आया वह; किंतु······।

सत्कथा

(१)

ईश्वरीय प्रेरणा

[सच्ची घटना]

(लेखक—श्रीसुखदेवविहारीलालजी माथुर)

मेरे पुत्र भुवनेश्वरीशङ्करकी यह हार्दिक अभिलाषा थी कि वह एफ्० ए० परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके पश्चात् डाक्टरीका अध्ययन करे। उसने एफ्० ए० में बायलाजी विषय लिया था। संयोगवश कथित परीक्षामें वह तृतीय श्रेणीमें पास हुआ।

उसने डाक्टरीका अध्ययन करनेके लिये प्रार्थना-पत्र श्रीप्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, जयपुर एवं बीकानेरको दिया, परंतु उक्त श्रेणीमें उत्तीर्ण होनेसे उसका प्रवेश कालेजमें नहीं हो सका एवं उसकी मनःकामना, जो अत्यधिक थी, पूर्ण न हो सकी। अन्तमें उसे बी० एस्-सी० में अध्ययन करनेके लिये विवश होना पड़ा।

ईश्वरीय प्रेरणावश मैं एक महीनेके पश्चात् जयपुर गया। मेरे एक परम मित्र श्रीहरिकृष्णदयालजी जज साहब मेरे मकानपर मुझसे मिलनेके लिये आये। उस समय मैं आमेर गया हुआ था। आमेरसे लौटनेपर मुझे मालूम हुआ कि जज साहब मुझसे मिलने आये थे। मैं उसी समय उनके घर पहुँचा। पहुँचनेपर मालूम हुआ कि वे मेड़ता जानेके लिये स्टेशन गये हैं। उनके घरपर चाय-पान करनेका आग्रह किया एवं मैं अत्यधिक थका हुआ था; परंतु ईश्वरीय प्रेरणावश वहाँ नहीं ठहरकर उसी क्षण स्टेशन पहुँचा। संयोगवश गाड़ी पंद्रह मिनट लेट हो गयी। जज साहब मुझसे मिले। परस्पर वार्तालाप हुआ। उन्होंने अपने पुत्रके बारेमें चर्चा की कि मेरा पुत्र बीकानेर मेडिकल कालेजमें अध्ययन कर रहा है। यह सुनकर मुझे अपने पुत्रका ध्यान आया। मैंने उनसे कहा कि 'भुवनेश्वरीशङ्करका मेडिकल कालेजमें प्रवेश न होनेसे उसको बी० एस्-सी०में भर्ती होना पड़ा।'

११ अगस्त ५५ को जज साहबके पुत्रने मुझे टेलिग्रामद्वारा सूचित किया कि भुवनेश्वरीशङ्करको शीघ्र बीकानेर भेज दीजिये। मेरा लड़का दूसरे दिन बीकानेर चला गया। १३ अगस्त ५५ को प्रातःकाल वह मेडिकल कालेजमें प्रिंसिपल महोदयके पास उपस्थित हुआ और उन्होंने ही उसका दाखला कर दिया।

कुछ समय व्यतीत होनेपर मालूम हुआ कि जज साहबने मेरे स्टेशनपर मिलनेके पश्चात् अपने पुत्रको पत्र लिखा कि माथुर साहबके लड़केकी मेडिकल कालेजमें भर्ती नहीं हुई है। जज साहबके पुत्रने वहाँ-की पूरी जानकारी प्राप्त की कि कालेजमें एक विद्यार्थी-की जगह खाली है, बादमें मुझको तार दिया।

इस सारी घटनाका वर्णन करनेका उद्देश्य यह है कि जिस कार्यको मनुष्य असम्भव समझता है एवं स्वप्न-सदृश मान लेता है, वह कार्य भी ईश्वरीय कृपावश

पूर्ण हो जाता है। जिस प्रकार मेरे पुत्रकी आशा निराशामें परिणत हो गयी थी, परंतु अकस्मात् उसका प्रवेश मेडिकल कालेजमें हो गया जो कि स्वप्न-सदृश मिथ्या हो चुका था !

(२)

मानसमें कथा

(लेखक—श्रीघासीरामजी भावसार, विशारद)

सावधान

जातिसे शूद्र किंतु श्रद्धा-भक्तिसम्पन्न वृद्धा शबरीकी कुटियापर पधारे हैं, पतितपावन भगवान् श्रीराम। धर्मपरायणा तापसीके तो आनन्दका पार न रहा। नाच-नाचकर वनके पके हुए मूल एवं मधुर फल अर्पण करने लगी—

'अधम हूँ! अधमसे भी अधम जड़मति नारी हूँ।'

'स्त्री है तो क्या हुआ ? भिल्लनी है तो क्या हुआ ? प्रबल सम्बन्ध तो भक्तिका है, भामिनी ! शूद्रों तथा नारियोंके लिये नवधा-भक्तिका स्वरूप, साध्वी ! सावधान* होकर सुन—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

संतोंका संग और भगवत्-कथाका श्रवण।

साँपके बिल

भक्तिके अनेकानेक प्रकारोंमें—कहीं-कहीं सर्वप्रथम—आता है 'श्रवण'। श्रुति अथवा कानके माध्यम-द्वारा सभी प्रकारके शब्द अन्तस्तलमें प्रविष्ट होते हैं, धन्य हैं वे कर्ण-गह्वर, जिनमें निरन्तर हरिनामका प्रवेश होता रहता है। हरिकथा सुननेवाले कान सार्थक हैं; वे चर्म-श्रोत्र नहीं—

'जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना।
श्रवनरंध्र अहि भवन समाना॥

श्रीरामकी कथा

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम हैं सर्वगुणसम्पन्न; फिर उनकी कथामें कौन-सा गुण न होगा ? शुभ, सुन्दर, मधुर, पावन, विशद, बिमल, सुखद, सुहाई, विचित्र, अलौकिक, मंगलकरनि आदि-आदि सभी कुछ तो हैं—

'सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरित मानस बिमल।'

× × ×

'राम कथा सुंदर करतारी।

× × ×

'तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की।

× × ×

'कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी।

× × ×

'पूँछिहु रामकथा अति पावनि।

× × ×

'कहहु राम के कथा सुहाई।

× × ×

'मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।

× × ×

'सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि।'

उपर्युक्त प्रसंगमें शबरीको जो सावधान करके कहा गया है वह न केवल त्रेता ही वरं कलियुगके शूद्रों तथा स्त्रियोंके लिये भी माननीय है।

---

* सावधान सुनु धरु मन माहीं। श्रीरामचरितमानसमें, जहाँतक हमने खोज की, भगवान् रामको कहीं भी, किसी भी पात्रको किसी भी प्रसंगमें सावधान करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, वैसे तो जो संत होते हैं, वे सदा ही सावधान रहते हैं—

'सावधान' मानद, मदहीना।'

असावधानी, प्रमाद अथवा आलस्य संतोंसे कभी नहीं होता, किंतु स्त्रियोंका स्वभाव चपल होनेके कारण उन्हें यदा-कदा सावधान करनेकी आवश्यकता होती है। भगवान् शिवने पार्वतीजीको मानसकथावर्णनमें बार-बार सावधान किया है यथा—

'सावधान सुनु सुमति भवानी।'

× × ×

सुरधेनु-सम

सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्! यह तो हुई काशीके विश्वनाथ बाबाकी पण्डितोंको मिली हुई सम्मति। अब रामकथाकी जिज्ञासु भगवती पार्वतीसे भगवान् क्या कहते हैं। सुनिये—

'राम कथा सुरधेनु सम, सेवत सब सुख दानि।'

संसारके सभी प्रकारके सुख प्रदान करनेवाली मानसकी कथा!

ठीक है, दुःख मिलते हैं विषयमननसे—विषय-सेवनसे। और मानसमें—

'इहाँ न बिषय कथा रस नाना।'

विषयकथाका नितान्त अभाव। यही इसका दोष है, अवगुण है। आलोचकोंकी धारणा जो ठहरी।

'प्रभु पर प्रीति न सामुझि नीकी।
तिन्हहिं कथा सुनि लागहि फीकी॥'

फीकापन! होगा ही। सुप्यारी (सुपारी) प्रीतिके बिना कथा (कत्था) का रसपान (ताम्बूल) कैसा?

'कल्याण'ने गत वर्ष संत-वाणी-अङ्क निकालकर संतोंका सङ्ग—सत्सङ्ग कराया था। इस वर्ष भक्तिके दूसरे अङ्ग कथा—सत्कथाओंका प्रकाशनकर मानव-कल्याणके पथमें एक पग और आगे बढ़ाया है, जो स्तुत्य है।

'बिनु सतसंग न हरि-कथा तेहि बिनु मोह न भाग।'

(३)

जहाँ नास्तिक भी आस्तिक बन जाते हैं

(लेखक—श्रीविश्वनाथजी कुलश्रेष्ठ)

यह विगत द्वितीय महायुद्धकी एक सच्ची घटना है। एक विमानचालक शत्रुदेशकी स्थितिके चित्र लेनेके लिये रवाना हुआ। पर अपने गन्तव्यपर पहुँचनेसे पूर्व ही विमानभेदी तोपकी गोलियाँ उसके विमानमें लगीं। इससे उसके दोनों इंजिन बेकार हो गये। उस समय वह विमान भूमध्यसागरके ऊपर उड़ रहा था। इंजिन बेकार होनेपर विमान नीचेकी ओर गिरने लगा। इस समयतक चालकको पूरा होश था और अपने विमानकी इस दुर्घटनाका एक-एक विवरण भलीभाँति स्मरण था। इसके बादकी घटनाके बारेमें उसे स्मरण नहीं; क्योंकि सम्भवतः उसका विमान समुद्रमें गिरकर तत्काल डूब गया होगा और उसके साथ वह विमान-चालक और उसके साथी भी समुद्रके अतल गर्तमें चले गये होंगे।

इसके बादकी दूसरी, जिस घटनाका उसे स्मरण था, वह यह है कि वह चालक समुद्रकी लहरोंपर तैर रहा है और अपनेको डूबनेसे बचानेकी जीतोड़ कोशिशमें लगा हुआ है। पर उसका एक पैर घुटनेके पाससे कट गया है। उसके पैरसे प्रचुर मात्रामें रक्त बह रहा है और ऐसा लगता है कि मानो वह पानीके बजाय रक्तके सागरमें ही उतरा रहा हो। उसके पैरसे इतनी तेजीसे खून निकल रहा था कि उसकी प्राणशक्ति लगातार घटती जा रही थी। उसे लग रहा था कि वह कुछ ही क्षणोंका मेहमान है। अचानक उसके शरीरसे लकड़ीका एक तख्ता टकराया। यह विमानमें लगी हुई प्लाईवुडका तख्ता था और आश्चर्यकी बात यह थी कि इस तख्तेके ऊपर 'फर्स्ट एड चिकित्सा' का वह बक्सा भी रक्खा हुआ था जो उसके विमानमें रक्खा रहता था। चालकने जिस किसी तरह फर्स्ट एडके बक्सेको खोला और उसमेंसे कपड़ेकी पट्टी निकालकर अपनी जाँघपर कसकर बाँध ली, जिससे खूनका बहना रुक गया। इतनेमें ही ऊपरसे एक विमान उड़ता हुआ गुजरा। विमानमें बैठे हुए व्यक्तिने समुद्रकी लहरोंसे संघर्ष करते हुए इस व्यक्तिको देखा तो अपने विमानसे हवा भरा हुआ रबरका एक पहिया नीचे गिरा दिया। लहरोंसे संघर्ष करनेवाले चालकने उस पहियेको पकड़ लिया और उसके सहारे वह लहरोंपर तैरने लगा। थोड़ी देर बाद पानीका एक

जहाज वहाँसे गुजरा और उसने उस चालकको अपने ऊपर चढ़ा लिया । अकल्पनीय घटनाओंकी सृष्टि करने और आसन्न मृत्युके मुखमेंसे भी बचा निकालनेकी सामर्थ्यवाले सर्वशक्तिमान् जगन्नियन्ताके प्रति कृतज्ञतासे अभिभूत होकर उस विमानचालकका मुख आँसुओंसे भीग गया ।

एक दूसरे विमानचालककी आपबीती सुनिये । यह चालक शत्रुओंपर बमवर्षा करके अपना बमवर्षक विमान लेकर स्वदेश लौटा । पर बमवर्षा करते समय एक छोटा बम उसके विमानके पंखेके पास बिना फटे हुए अटक गया था । वापस लौटकर जब उसका विमान जमीनपर उतरा तो जमीनसे छूनेपर हल्का-सा धक्का लगा, जिससे पंखेके पास अटका हुआ वह बम धड़ाकेके साथ फटा । बमका फटना था कि विमानकी टंकीमें भरे हुए पेट्रोलने आग पकड़ ली और पलभरमें बिजलीकी टार्चकी भाँति सारे विमानमें आग लग गयी । चालक खिड़की खोलकर भागनेका प्रयत्न करने लगा, पर वह सीटसे बेल्टोंद्वारा बँधा हुआ था । वह बेल्टें खोलने लगा । चारों ओर आग लगी हुई थी, जिससे उसकी हाथोंकी अँगुलियाँ प्रतिपल शिथिल होती जा रही थीं । इसके पूर्व कि वह बेल्टोंको खोल पाये, वह संज्ञाहीन हो गया । इसके बाद उसे पता नहीं कि क्या हुआ । अन्तिम बात जो उसे याद थी, वह यह कि उसने अपना अन्त आया देखकर भगवान्से प्रार्थना की थी—'हे भगवन् ! मेरी मदद कर ।' दूसरी बात जो उसे याद थी वह यह कि वह अस्पतालमें रोगियोंकी चारपाईपर लेटा हुआ है और डाक्टर उसके ऊपर झुका हुआ है । किसीको भी यह पता नहीं कि जलते हुए विमानके भीतरसे उसे कब और किस प्रकार जीवित बाहर निकाला गया । उसने कहा कि मुझे यह विश्वास हो गया कि भगवान्ने मेरी आर्त पुकार सुनी और मुझे तत्क्षण बाहर निकाल लिया ।

अधिकांश युवक जिस समय विमानचालककी ट्रेनिङ्ग लेनेके लिये भरती होते हैं, उस समय वे नास्तिक होते हैं । उनका विश्वास होता है कि चालकका कार्य मनुष्यमें असाधारण साहस और वीरताकी अपेक्षा करता है—ईश्वर नामकी काल्पनिक सत्ताकी अदृश्य शक्तिपर भरोसा करना चालकके पेशेके साथ मेल नहीं खाता । पर ये युवक ट्रेनिङ्ग लेनेके बाद जब विमान लेकर उड़ते हैं, तब ऐसी-ऐसी अदृश्य परिस्थितियाँ सामने आती हैं और वे ऐसे कल्पनातीत परिणामोंमें बदल जाती हैं कि चालकोंके मन अदृश्य शक्तिके प्रति बलात् आस्थावान् हो जाते हैं । अपने पेशेका व्यावहारिक अनुभव इनमें यह विश्वास पैदा कर देता है कि ऐसी परिस्थितिमें जहाँ कोई सहायता उपलब्ध नहीं हो सकती, वहाँ भगवान्का सहारा काम आता है और दुर्घटना होनेपर केवल उसकी ही सहायतासे मनुष्यका उद्धार सम्भव है । जैसे-जैसे ये अकल्पित घटनाएँ दोहराती चलती हैं, वैसे-वैसे विमानचालकके मनमें ईश्वरकी सत्ताके प्रति आस्था दृढ़ होती जाती है ।

एक विमानचालकने, जो उस समयतक नास्तिक था, अपने जीवनको मोड़ देनेवाली एक घटना सुनायी । यह भी विगत महायुद्धके समयकी ही घटना है । यह चालक रसद लेकर अपने वायुयानमें बैठा हुआ जा रहा था कि अचानक सामनेसे आते हुए जर्मन बम-वर्षकोंका काफिला दिखलायी दिया । शत्रुके विमानोंका बड़ा भारी काफिला देखकर वह अकेला विमानचालक इतना घबरा गया कि उसका मस्तिष्क आगे कुछ ही नहीं देख पाया । इतनेमें पास ही बैठे हुए उसके सहयोगी गनर (विमानमें लगी हुई मशीनगन चलानेवाला) ने जोरसे कहा, 'विमानको मोड़ो' । पर उस समयतक शत्रुके बम-वर्षक बहुत समीप आ गये थे । यदि वह विमान मोड़ता भी तो भी उन बम-वर्षकोंकी गोलीकी मारके दायरेसे बाहर नहीं जा सकता था ।

अतः कोई चारा न देखकर वह मौन होकर भगवान्से रक्षाके लिये प्रार्थना करने लगा। गनर अपना गला फाड़कर पुनः चिल्लाया—'अरे सुनता नहीं, विमानको तत्काल मोड़।' पर विमानचालक एकदम मौन रहा। यह देखकर अपनी अन्तिम घड़ी निकट आयी जान वह गनर भी मौन होकर अपने पापोंके लिये भगवान्से क्षमा करनेकी प्रार्थनामें लीन हो गया। पता नहीं क्यों, उन जर्मन बम-वर्षकोंके काफिलेके नेताके दिमागमें क्या विचार आया कि सारा-का-सारा काफिला कुछ ही क्षणोंके भीतर मुड़ा और जिस ओरसे आ रहा था उसी ओर भागने लगा और समस्त बमवर्षक क्षणोंमें ही दृष्टिसे दूर होते हुए ओझल हो गये। पर उस विमानचालक और उसके सहयोगी गनरको यह विश्वास हो गया कि उनकी सच्चे मनसे की गयी प्रार्थनाने ही उन्हें मौतके मुखमेंसे बाहर निकाल लिया।

एक चालक शत्रुके प्रदेशपरसे गुजर रहा था कि उसका विमान शत्रुकी विमानभेदी तोपोंकी मारके भीतर आ गया। तत्काल उसने अपने विमानको आकाशकी ओर मोड़नेकी चेष्टा की, पर विमानकी संचालन-व्यवस्थाने काम करना बंद कर दिया। उधर भूमिपरसे विमानभेदी तोपोंसे गोलियाँ छूटने लगीं। अन्त समय निकट आया देखकर विमानचालकने आर्त वाणीमें भगवान्से निवेदन किया—'हे भगवन्! सिर्फ इसी बार मुझे बचा ले, चाहे फिर न बचाना।' पलभरमें न मालूम क्या हुआ कि विमानकी संचालन-व्यवस्थाने काम करना प्रारम्भ कर दिया और चालक विमानको मोड़कर तत्काल दूर आकाशमें उड़ गया।

एक चालकको अपना पेशा प्रारम्भ करनेके कुछ समय बाद अपनी पत्नी और बाल-बच्चोंकी चिन्ता रहने लगी। वह यह सोचता रहता कि यदि मैं किसी दुर्घटनामें समाप्त हो गया तो मेरी पत्नी और बच्चोंकी व्यवस्था कैसे होगी। वह इसी सोच-विचारमें रहा करता था कि एक दिन उसे लड़ाईके मोरचेपर जानेका आदेश आ गया। अब तो उसकी जान बचना लगभग असम्भव ही हो गया। उसे अपने मृत पिताका कहा हुआ यह वचन याद आया कि जब विश्वमें सब सहारे समाप्त हो जाते हैं, तब भगवान्का सहारा ही काम देता है। चालकको यद्यपि भगवान्में आस्था नहीं थी, पर मनको ढाढ़स देनेके लिये भी कोई वस्तु न थी। अपनेको नितान्त निःसहाय पाकर उसके मनमें अपने पिताका उक्त वचन बार-बार याद आने लगा। अन्तमें जब वह मोरचेपर चलने लगा, तब उसने दीन होकर भगवान्से प्रार्थना की—'हे भगवन्! यदि तू वास्तवमें कहीं हो तो मेरी पत्नी और बच्चोंकी मदद करना। मैं तेरे ही सहारे उन्हें छोड़े जाता हूँ।' यह प्रार्थना कई बार करनेके पश्चात् वह लड़ाईपर चला गया। लड़ाई समाप्त होनेपर वह सुरक्षितरूपसे वापस लौट आया। तबसे ईश्वरके प्रति उसका विश्वास निरन्तर बढ़ता गया।

एक अमरीकी विमानचालकने अपने कमरेमें इस प्रकारके वाक्य लिखकर टाँग रखे थे—'जब तुम कष्टमें होओ, तब भगवान्से सहायताके लिये प्रार्थना करो। वह इसमें सीमासे अधिक उदार है। जब तुम कष्टमें न होओ, तब भी उसे स्मरण करना न भूलो। उससे प्रतिदिन किया गया आत्मनिवेदन व्यर्थ नहीं जाता। भगवान् ही एकमात्र ऐसा अति सहृदय व्यक्ति है जो किसी भी समय और किसी भी परिस्थितिमें सहायताके लिये तैयार रहता है—अन्य किसीमें इतनी अधिक उदारता नहीं।'

और यही भावनाएँ अधिकांश विमान-चालकोंकी बन जाती हैं।



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुस्तकका नया संस्करण

बृहदारण्यकोपनिषद्

(मन्त्र, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित)

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या १३८४, सुन्दर ६ तिरंगे चित्र, हाथकर्घेसे बने कपड़ेकी सुन्दर जिल्द, मूल्य ५॥) मात्र । डाकखर्च २।=) ।

बृहदारण्यक उपनिषद् यजुर्वेदकी काण्वी शाखाके वाजसनेयिब्राह्मणके अन्तर्गत है । कलेवरकी दृष्टिसे यह समस्त उपनिषदोंकी अपेक्षा 'बृहत्' है तथा अरण्य (वन) में अध्ययन-की जानेके कारण इसे 'आरण्यक' कहते हैं । इस प्रकार 'बृहत्' और 'आरण्यक' होनेके कारण इसका नाम बृहदारण्यक हुआ है । यह बात भगवान् भाष्यकारने ग्रन्थके आरम्भमें ही कही है । वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य अर्थतः भी इसकी बृहत्ता स्वीकार करते हैं—'बृहत्त्वाद् ग्रन्थतोऽर्थाच्च बृहदारण्यकं मतम् ।' (सं० वा० ९) भाष्यकारने भी जैसा विशद और विवेचनापूर्ण भाष्य बृहदारण्यकपर लिखा है, वैसा किसी दूसरी उपनिषद्पर नहीं लिखा । उपनिषद्-भाष्योंमें इसे हम उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति कह सकते हैं ।

इस उपनिषद्की प्रतिपादन-शैली बहुत ही सुव्यवस्थित और युक्तियुक्त है । इसमें कुल छः अध्याय हैं । इसमें दो-दो अध्यायोंके मधु, याज्ञवल्कीय और खिलसंज्ञक तीन काण्ड हैं । इनमेंसे मधु और खिल काण्डोंमें प्रधानतया उपासनाका तथा याज्ञवल्कीयकाण्डमें ज्ञानका विवेचन हुआ है । भाष्यकारने इसकी व्याख्या करते हुए अपना हृदय खोलकर रख दिया है । ग्रन्थमें देवताओंका उद्गीथके द्वारा असुरोंका पराभव करना, गार्ग्य और अजातशत्रुका संवाद, याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी-संवाद, जनक और याज्ञवल्क्यका संवाद, आत्माका स्वरूप, उसकी प्राप्तिके साधन, आत्मज्ञानकी स्थिति, प्रजापतिका देव, मनुष्य और असुरोंके प्रति उपदेश, प्राणोपासना, गायत्री-उपासना आदि अनेक सुन्दर-सुन्दर विषय हैं । ग्रन्थके अन्तमें मन्त्रोंकी वर्णानुक्रमणिका भी दे दी गयी है ।

सं० १९९९ में पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था। पुनः कई कठिनाइयोंके कारण दूसरा संस्करण प्रकाशित न हो सका । अब यह ३००० प्रतियोंका नया संस्करण छापा गया है । पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले अपने यहाँके विक्रेतासे पूछ लेना चाहिये; जिससे भारी डाक-खर्चकी बचत होगी ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

विनीत प्रार्थना

तीर्थ-यात्रा ट्रेनमें अवकाश न मिलनेके कारण पत्रोंका उत्तर नहीं दिया जा रहा है। कृपया क्षमा करें और अत्यन्त आवश्यक कारण छोड़कर दो महीनेतक पत्र न लिखनेकी कृपा करें ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

रजि० सं० ए० १७५

मासिक महाभारतके ग्राहक बननेवालोंको शीघ्रता करनी चाहिये

महाभारतके चार अङ्क ग्राहकोंकी सेवामें पहुँच चुके हैं। स्थान-स्थानसे जो पत्र आ रहे हैं, उनसे पता लगता है कि अधिकतर महानुभावोंने इसे प्रेमपूर्वक अपनाया है। ग्राहक भी उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं। ग्राहकोंकी माँग इतनी अधिक संख्यामें लगातार आ रही है कि तीन ही मासमें प्रथम संस्करण-के तीनों अङ्क प्रायः समाप्त हो गये हैं तथा उनका दूसरा संस्करण शीघ्र ही छापनेका प्रयत्न किया जा रहा है। चौथे अङ्कसे इसका संस्करण बढ़ाकर ड्योढ़ा कर दिया गया है। यही इसकी उपयोगिताका प्रमाण है।

यह पञ्चम वेद माना गया है। ऐसा कोई भी उपयोगी विषय नहीं है, जो इसमें न आया हो। अतएव हम पाठकों और सभी महाभारतके प्रेमियोंसे निवेदन करते हैं कि वे स्वयं ग्राहक बनें और अपने इष्ट-मित्रोंको ग्राहक बनानेकी चेष्टा करें। इतना सस्ता हिंदी-भाषानुवादसहित सचित्र संस्करण इस समय कहीं भी उपलब्ध नहीं है। यदि यह संस्करण भी समाप्त हो गया तो पुनः नये संस्करणका निकट भविष्यमें छपना कठिन है; अतः ग्राहक महानुभावोंको शीघ्रता करनी चाहिये।

मासिक महाभारतके ग्राहक कार्तिक (नवम्बर) से आश्विन (अक्टूबर) तकके पूरे वर्षके लिये बनाये जाते हैं। पूरा महाभारत अनुवादसहित तीन सालमें सम्पूर्ण निकल जानेकी आशा है।

इसका अग्रिम वार्षिक मूल्य डाकव्ययसहित २०) है। प्रत्येक अङ्क रजिस्टर्ड पोस्टसे भेजा जायगा। प्रतिमास रजिस्टर्ड पोस्टसे अङ्क भेजे जानेके कारण अङ्कोंके खोनेका भय प्रायः नहीं रहेगा।

एक मासिक अङ्कके दाम २) हैं। जो लोग नमूनेका अङ्क मँगवायेंगे उन्हें भी रजिस्ट्रीके द्वारा ही २) में अङ्क भेजा जायगा।

व्यवस्थापक—महाभारत-मासिकपत्र, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण



वर्ष ३० सख्या २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०१२, फरवरी १९५६

चित्र-सूची

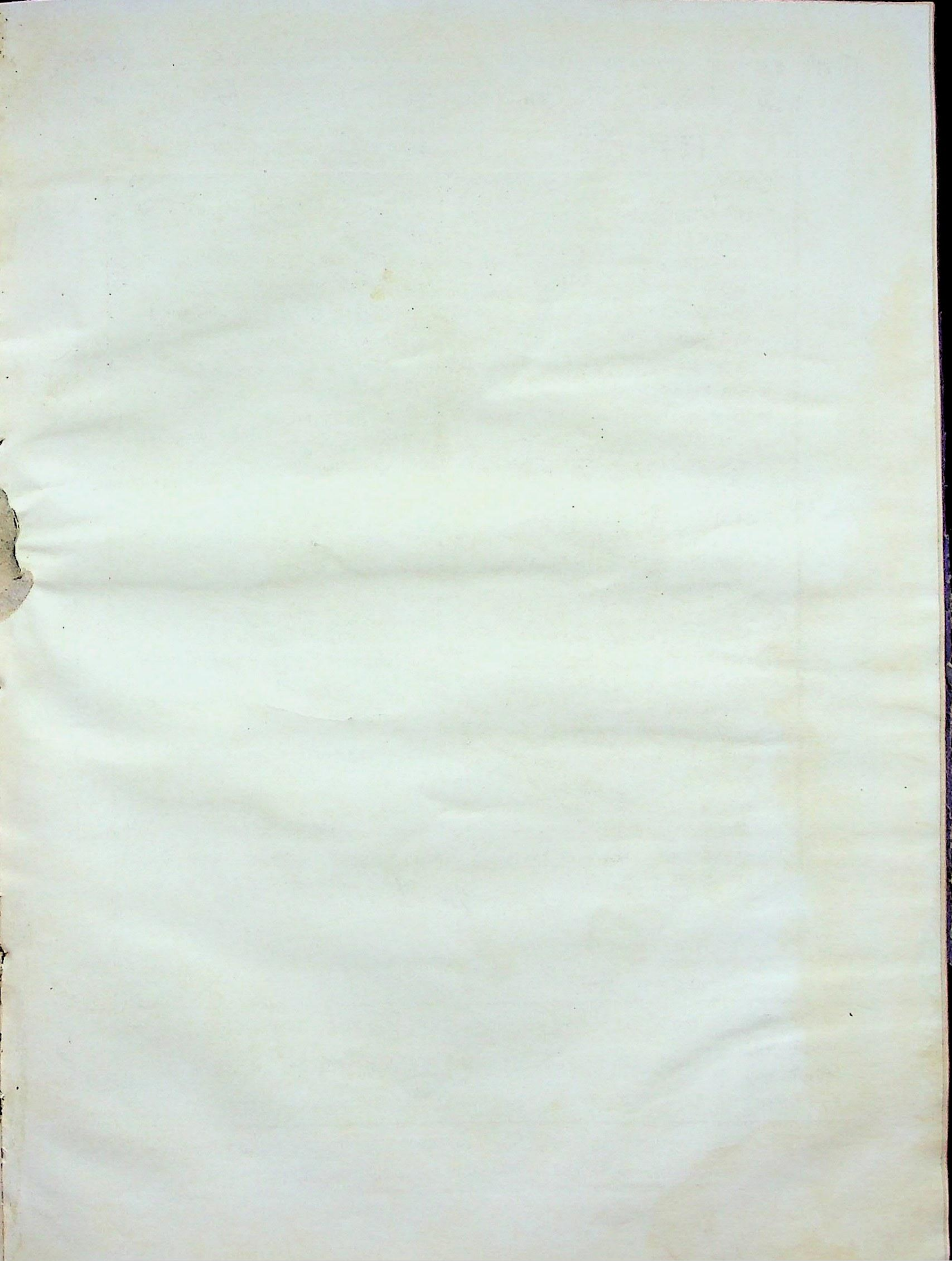
तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

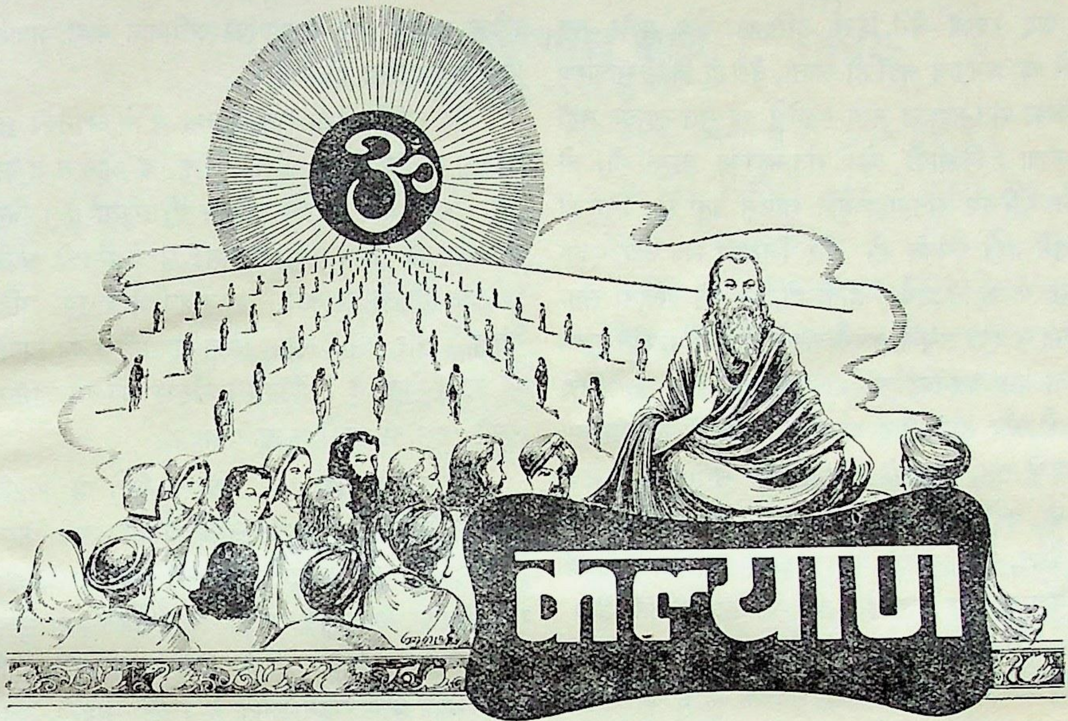
सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर





मारीच-सुबाहुपर कृपा-कोप

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । २ । ३७)

वर्ष ३० } गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०१२, फरवरी १९५६ { संख्या २
पूर्ण संख्या ३५१

मुनि-यज्ञ-रक्षा

राम-लखन नृप सुअन दोउ राजत कौसिक संग ।
रूप-सुधा-सौंदर्य-निधि उमगत अंग सुअंग ॥
दामिनि-वारिद-बर बरन, तेज-पुंज रस-रंग ।
नखसिख सुंदर निरखि छबि मोहे अमित अनंग ॥
धनु-सर कर, केहरि-ठवनि, कटि पटपीत-निषंग ।
मुनि मख-राखन, भय-हरन, बिरमत सदा असंग ॥
बिकट कुटिल मारीच मति नीच सुबाहु भुअंग ।
उभय जीति, मुनि जग्य कौं सफल कर्‍यो सब अंग ॥

कल्याण

याद रक्खो—जैसे किसी दरिद्रका नाम कुबेर रख देनेसे वह धनवान् नहीं हो जाता, वैसे ही किसी साधारण व्यक्तिका संत-महात्मा नाम रखनेसे वह संत-महात्मा नहीं हो जाता। किसीको कोई संत-महात्मा कहता हो, जो अपना परिचय संत-महात्माके नामसे देता हो, जिसकी जगत्में बड़ी ख्याति हो और जिसकी सब ओर पूजा-प्रशंसा या स्तुति-प्रार्थना होती हो, पर जो वस्तुतः संत-महात्मा न हो; उसके कहने-कहलानेका या ख्याति-पूजा-प्रार्थना प्राप्त करनेका कुछ भी मूल्य नहीं है। वह धोखा देता है और स्वयं धोखा खाता है। इसलिये संत-महात्मा कहलाओ मत, अपनेको संत-महात्मा मानो मत—संत-महात्मा बनो। जो जगत्में प्रशंसा-पूजा पानेके लिये भोग-वैभव, मान-सम्मान या यश-कीर्ति प्राप्त करनेके लिये संत-महात्मा बना हुआ है, वह संत-महात्मा नहीं है।

याद रक्खो—संत वह है जो सब जगह सर्वदा सत्को—भगवान्को देखता है, महात्मा वह है जो समस्त चराचरमें वासुदेवके दर्शन करता है; जो स्वयं भगवद्-भावको प्राप्त है, जगत्में भगवद्भाव देखता है और सबको भगवद्भाव प्रदान करता है।

याद रक्खो—जो अपने भगवद्भावयुक्त आचरण-व्यवहारसे दूसरोंके अंदर भगवद्भाव ला देता है, उनके अंदर सोये हुए भगवान्को जगा देता है, वह भगवान्की, जगत्की और अपनी बड़ी सेवा करता है। इसके विपरीत, जो अपने आसुरीभावयुक्त आचरण-व्यवहारसे दूसरोंके अंदर भगवद्विरोधी असुरभावको उत्पन्न कर देता है, उनके अंदर सोये हुए शैतानको प्रबुद्ध कर उसे बढ़ा देता है, वह भगवान्की, जगत्की और अपनी बहुत बड़ी हानि करता है। इसलिये सदा-सर्वदा अपनेको भगवद्भावसे युक्त रक्खो और संसारमें पद-पदपर भगवान्को प्रबुद्ध करते रहो। तभी संत-महात्मा बन सकोगे।

याद रक्खो—संत-महात्मामें अभिमान या गर्व होता ही नहीं, जो संत-महात्मापनका—पारमार्थिकता या आध्यात्मिकताका गर्व करता है, वह सच्चे परमार्थ और अध्यात्मसे बहुत दूर है। धन और अधिकारके अभिमानकी अपेक्षा परमार्थ और अध्यात्मका अभिमान कहीं भयानक पतनकारक सिद्ध होता है।

याद रक्खो—सच्चा संत-महात्मा न तो अपनेको संत-महात्मा मानता है, न घोषित करता है और न दूसरेके द्वारा कहे जानेपर उसे स्वीकार ही करता है। विनय या नम्रताकी दृष्टिसे नहीं, वस्तुतः सच्चे संतको अपनेमें विशेषता दीखती ही नहीं। वह सर्वत्र भगवान्की महिमा देखता है और उसीमें सहज स्थित रहता है। वह त्यागका भी त्यागी होता है। किसी प्रकारका गर्व-दर्प-अभिमान उसके पास भी नहीं फटक पाता।

याद रक्खो—सच्चा संत प्रचारके लिये या किसीके उद्धारके लिये अभिमानपूर्वक कोई प्रयास नहीं करता, विचार भी नहीं करता। वह तो सदा अपने-आपमें रमण करता, आत्माराम रहता है अथवा स्वान्तःसुखाय उसके द्वारा उसके अपने प्रियतम प्रभुकी प्रीति-सुधा-रसका प्रवाह बहने लगता है। वह संसारके उद्धार-के लिये कोई आग्रह या प्रयत्न नहीं करता, उसका वह आत्मरमण अथवा उसकी वह स्वतः प्रवाहित प्रियतमकी प्रीति-सुधा-रसकी मधुर धारा संसारके सम्पूर्ण दुःख-दावानलको, सारी मृत्युकी विभीषिकाको, समस्त ज्वाला-यन्त्रणाको हरकर उसे सच्चे सुखके शुभ दर्शन करवाकर आत्यन्तिक सुखकी उपलब्धि करा देता है। इसीमें संतका सहज संतपन है, यही महात्माका माहात्म्य और महत्त्व है।

याद रक्खो—सच्चे संत-महात्मा वासना, कामना, ममता, आसक्ति एवं दर्प-अभिमानसे सर्वथा रहित होते हैं, इससे न तो उन्हें स्वयं अपने संतपनका स्मरण रहता है और न वे दूसरोंको ही इसकी स्मृति दिलाते हैं। अतः उनके द्वारा ऐसा कुछ कार्य होता ही नहीं, जिसमें संत कहलानेकी उनकी छिपी वासना भी हो। कहलाना वही चाहते हैं, जो हैं नहीं; जो हैं, वे तो हैं ही। अतएव इन सच्चे संत-महात्माओंका आदर्श सामने रख-कर तुम सच्चे संत-महात्मा बनो।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

(वर्ष २९ पृष्ठ १४५० से आगे)

(६३)

साधकको चाहिये कि किसी भी कालमें और किसी भी परिस्थितिमें उस अनन्तकी कृपा-शक्तिके आश्रयका त्याग न करे। इसके लिये साधक जो कुछ कर सके करे अर्थात् उनकी कृपासे जो कुछ विवेक, शक्ति और योग्यता प्राप्त है, उसका सदुपयोग करनेमें अपनी ओरसे असावधानी न करे। उसके बाद जब अपनी कमजोरीका अनुभव हो, तब कृपा-शक्तिका आश्रय लेकर निश्चिन्त हो जाय।

वास्तवमें कृपाशक्तिका आश्रय अपनी कमजोरीका अनुभव होनेपर ही लिया जाता है। पुरुषार्थका बल रहते हुए कोई कृपा-शक्तिका आश्रय नहीं ले पाता।

कभी-कभी पुरुषार्थ और कृपाशक्तिके आश्रयमें द्वन्द्व प्रतीत होता है। जब पुरुषार्थ करते हैं और उसमें सफलताका दर्शन होता है, तब न तो कृपा-शक्तिकी ओर दृष्टि जाती है और न अपनी असमर्थता ही दीखती है। एवं जब असफलता सामने आती है, तब कृपा-शक्तिका आश्रय लेते हैं। पर वास्तवमें इन दोनोंमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि प्राप्त सामर्थ्य भी उनकी कृपाका ही फल है और उसके बाद कृपा-शक्तिका आश्रय है, अतः महिमा सब कृपाशक्तिकी ही है। तथापि साधारण मनुष्य इस रहस्यको नहीं समझते। इसीसे उनको विरोध-सा प्रतीत होता है।

विचार करनेपर प्रतीत होता है कि मनुष्यके जीवनके सुखकालमें प्रभु-कृपाका अनुभव, अपने भाग्यका महत्त्व या पुरुषार्थके फलका उपभोग—ये तीन बातें आती हैं।

जो मनुष्य सुखमें अपने पुरुषार्थका फल मानता है वह यदि दुःखमें अपनेको अपराधी मानकर दुखी होता है तो उसकी यह मान्यता एक प्रकारसे ठीक है। इसी प्रकार जो सुखको अपने भाग्यका फल मानता है वह यदि दुःखमें भी अपने भाग्यकी निन्दा करता है, अपनेको अभागा मानता है तो वह भी ठीक है।

पर यदि किसीको सुखमें तो प्रभुकी कृपा मालूम होती हो और दुःखकालमें न होती हो, उस समय पुरुषार्थकी कमी मानकर या अन्य किसी कारणसे अपनेको अपराधी मानता हो तो यह मानसिक संतुलन नहीं है, द्वन्द्वात्मक स्थिति है। ऐसी हालतमें साधकको समझना चाहिये कि सुखमें तो प्रभुकी कृपा मानना और दुःखमें उनकी कृपा न मानकर अपनेको अपराधी मानना—इसका यह अर्थ है कि भीतरसे तो मुझे अपने पुरुषार्थका भरोसा है और ऊपर-ऊपरसे मैं प्रभु-कृपाका नाम लेता हूँ। यही भूल है; क्योंकि यदि सचमुच प्रभु-कृपाका भरोसा होता तो दुःखमें भी प्रभु-कृपाका ही दर्शन होता।

जो सुखकालमें पुरुषार्थका या भाग्यका फल मानता है, उसे दुःखकालमें भी उनको ही हेतु मानना चाहिये और जो सुखकालमें प्रभु-कृपा मानता है उसे दुःखमें भी प्रभु-कृपाका ही दर्शन करना चाहिये। सुखमें एक बात और दुःखमें दूसरी बात मानना चित्तकी अशुद्धिका प्रमाण है। अतः साधकको सुख और दुःख दोनोंमें ही एक बात माननी चाहिये। भाव यह कि हरेक परिस्थितिमें हर समय प्रभुकी कृपाका ही दर्शन करते रहना चाहिये; क्योंकि सुखकी अपेक्षा दुःखकी परिस्थिति लाख गुना महत्त्वकी है।

दुःखके दो भेद हैं—एक दुःख तो सजीव होता है और दूसरा निर्जीव होता है। सजीव दुःख तो वह है जो परिस्थिति-ज्ञानसे होता है और निर्जीव दुःख वह है जो मनकी बात पूरी न होनेपर होता है। सजीव दुःखसे साधक परिस्थितियोंसे असङ्ग होता है और निर्जीवसे साधारण व्यक्तियोंके चित्तमें क्रोध, भय और क्षोभ आदि अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न होते हैं।

अतः साधकके जीवनमें निर्जीव दुःख नहीं होना चाहिये ।

सजीव दुःख तभी होता है, जब मान्यतामें द्वन्द्व नहीं रहता । एक अंशमें भाग्यवादी होना और दूसरे अंशमें भाग्यवादी न होना, एक अंशमें आस्तिकवाद और दूसरे अंशमें भौतिकवादकी मान्यता—यही मान्यताका द्वन्द्व है । इस द्वन्द्वके रहते चित्त अशुद्ध रहता है; क्योंकि इस प्रकारका द्वन्द्व चित्त-अशुद्धिका कारण है ।

अतः साधकको चाहिये कि दुःख और सुख दोनों-को ही प्रभुकी कृपा समझे ।

यदि कोई कहे कि दुःखको प्रभुकी कृपा कैसे समझें तो कहना होगा कि अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ तो परिवर्तनशील हैं, वे तो जैसे आती हैं वैसे ही चली जाती हैं, पर दुःख साधकको परिस्थितिके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान कराता है । यही उनकी कृपा-शक्तिका प्रभाव है ।

साधकको समझना चाहिये कि रोगके मूलमें किसी-न-किसी प्रकारका राग (आसक्ति) है ।

राग करुणा आदि गुणोंसे और स्वार्थ तथा अवगुणों-से भी होता है, अर्थात् इन दोनोंसे ही रागका सम्बन्ध है।

जब गुणोंके आघातसे राग होता है, तब तो मनुष्य शान्त और अन्तर्मुख होता है; पर जब दोषोंके प्रभावके आघातसे राग होता है, तब वह क्रोधी और ईर्ष्यालु बन जाता है ।

अतः मनुष्यको सुख और दुःखका कारण एकको ही मानना चाहिये ।

जो दोनोंका कारण प्रारब्धको मानता है वह सुख और दुःख दोनोंको भोगकर मिटा देता है, सुख-दुःखकी चाह नहीं करता; क्योंकि उसकी मान्यताके अनुसार जो कुछ प्रारब्धके फलरूपमें होना है, वही होगा । चाह करनेसे कोई परिवर्तन नहीं होगा । यह समझकर वह चाहरहित हो जाता है ।

जो पुरुषार्थको दोनोंका कारण मानता है वह भी समझता है कि चाहसे कुछ नहीं होगा, करनेसे होगा । अतः वह जाने हुए दोषको सहन नहीं कर सकेगा, उसे मिटानेके लिये पुरुषार्थ करेगा ।

आस्तिककी मान्यतामें दुःख और सुख दोनों ही साधन सामग्री हैं, जो कि प्रभुकी अहैतुकी कृपाका पुरस्कार है। अतः वह दोनोंका ही प्रभुकी प्रसन्नताके लिये सदुपयोग करेगा, इसीलिये हर हालतमें उसकी दृष्टिमें आनन्द-ही-आनन्द है ।

साधकको चाहिये कि दुःखकी परिस्थिति आते ही आश्चर्यान्वित होकर देखे कि मेरा प्रियतम इस परिस्थिति-के द्वारा मुझे कौन-सी नयी चीज देना चाहते हैं और सुखमें यह देखना कि वे कौन-सी वस्तुका अपनी प्रसन्नताके लिये मुझसे उपयोग कराना चाहते हैं । इस प्रकार विचार करनेपर जैसी प्रेरणा मिले वैसा ही करना चाहिये और निरन्तर अपनेको उनकी गोदमें स्थित देखकर निश्चिन्त और निर्भय रहना चाहिये ।

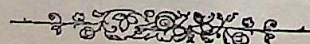
दुःखके कालमें आस्तिक साधकके चित्तमें तीन प्रकारके विचार उसकी साधनाके अनुसार हुआ करते हैं—

(१) दुःखके स्वरूपमें हमारे प्रियतम ही आये हैं ।

(२) दुःख हमारे प्यारेका भेजा हुआ पुरस्कार है ।

(३) दुःखमें हमारा कल्याण भरा है ।

पहला भाव सबसे ऊँचे साधकका होता है जो कि कृपा-शक्तिकी सिद्धावस्थाका परिचायक है, दूसरा कृपा-शक्तिपर निर्भरताका लक्षण है और तीसरा कृपा-शक्तिके साधनके प्रारम्भकालका भाव है । इन सबका फल है अपने प्रीतमके प्रेमका अधिकारी हो जाना ।



धर्मयुक्त उन्नति ही उन्नति है

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यको उचित है कि वह अपनी सब प्रकारकी उन्नति करे। मनुष्यकी सब प्रकारकी उन्नति निष्काम-भावपूर्वक धर्मका पालन करनेसे ही हो सकती है; किंतु दुःखका विषय तो यह है कि आजकल बहुत-से लोग तो धर्मके नामसे ही घृणा करते हैं। वास्तवमें वे लोग धर्मके तत्त्वको नहीं समझते। अतः प्रत्येक मनुष्यको धर्मका तत्त्व, रहस्य और स्वरूप समझना चाहिये। धर्मका स्वरूप है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन)

'इस लोक और परलोकमें जो हितकारक है, उसीका नाम धर्म है।'

जो इस लोकमें हितकर जान पड़े, किंतु परलोकमें अहितकर हो, वह धर्म नहीं है। अतः हमारी सभी क्रियाएं धर्मके अनुसार ही होनी चाहिये। इसीसे हमारी सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति हो सकती है। उन्नतिके कई प्रकार हैं। उनमें शारीरिक, भौतिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक—ये प्रधान हैं।

शारीरिक उन्नति

शारीरिक उन्नतिके साथ भी धर्मका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः शारीरिक उन्नति धर्मानुकूल ही होनी चाहिये। शारीरिक उन्नति भोजनसे विशेष सम्बन्ध रखती है। सात्त्विक भोजन करना शरीरके लिये बहुत ही हितकर है और वही धर्मानुकूल है। भगवान्‌ने गीता अध्याय १७ श्लोक ८ में सात्त्विक भोजनका इस प्रकार वर्णन किया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

हमें सात्त्विक भोजनके इन लक्षणोंपर ध्यान देना चाहिये। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले पदार्थोंका भोजन ही सात्त्विक भोजन है। साथ ही वह भोजन रसयुक्त, चिकना, हृदयको प्रिय तथा बहुत कालतक ठहरनेवाला होना चाहिये। ऐसा भोजन क्या है? गायका दूध, दही, घी, खोवा, छेना आदि; तिल, बादाम, मूँगफली, नारियल आदिका तेल; बादाम, पिश्ता, दाख, छुहारी, खजूर, काजू आदि मेवा; केला, अनार, अंगूर, संतरा, मोसम्बी, नासपाती, सेव आदि फल; आलू, अरबी, तुरई, भिंडी, कोंहड़ा, लौकी, बथुआ, मेथी, पुदीना, पालक आदि शाक-सब्जी; एवं जौ, तिल, गेहूँ, चना, चावल, मूँग आदि अनाज—ये सभी सात्त्विक पदार्थ हैं। ये सभी आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले हैं, शरीरको पुष्ट करनेवाले हैं तथा प्रायः सभी पदार्थ स्निग्ध, चिकने, रसयुक्त और मधुर हैं। इन सात्त्विक पदार्थोंका अपनी प्रकृति तथा शारीरिक स्थितिके अनुसार परिमितरूपमें सेवन करनेसे शारीरिक और मानसिक उन्नति होती है। इसके विपरीत, राजसी-तामसी भोजन करनेसे शारीरिक और मानसिक हानि होती है। अतः उनका सेवन नहीं करना चाहिये। राजसी और तामसी भोजनका लक्षण बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(गीता १७। ९-१०)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं अर्थात् राजसी भोजन है। एवं जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है अर्थात् वह तामसी भोजन है।'

अतः उपर्युक्त राजसी और तामसी भोजनका परित्याग करके सात्त्विक भोजनका सेवन करना ही उचित है।

इसके सिवा पुरुषोंके लिये आसन, दण्ड, बैठक, कुश्ती, दौड़ आदि कसरत करना तथा स्त्रियोंके लिये चक्कीसे आटा पीसना, चर्खा कातना, रसोई बनाना, घरकी सफाई करना—आदि गृहकार्य करना एवं अन्य शारीरिक न्याययुक्त परिश्रम करना शरीरकी उन्नतिमें लाभदायक है। इसके विपरीत निकम्मा रहना, अधिक सोना, प्रमाद, दुराचार, मिथ्या बकवाद, अनुचित परिश्रम और मैथुन करना—ये सब शरीरके लिये महान् हानिकर हैं। इनसे बचकर रहना चाहिये। इस प्रकार शरीरमें सात्त्विक बुद्धि, बल, आयु, आरोग्य, सुख और प्रीतिका बढ़ना एवं शरीरका स्वस्थ रहना शारीरिक उन्नति है।

भौतिक उन्नति

भौतिक उन्नति शारीरिक उन्नतिसे भिन्न है। भौतिक उन्नति उसकी अपेक्षा व्यापक है। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँचों भूतोंको अधिक-से-अधिक मनुष्योपयोगी बना लेना भौतिक उन्नति है। वर्तमानमें जिसे भौतिक विज्ञान या लौकिक विज्ञान कहते हैं, जिससे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वीसे नयी-नयी चीजोंका आविष्कार किया जाता है। इस विज्ञानके सम्बन्धमें वैज्ञानिक महानुभाव कहते हैं कि हम बड़ी उन्नति कर रहे हैं; किंतु वस्तुतः उनकी यह उन्नति आंशिक ही है। पूर्वके लोगोंमें भौतिक उन्नति इसकी अपेक्षा बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी, परंतु उसका प्रकार तथा साधन दूसरा था और वह अधिक विकसित एवं प्रभावोत्पादक था। रामायणमें वर्णित 'पुष्पक' विमान, राजा शाल्वका 'सौभ' विमान, पाशुपतास्त्र, नारायणास्त्र और ब्रह्मास्त्र एवं श्रीवेदव्यासजीके द्वारा वर्षों बाद मृत अठारह अक्षौहिणी सेनाका आवाहन करके प्रत्यक्ष दिखाना और बातचीत करा देना तथा श्रीभरद्वाजजी एवं श्रीकपिलदेवजी आदिके जीवनमें अष्ट सिद्धियोंके चमत्कारकी घटनाएँ इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

ऐन्द्रियिक उन्नति

इसी प्रकार हमें इन्द्रियोंकी भी उन्नति करनी चाहिये। इन्द्रियोंमें विशुद्धता, नीरोगता, तेज, ज्ञान, बल, शक्ति और योग्यताका बढ़ना इन्द्रियोंकी उन्नति है।

मनुष्यको उचित है कि अपनी वाणी, कान, नेत्र आदि इन्द्रियोंको शुद्ध बनावे। सत्य, प्रिय, हित और मित भाषणसे तथा भगवान्के नाम-जप, लीलागुण-गान और सत् शास्त्रोंके स्वाध्यायसे वाणीकी शुद्धि होती है और इसके विपरीत भाषणसे वाणी अपवित्र होती है। इसी प्रकार कानोंके द्वारा उपदेशप्रद, हितकर और सद्गुण-सदाचार तथा भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी बातें सुननेसे कानोंकी शुद्धि होती है और इसके विपरीत पर-निन्दा, दूसरोंके दुर्गुण-दुराचार तथा व्यर्थकी बातें सुननेसे कान दूषित होते हैं। इसी तरह नेत्रोंके द्वारा अच्छे पुरुषोंके दर्शन करनेसे, दूसरोंके गुण देखनेसे तथा परायी स्त्रियोंको मातृभावसे देखनेसे नेत्र शुद्ध होते हैं और इसके विपरीत दूसरोंके दुर्गुण-दुराचारोंको तथा विकार पैदा करनेवाले मलिन दृश्यों, चित्रों, पदार्थोंको देखनेसे या परायी स्त्रियोंको बुरी दृष्टिसे देखनेसे नेत्र दूषित होते हैं।

इसी प्रकार अन्य सभी इन्द्रियोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। जब इन्द्रियाँ शुद्ध होकर दिव्य हो जाती हैं, तब उनकी शक्ति बढ़ जाती है। जैसे नेत्रोंसे दूर

देशकी वस्तु दीखने लग जाती है, कानोंसे दूर देशकी बातें सुनने लग जाती हैं तथा वाणीसे कहे हुए वचन प्रामाणिक माने जाते हैं और सत्य होते हैं ।

मानसिक उन्नति

इसी प्रकार हमें अपने मनकी उन्नति करनी चाहिये । मनमें जो दुर्गुण-दुराचार और पापोंके संस्कार भरे हैं, यही मनका मैलापन है । किसी भी कार्यको करनेके लिये जो मनमें साहस नहीं होता है, यह मनकी कमजोरी है, दुर्बलता है तथा विषयोंमें आसक्ति होनेके कारण जो मनमें चञ्चलता है, यह मनका विक्षेपदोष है । अतः मनको इन मलिनता, दुर्बलता तथा चञ्चलता आदि दोषोंसे रहित करके शुद्ध और बलवान् बनाना एवं स्थिर करना आवश्यक है । निःस्वार्थ भावसे कर्तव्यका पालन करनेसे, किसीका बुरा न चाहनेसे, बुरे और व्यर्थ संकल्पोंका त्याग करनेसे और भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरण करनेसे मन शुद्ध होता है । ईश्वरपर विश्वास रखनेसे मनकी कमजोरी दूर होती है और धीरता, वीरता, गंभीरता बढ़ती है तथा विषयोंमें वैराग्य और अध्यात्मविषयक विचार करनेसे विक्षेपदोषका नाश होता है । इस प्रकार करनेसे मनमें पवित्रता, स्थिरता, साहस, बल आदिका आविर्भाव होकर मनकी उन्नति हो जाती है ।

मनकी उन्नतिके लिये गीतामें भगवान्‌ने मानस-तपका यों वर्णन किया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥
(१७ । १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है ।' इस मानस-तपके आचरणसे मानसिक उन्नति शीघ्र और स्थायी होती है ।

बौद्धिक उन्नति

इसी प्रकार हमें अपनी बुद्धिकी उन्नति करनी चाहिये । बुद्धिमें अपवित्रता, अज्ञता, विपरीत ज्ञान, संशय और अस्थिरता आदि अनेक दोष भरे हैं, वे सब सात्त्विक भाव, निष्काम सेवा, सत्पुरुषोंके सङ्ग, सत्-शास्त्रोंके स्वाध्याय और परमात्माके ध्यानसे दूर होते हैं । अतएव बुद्धिको सात्त्विक बनाना चाहिये । सात्त्विक बुद्धिके लक्षण गीता अ० १८ श्लोक ३० में भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार बताये हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

'पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ।'

इस प्रकार समझकर बुद्धिकी उन्नति करनी चाहिये । बुद्धि सात्त्विक हो जानेपर मनुष्यमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, समता, सरलता आदि सद्‌गुण अपने-आप स्वाभाविक आ जाते हैं ।

व्यावहारिक उन्नति

इसी तरह हमें अपने व्यवहारकी उन्नति करनी चाहिये । हम सबके साथ ऐसा व्यवहार करें, जो सत्यता, सरलता, स्वार्थत्याग, निष्कामभाव, उदारता और प्रेमसे युक्त हो तथा जिससे दूसरोंका हित हो । व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, विश्वासघात कभी नहीं करना चाहिये । वस्तुओंके लेन-देनके समय वजन, नाप और संख्यामें न तो अधिक लेना और न कम देना ही चाहिये । इसी प्रकार ग्राहकको एक चीज दिखाकर उसके बदले दूसरी चीज नहीं देनी चाहिये और नफा, आढ़त, दलाली, कमीशन, भाड़ा, ब्याज ठहराकर न तो कम देना चाहिये और न अधिक लेना चाहिये । बढ़िया चीजमें घटिया और पवित्रमें अपवित्र चीज मिलाकर न

तो खरीदना चाहिये और न बेचना ही चाहिये एवं ऐसी वस्तुओंका भी व्यवसाय नहीं करना चाहिये जिनमें प्राणियोंकी विशेष हिंसा हो तथा जो मांस, मदिरा, अण्डे, हड्डी, चमड़ा आदि अपवित्र गंदी चीजोंसे सम्बन्ध रखनेवाली हों। व्यवसायके समय परस्पर सबके साथ बहुत उत्तम तथा सरल, विनम्र, स्पष्ट, न्याययुक्त और सत्य व्यवहार करना चाहिये। गल्ला-किराना, सूत-कपड़ा, गुड़-चीनी, लोहा-सिमेंट आदि किसी भी वस्तुके भाव तेज या मंदे हो जानेपर भी स्वीकार किये हुए सौदेके मालको देने और लेनेमें न तो जरा भी आनाकानी करनी चाहिये, न बेईमानी करनी चाहिये और न अस्वीकार ही करना चाहिये, चाहे कितनी ही हानिका सामना करना पड़े। किसी भी दलाल, व्यापारी या एजेंटका कोई भूलसे दोष हो जाय तो उसे क्षमा कर देना चाहिये तथा अपनेसे सम्बन्धित सभी व्यक्तियोंको अधिक-से-अधिक लाभ हो और उनकी सब प्रकारसे उन्नति हो, ऐसा भाव रखना चाहिये। ऐसे व्यापारसे इस लोक और परलोक—दोनोंमें सुगमतासे उन्नति हो सकती है।

सामाजिक उन्नति

इसी प्रकार हमें सामाजिक उन्नति भी करनी चाहिये। बच्चा पैदा होनेपर पार्टी देना, लोगोंको बुलाकर चौपड़-ताश खेलना, बीड़ी-सिगरेट पिलाना, विवाह-शादीमें दहेज लेना, दहेजका दिखलावा करना, आतिशबाजी छोड़ना, बिनोरी निकालना, बुरे गीत गाना, थियेटर-तमाशे दिखलाना, पार्टी देना, बहुत अधिक रोशन करना, बड़े पण्डाल बनाना, दिखावेमें व्यर्थ खर्च करना एवं घरके किसी वृद्ध आदमीके मर जानेपर विधिसङ्गत ब्राह्मण-भोजन और बन्धु-बान्धवोंके अतिरिक्त प्रीतिभोज करना, पार्टी देना—आदि जो कुरीतियाँ और फिजूलखर्ची है, इनको हटाना चाहिये। ये सब बातें सामाजिक उन्नतिके अन्तर्गत हैं।

नैतिक उन्नति

इसी प्रकार हमें नैतिक उन्नति करनी चाहिये। आज जो हमारा नैतिक पतन हो गया है, उसका सुधार करना बहुत आवश्यक है।

स्कूल-कालेजोंमें पढ़नेवाले बालकोंको चाहिये कि उद्दण्डता और चञ्चलताका त्याग करके सबसे सभ्यतापूर्ण विनम्र व्यवहार करें। अध्यापकोंके प्रति पूज्यभाव रक्खें, उनके साथ श्रद्धा, विनय और आदरका व्यवहार करें और उनको नमस्कार करें। अध्यापकोंका कर्तव्य है कि वे छात्रोंके साथ पुत्रके समान स्नेहका व्यवहार रखते हुए सदा उनको अपने आचरणोंके द्वारा तथा मौखिक-रूपसे आदर्श हितकर सत् शिक्षा दें।

आजकल बहुत-से लड़कोंमें, अध्यापकोंमें तथा छात्र-छात्राओंमें अश्लील बातचीत, गंदी चेष्टा और हँसी-मजाक होते हैं—यह भयानक नैतिक पतन है। इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। अध्यापकोंको भी स्वयं इस दोषसे बचना और लड़कोंको अच्छी शिक्षा देकर बचाना चाहिये। आजकल स्कूल-कालेजोंमें पढ़ाईका समय बहुत कम रक्खा जाता है, अवकाश और छुट्टियाँ बहुत कर दी गयी हैं—इससे व्यर्थ तथा प्रमादमें समय नष्ट होता है और अध्ययन बहुत कम होता है—इसका भी सुधार करनेकी आवश्यकता है।

इसी प्रकार कर्मचारी और मजदूरोंको उचित है कि वे उद्योगके कारखानेके अथवा मालिक एवं मैनेजर आदिके प्रति उद्दण्डताका बर्ताव न करें। ऐसा कोई काम न करें जिससे उद्योगको तथा किसी अधिकारी व्यक्तिको कोई हानि पहुँचे। अपितु अपने परिश्रम, ईमानदारी, आज्ञाकारिता तथा व्यवस्था-पालनके द्वारा उद्योगका अधिक-से-अधिक हित करें तथा अधिकारियोंके प्रति सदा सद्भाव रक्खें एवं सद्व्यवहार करें। इसी प्रकार मालिक, मैनेजर और पदाधिकारियोंको चाहिये कि वे कर्मचारियों और

मजदूरोंके साथ आत्मीयता तथा उदारताका और प्रेमभरा बर्ताव करें, सदा उनका हित करते रहें, उनके दुःख-सुखको अपना ही दुःख-सुख समझें, अपनेमें बड़प्पनका अभिमान न रक्खें, उनका कभी भी अपमान न करें, उनको नीचा न समझें; बल्कि अपनेको भी उन्हींकी भाँति एक कर्मचारी ही समझें।

रेलयात्रा करते समय किराया चुकाये विना नियमविरुद्ध बोझ साथ न ले जायँ तथा नीचे दर्जेकी टिकट लेकर ऊँचे दर्जेमें न बैठें और न विना टिकट ही यात्रा करें। न तो हकसे अधिक जगह ही रोकें और न जगह रहते हुए किसीको आनेसे मना ही करें। प्रत्युत सबके साथ प्रेमपूर्वक न्याययुक्त और उदारतापूर्ण व्यवहार करें। इसी प्रकार मेले आदिमें भी नीतिका व्यवहार करना चाहिये।

कहीं पंचायतीका काम पड़े तो पञ्च बनकर लोभ, मोह या अज्ञानसे अथवा मान-बड़ाईकी इच्छासे किसीका पक्षपात न करें, बल्कि सबके साथ न्याययुक्त सम और सत्य व्यवहार करें।

इसी प्रकार उच्च पदस्थ मन्त्री, रेल-अधिकारी, पुलिस-अधिकारी तथा अन्यान्य सरकारी अफसरोंको चाहिये कि वे सब जनताके साथ स्वार्थत्यागपूर्वक न्याययुक्त समताका व्यवहार करें; मान, बड़ाई और भयसे या रिश्वत लेकर कभी शुद्ध नीतिका त्याग न करें।

उपर्युक्त प्रकारसे स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे व्यवहार करनेपर नैतिक उन्नति होती है। यही परम धर्म है और इसीमें कल्याण है।

धार्मिक उन्नति

इसी प्रकार हमें धार्मिक उन्नति करनी चाहिये। जिससे अपनेमें और संसारमें धर्मका प्रसार हो, वही धार्मिक उन्नति है। धर्मके लक्षण श्रीमनुजीने इस प्रकार बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(६।९२)

'१ धैर्य रखना, २ क्षमा करना, ३ मनको वशमें रखना, ४ चोरी न करना, ५ बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना, ६ इन्द्रियोंको वशमें रखना, ७ सात्त्विक बुद्धि, ८ सात्त्विक ज्ञान, ९ सत्य वचन बोलना और १० क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

यह सामान्य धर्म मनुष्यमात्रके लिये है। यही इस लोक और परलोकमें प्रत्यक्ष परम हितकर है। धर्मकी विशेष बातें बड़े विशद तथा सुचारु रूपसे शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं, उन्हें वहाँ देख लेना चाहिये। जैसे वर्ण-धर्मका निरूपण गीताके अठारहवें अध्यायमें ४२वेंसे ४४वें श्लोकतक तथा मनुस्मृतिके पहले अध्यायके ८८वेंसे ९१वें श्लोकतक किया गया है, उसे देख सकते हैं। वर्णाश्रम-धर्मका विशेष विस्तार देखना चाहें तो मनुस्मृतिमें दूसरे अध्यायसे छठे अध्यायतक देखना चाहिये।

मनुष्यको उचित है कि धर्मके लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थका सर्वथा त्याग कर दे। जैसे यक्षके आग्रह करनेपर भी युधिष्ठिरने राज्य और अपने सहोदर भाइयोंकी परवा न करके नकुलको ही जीवित कराना चाहा (देखिये महाभारत वनपर्व अ० ३१३)। उन्होंने धर्मके लिये स्वर्गको भी ठुकरा दिया, पर अपने साथ हो जानेवाले कुत्तेका भी त्याग नहीं किया। (देखिये महाभारत महाप्रास्थानिकपर्व अ० ३)।

गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने धर्मके लिये अपने प्राणोंका त्याग कर दिया। जीते-जी अपनेको दीवालमें चुनवा दिया; किंतु अपने धर्मका परित्याग नहीं किया।

चित्तौड़गढ़में राजपूतोंकी तेरह हजार स्त्रियोंने धर्मकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी आहुति दे दी।

इसी प्रकार जो आपत्ति पड़नेपर भी अपने धर्मका

त्याग नहीं करता, उसका कल्याण हो जाता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः—अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है।'

इसके सिवा, बाढ़, भूकम्प, अकाल, महामारी, अग्निदाह, मेला आदिके समय आर्त्त मनुष्योंको हर प्रकारसे सुख पहुँचाना चाहिये। स्त्रियोंकी मातृभाव रखकर सेवा करनी चाहिये। भय, स्वार्थ, आसक्ति, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और आरामके वशीभूत होकर कभी नीति, समता और धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। एवं सबके साथ सदा उदारता, दया, स्वार्थत्याग, निष्कामता, विनय और प्रेमसे भरा व्यवहार करना चाहिये।

श्रीतुलसीदासजीने धर्मका सार बतलाते हुए कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीडा सम नहिं अधमाई॥
परहित बस जाके मन माहीं। ता कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।
(गीता १२। ४)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत पुरुष मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यह सब धार्मिक उन्नतिके अन्तर्गत है। अतएव हमें हरेक काममें इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंको आराम पहुँचावें, वह भी केवल निष्कामभावसे—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छासे या स्वार्थसिद्धिके अभिप्रायसे नहीं।

इस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे और परहितकी भावनासे स्वार्थका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक आचरण करनेपर उपर्युक्त सभी प्रकारकी उन्नति परमार्थमें परिणत हो जाती है अर्थात् मनुष्यका कल्याण करनेवाली हो जाती है। जैसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसी प्रकार उपर्युक्त सद्गुण-सदाचारयुक्त उन्नतिसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

पहले अमृत-सा, पीछे जहर-सा

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई देसाई)

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
(गीता १८। ३७)

इस श्लोकका अर्थ समझनेके लिये जगत्‌में सुख क्या है यह जानना चाहिये। सुख दो प्रकारका है। एक भोगसुख है यानी प्राणी-पदार्थके संसर्गसे मिलनेवाला सुख और दूसरा सुख है आत्मसुख। अर्थात् 'मैं आत्मा हूँ' इस भावनासे मिलनेवाला सुख।

भोगसुखमें भोक्ता अपनेको अपूर्ण मानता है और जिस वस्तु या प्राणीसे अपनेको सुख होता है, वह समझता है कि उसके बिना वह रङ्क है, उसके बिना वह दीन और दुखी है। वह उसके परतन्त्र है, उसके अधीन रहता है। भोगसुखकी इच्छा करनेवाले सदा पराधीन हैं। उसकी सुख-शान्ति या आनन्द दूसरेके हाथ है। उसको कभी स्वतन्त्रता नहीं मिलती। जिसका काम दूसरेके बिना नहीं चल सकता, वह पराधीन है। 'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं।' मनुष्यको सुख और आनन्दकी पल-पलमें जरूरत है। प्राणी पानी, भोजन और कपड़ेके बिना कुछ समय गुजार सकता है और वह भी स्वसंतोष और आनन्दसे। हवा बिना भी कुछ मिनट निभा लेता है, परंतु प्राणिमात्रका आनन्दके बिना, सुखेच्छाके बिना काम नहीं चलता।

प्राणिमात्र यह इच्छा करता है कि सुख और आनन्द मुझसे एक पलके लिये भी अलग न हों। सुख और आनन्द प्राणीका जीवन है। अपना सर्वस्व देकर भी

प्राणी सुखकी इच्छा करता है। ऐसा सुख प्राणी-पदार्थसे मिलता है। इस विश्वासपर जिसको जीना हो, उसको प्राणी-पदार्थको अपने अधीन करने और अपने वशवर्ती बनानेके लिये श्रम और चिन्ता रहेगी ही। अतएव इस प्रकार सुख, शान्ति और आनन्द प्राप्त करनेमें उसका नाश ही होता है। ऐसा प्राणी-पदार्थ, जिससे सुख पानेकी जीव कल्पना करता है, वह देखा भी जा सकता है और भोगा भी जा सकता है। वैसे प्राणी-पदार्थकी प्राप्तिमें श्रम है। उसकी रक्षा करनेमें श्रम और दुःख है। परंतु उसको देखना, जानना, भोगना—इन्द्रियोंसे और मनसे होता है। इसलिये उनसे प्राप्त होनेवाला सुख इन्द्रियगम्य माना जाता है। यह प्राणी-पदार्थसे प्राप्त होनेवाला सुख भोगते समय अमृतके तुल्य लगता है। उसमें जीव लीन हो जाता है। इसके भोगकालमें जीवको विचित्र शान्ति और आनन्द प्रतीत होता है। परंतु उस भोगके अनुभवकालके पूर्व और पश्चात् तो श्रम, दुःख, चिन्ता और क्लेश ही रहते हैं। वह प्राणी-पदार्थ भोगके एक क्षणके लिये तो सुख देता है और भोगके पहलेके और पीछेके अनन्त क्षणोंके लिये, दीर्घकालके लिये अखण्ड दुःख देता है। इसलिये इन्द्रिय और मनके भोग पहले अमृत-जैसे और पीछे विष-जैसे हो जाते हैं। जैसे विष मिठाईमें मिले रहनेसे खानेमें मीठा लगता है और पचाने—हजम करनेमें दुष्कर तथा मृत्युदाता हो जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियोंके भोग भोगकालमें अमृत-जैसे और परिणाममें विष-जैसे होते हैं। विष जीवनका नाश करता है। खूब विचार करने और अनुभव करनेसे जान पड़ता है कि प्रत्येक भोग जीवनका ही नाश करता है।

यह बात इस प्रकार समझमें नहीं आती। अन्तिम भोगका उदाहरण लीजिये। विषयभोग अति मात्रामें मिलनेपर उससे क्षय हो जाता है और रोगी मरता है। जो फल अति मात्रामें है, वह अल्पसे भी अल्प मात्रामें है। प्रत्येक विषयभोग शक्ति और प्राणका नाश करता है। यही बात दूसरे भोगोंकी भी है। भोगमात्र आयु और शक्तिका नाश करते हैं। यानी भोग विषवत् है। इसीसे भोग भोगकालमें अमृतवत् आनन्द देनेवाले जान पड़ते हैं और परिणाममें जीवन हरनेवाले विषरूप होते हैं। संसारमें जितने सब रोग हैं, संसारमें जितने सब दुःख, क्लेश, झगड़े हैं, उन सबके माँ-बाप ये भोग हैं। भोगोंका त्याग किये बिना अखण्ड सुख होता ही नहीं। भोगसुखके विषयमें अखा भगतने एक सरस दृष्टान्त दिया है—

अखा माया करे फजेत । खाताँ खाँड ने चावताँ रेत ॥

'अखा भगत कहते हैं कि माया फजीहत करती है। भोगते समय तो चीनीके समान मीठी लगती है, परंतु चबाते समय अनुभव होता है कि मैं रेत चबा रहा हूँ।

इससे विपरीत आत्मसुख है, जो पहले विषके सदृश लगता है; परंतु परिणाममें अमृतके समान जान पड़ता है। आत्मसुख वह है कि जिसमें पहले लगता है कि इसमें क्या है। परंतु जैसे-जैसे उसका रस चक्खा जाता है, वैसे-वैसे आनन्द मिलता है। भोगसुख शुरूमें अमृतरूप और परिणाममें विषरूप कैसे है? इसको अखा भगतने उपर्युक्त दोहेमें समझा दिया है।

अब आत्मसुख शुरूमें विषवत् और परिणाममें अमृत किस प्रकार होता है, यह बात इस लौकिक दृष्टान्तसे समझमें आ सकती है। कन्या माँ-बापके घरसे जब पहले-पहल अपने पतिके घर जाती है, तब पतिके घरका सुख उसे पहले विषवत् लगता है, पर जैसे-जैसे वह वहाँ रहने लगती है वैसे-वैसे ही पतिसुख छोड़नेका मन नहीं होता। सहवास बढ़नेपर पिताके घरका सुख विष-जैसा और पतिके घरका सुख उसको अमृत-जैसा लगता है।

चित्तका आत्मा पति है और विषय नैहर है। मैं आत्मा हूँ, यह भावना जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ही चित्त आनन्दकी लहरोंमें स्नान करता है। यह आनन्द एक

अद्भुत आनन्द है। हठयोगकी समाधिका आनन्द तो कुछ भी नहीं है। जीते-जागते, जिसको दृढ़तापूर्वक यह ज्ञान और अनुभव होता है कि मैं नित्य आत्मस्वरूप असङ्ग चेतन हूँ, उसको जो अपार आनन्द होता है, उस आनन्दको वही जानता है।

जब आत्मबुद्धि होती है, तब वह स्वतन्त्र होता है। वह ब्रह्माण्डके किसी भी प्राणी-पदार्थके परतन्त्र, दीन, अधीन नहीं होता। स्वयं सुखस्वरूप है। इसलिये वह किसीसे सुखकी इच्छा नहीं करता।

गरीब, धनवान्, महाराजा, राजा, सम्राट्, देव, इन्द्र आदि चाहे जितने ऐश्वर्यसम्पन्न हों, यदि वे रात-दिन प्राणी-पदार्थोंसे सुखकी इच्छा करते हैं तो उनके हृदयमें सदा अशान्ति और संताप होता है। ब्रह्माण्डमें कोई प्राणी-पदार्थ ऐसे नहीं हैं कि जिनके मिल जानेपर दूसरी किसी वस्तुका मिलना बाकी न रह जाता हो और जबतक किसी वस्तुका प्राप्त करना बाकी रहता है, तबतक अशान्ति और असुख ही रहता है। जिसको कुछ प्राप्त करना नहीं है, वह सदा आनन्दमें रहता है। शरीरबुद्धि या जीवबुद्धिमें प्राप्त करना रहता है। आत्मबुद्धिमें कुछ भी प्राप्त करना नहीं रहता, क्योंकि वह पूर्ण है और उससे अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो उसे सुख प्रदान करे। आत्मा अविनाशी है, अविकारी है और इस कारण जगत्‌के असंख्य विनाशी और विकारी पदार्थोंसे असंख्य गुना अमूल्य और सर्वथा विलक्षण है। पत्थरकी स्त्रीकी पुतलीकी अपेक्षा जैसे सच्ची स्त्री असंख्य गुना मूल्यकी और सर्वथा विलक्षण होती है, उसी प्रकार सारे विनाशी ब्रह्माण्डकी अपेक्षा हमारा अविनाशी आत्मा अनन्त मूल्यवान् और विलक्षण है। जैसे पीपलको जितना ही घोंटा जाता है, वह उतनी ही गुणप्रद होती है, इसी प्रकार मैं आत्मा, असङ्ग, चेतन हूँ—यह जैसे-जैसे निश्चय होता जाता है, वैसे-वैसे ही आनन्दका अनुभव होता जाता है। हरिः ॐ तत्सत्

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(८३)

वृन्दाकाननके ये स्रोत शुष्कप्राय हो चुके थे। ग्रीष्मके आतपका तो मिस था, वास्तवमें नीलसुन्दर इस दिशामें कुछ दिनोंसे गोचारण करने नहीं पधारे, उन्होंने इनमें अवगाहन नहीं किया; उनके चरण-सरोरुहका स्पर्श इन्हें प्राप्त नहीं हुआ। इसीलिये इनकी लहरियाँ शान्त हो गयी थीं। अपनी सीमामें ये क्रमशः संकुचित होते जा रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्रके अदर्शनकी ज्वाला इनके हृदयके रसको जला रही थी। अन्यथा वृन्दावनमें ग्रीष्म भी आता है सबका सुखवर्धन करने; प्रपातोंके कलकल-नादका, स्रोतोंकी झर्-झर् झंकृतिका विराम यहाँ कदापि नहीं होता। दूरसे ही नीलसुन्दरका वंशीरव इन्हें उनका आगमन सूचित कर देता है और ग्रीष्मके मध्याह्नमें भी ये हँस-हँसकर अपने प्राणोंके देवताका स्वागत करनेके लिये मनोरम साजसे सज्जित हो उठते हैं। किंतु जब प्राणाराम व्रजेन्द्रनन्दन आये नहीं, आज नहीं आये, दूसरे दिन भी नहीं पधारे, तीसरे दिन भी उनकी वंशीध्वनि काननके इस अंशमें प्रतिनादित नहीं हुई, तब फिर स्रोत किस उद्देश्यसे प्रसरित हों; उनके हृदयकी ऊर्मियाँ किसके चरण-प्रान्तमें न्यौछावर हों। वे तो क्रमशः क्षीण होंगे ही।

हाँ, अब जब एक ओर पावसकी घटाएँ अम्बुराशि दान करने आयी हैं, कर रही हैं और इधर नीलसुन्दर उल्लासमें भरकर, वर्षाकी सम्पूर्ण शोभा निहारनेकी इच्छासे वनके मानो प्रत्येक भागमें ही भ्रमण कर रहे हों, तब फिर इन स्रोतोंमें अपरिसीम उल्लासका संचार क्यों न हो! अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन कर ये भी व्रजपुरकी वीथियोंकी ओर क्यों न दौड़ चलें! पथ-अपथका विचार तो तभीतक है जबतक व्रजेन्द्रनन्दन दृष्टिपथमें नहीं आते, उनका वेणुनाद कर्णपुटोंमें प्रविष्ट

नहीं होता । जब उनके श्रीअङ्गोंकी श्यामल कान्ति नेत्रोंमें पूरित हो जाती है, वेणुकी लहरी श्रवणपथसे हृदयको सिक्त करने लगती है, फिर विचारके लिये अवकाश नहीं रहता । इसीलिये अतिशय वेगसे ये भागे जा रहे हैं; कहाँ, किस ओर जा रहे हैं, जाना चाहिये या नहीं, इसका भी भान इन्हें नहीं रहा है । अवश्य ही अपनी जानमें तो ये नीलसुन्दरके चरणसरोरुहमें ही प्रसरित हो रहे हैं । किंतु प्रपञ्चके जीवो ! तुम्हारे लिये तो ये कुछ और ही संदेश दे रहे हैं । उसे हृदयमें धारणकर कदाचित् ऊपर उठ सको तो अवश्य उठ जाना, व्रजेशतनयकी ओर बह चलना । देखो, तुम्हारे यहाँ—इस प्रपञ्चमें क्या होता है ?

ग्रीष्मके समय क्षुद्र स्रोतस्विनी स्रोत—सभी क्षीण हो जाते हैं; वह वेग, वह चञ्चलता उनमें नहीं होती । किंतु जब पावसकी अजस्र धाराएँ उनके हृत्तलको परिपूर्ण कर देती हैं, तब वे सहसा उच्छृङ्खल हो उठते हैं, पथकी मर्यादाको तोड़कर वे विपथगामी हो उठते हैं—ठीक उनकी भाँति जिन्होंने देहको ही अपना स्वरूप मान रक्खा है, मनके संकेतपर ही जो सतत नाचते रहते हैं, इन्द्रियाँ जिन्हें बरबस विषयोंकी ओर भगाये लिये चलती हैं, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका निर्णय करनेवाली बुद्धि जिनकी सोयी रहती है । स्पष्ट देख सकते हो, तनिक भी ध्यान देते ही उन देह-इन्द्रियोंके अधीन रहनेवाले प्राणियोंकी अवस्था सामने आ जायगी । देखो, जबतक उनके शरीरमें शारीरिक शक्तिका, दैहिक ओजका अभाव रहेगा—यौवनके मदसे वे परिव्याप्त नहीं रहेंगे; धन-सम्पत्तिके लाले पड़े रहेंगे; इनके मदसे उनकी आँखें चौंधी हुई न रहेंगी, तबतक उनका जीवन नियन्त्रित रहता है, मर्यादाका उल्लङ्घन वे नहीं करते । किंतु कहीं दैवका विधान परिवर्तित हुआ, शरीरमें बल-वीर्यका संचार हो गया, अनर्गल धन-सम्पत्तिकी प्राप्ति हो गयी, फिर तो क्या कहना है—वे न जाने कहाँ-से-कहाँ बह जाते हैं । मर्यादा टूट जाती है, सुमार्ग छूट जाता है और निर्बाध स्वच्छन्द कुमार्गपर अग्रसर होते हैं वे । अपने-आप भी नष्ट होते हैं और न जाने कितनोंके नाशका हेतु बनते हैं । वर्षाकालीन क्षुद्र नदियोंकी भी यही दशा है । ग्रीष्मके आतपमें जलके अभावसे मर्यादामें रहती हैं, जलमदका प्रवाह उनमें नहीं होता, पर पावसका संयोग होते ही उमड़ चलती हैं, विपथगामिनी होकर कितनोंको ध्वंस कर देती हैं । नीलसुन्दरके विहारस्थलके स्रोत उमड़कर भी किसीको ध्वंस नहीं करते, अपथसे चलकर भी, अत्यन्त वेगसे बहकर भी वे प्रक्षालित करते हैं व्रजेन्द्रनन्दनके चरण-नखचन्द्रको ही । किंतु अपने पुनीत प्रवाहके अन्तरालसे जगत्के देहाभिमानी जीवोंके लिये कितना सुन्दर पाठ दे रहे हैं वे !—

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः ।
पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ॥
(श्रीमद्भा० १० । २० । १०)

पाछे सुकी हुतीं जे सरिता । उत्पथ चलीं बहुत जल भरिता ॥
अजितेंद्रिय नर ज्यौं इतराइ । देह, गेह, धन, संपति पाइ ॥

एक ओर हरित तृणोंका अम्बार लगा है; हरीतिमा लहलह कर रही है । कहीं यूथ-की-यूथ वीरबहूटियोंका साम्राज्य है; उनसे अभिनव लालिमा छायी हुई है । फिर कहीं बरसाती छत्ते असंख्य वितान-से बनकर अगणित विश्रामागारोंके समान उज्ज्वल आभाका दान कर रहे हैं । इस प्रकार हरित, अरुण एवं समुज्ज्वल ज्योतिसे विभूषित धरणीकी छटा निराली बन गयी है—मानो धराके वक्षःस्थलपर किसी सम्राट्की सेना फैली हुई हो, उनके श्वेत-लोहित आदि वर्णोंके अगणित पटगृह सुशोभित हो रहे हों । वास्तवमें बात भी ऐसी ही है । विश्वपति व्रजेन्द्रनन्दनके स्वागतके लिये ही तो यह साज-सज्जा प्रस्तुत हुई है; उनकी अनन्त श्रीका प्रकाश ही तो सर्वत्र व्याप्त हो रहा है—

हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः ।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २० । ११)

बूड़ी छूटी जु हरित भई धरनी । उच्छिलींध्र छबि फबि हिय हरनी ॥

जनु कोउ भूपति उतर्यौ आइ । छत्र तनाइ, बिछौन बिछाइ ॥

× × ×

नव अंकुर संकुलित भूमितल ललित कलित हरियाहीं ।
जिमि सुकृतिन के पुन्य पुराकृत दिन प्रतिदिन अधिकाहीं ॥
हरित भूमिपर इंद्रबधू छबि छत्रक दंड बिराजै ।
जिमि नरनाह राजसी राजति सुंदर सुखमा साजै ॥

उधर देखो—गोपकृषकोंका मन कितने उल्लाससे भरा है । उनके खेतोंमें नवधान्यकी सम्पदा जो लहलहा रही है तथा उस ओर कंस नृपतिके उन राक्षस सामन्तोंमें इसे देखकर कैसी ज्वाला फूट रही है; व्रजपुरवासियोंका यह अभ्युदय उनके प्राणोंको कैसे कुरेद रहा है । क्या करें बेचारे; दैवकी गतिसे वे परिचित जो नहीं । वे नहीं जानते—किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन उन गोपोंके स्वामी हैं । वे जहाँ विराजित रहेंगे, वहाँ सर्वथा-सर्वदा आनन्दसिन्धु उद्वेलित रहेगा । और उनका अधिपति है कंस । जहाँ उसकी छत्र-छाया है, वहाँ विषाद-वेदनाकी भट्ठी निरन्तर सर्वत्र धक्-धक् जलती ही रहेगी—

क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः ।
धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २० । १२)

निपजे छेत्र कातुनी धान । तिनहिं निरखि हरखे जु किसान ॥
धनी लोग उपतापहिं जाहीं । दैवाधीन सु जानत नाहीं ॥

इस पावसके समय व्रजपुरके सभी जलज-स्थलज जीव प्रसन्न हो रहे हैं । सबकी मूर्ति प्रफुल्ल हो गयी है; अतिशय सुन्दर रूप धारण किया है सबने ही । कहनेके लिये तो यह है कि इन्होंने वर्षाकालीन नव वारिका पान किया है, इसीलिये इतने उल्लसित हो रहे हैं । संसारतापदग्ध प्राणी जैसे श्रीहरिके चरणोंका सेवन कर उत्फुल्ल हो उठते हैं, उनका बाहर-भीतर—सब कुछ सुन्दर बन जाता है, ऐसे ही ये जलचर-थलचर पावसका नवीन जल पीकर सुन्दर बन गये हैं । पर सच तो यह है कि कब इनके अप्रतिम सौन्दर्यका ह्रास हुआ था ? जिनपर नीलसुन्दरकी सलोनी दृष्टि पड़ती है, वे कब म्लान होते हैं ? अवश्य ही जैसे श्रीकृष्ण-चन्द्रके नेत्र-सरोजोंकी सुषमा प्रतिक्षण नवनवायमान रहती है, वैसे ही उनकी सुधादृष्टिसे सिक्त समस्त वस्तुओंका सुन्दर रूप भी नित्य नूतन बनता रहता है । यह तारतम्य भले कोई कर ले । हाँ; यह इङ्गित इनसे अवश्य प्राप्त हो रहा है—'जगत्के जलज-स्थलज प्राणियो ! सुनो, मेरी भाँति सुन्दर बनना चाहो तो तुम भी इन नवजलधर श्यामचन्द्रका सेवन करो । संसारकी भीषण ज्वालासे निरन्तर जलनेके कारण तुम्हारा सौन्दर्य नष्ट हो चुका है, तुम अत्यन्त कुरूप बन गये हो । बस, पान कर लो इन नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंके कण-कणसे झरते हुए पीयूषके एक कणको । फिर तुम्हारा रूप नित्य एवं अपरिसीम सुन्दर बन जायगा । देखो, नव वारिके बिना वृक्ष आदिमें सौन्दर्यका विकास असम्भव है; वैसे ही त्रिताप-संतप्त जीव कदापि इन नवनीरद व्रजेन्द्रनन्दनके सम्पर्कमें आये बिना शीतल होता ही नहीं, उसमें वास्तविक सुन्दरता आती ही नहीं—

जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया ।
अबिभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया ॥
(श्रीमद्भा० १० । २० । १३)

जलके, थलके बासी जिते । जल-सोभा करि सोभित तिते ।
जैसें हरि-सेवा करि कोई । रुचिररूप अति राजत सोई ॥

और भी देखो, जानते हो कलिन्दनन्दिनीका प्रवाह किधर किस ओर जा रहा है, क्यों इसमें इतनी ऊँची-ऊँची तरङ्गें उठ रही हैं ? अच्छा सुनो, अन्तर्दृष्टिसे देखो, उद्वेलित प्रवाह पहले सुरसरिसे सङ्गमित हो जाता है । फिर दोनोंकी एकीभूत धारा सागरका आलिङ्गन कर रही है । सागर इस परम पावन स्पर्शसे कृतार्थ हो रहा है । आनन्दातिरेकसे उसके श्वास फूल रहे हैं, बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हैं उसमें, उसने तपनतनयाके हृदयमें संचित श्रीकृष्णचरणसरोरुहका पराग जो पा लिया, नहीं-नहीं, पावसके इस प्लावनमें व्रजपुरकी धराके राशि-राशि रजकण बटोरकर, रविनन्दिनी ले आयी हैं । सागरको यह अप्रतिम निधि अपने-आप प्राप्त हो गयी है—वह निधि जिसके लिये पितामह तरसते

रहते हैं। स्वयं यमुना जब इन रजकणोंको बटोरने लगती हैं, मर्यादा तोड़कर जब काननकी उन पगडंडियों-को, निम्नदेशमें अवस्थित पुरवीथियोंको जिनपर व्रजपुर-वासी अपना पग रखते हैं—धोने लगती हैं, उस समय उनका आनन्दविवश हृदय—हृदयका सम्पूर्ण रस उच्छ्वलित हो उठता है। यह रस ही तो इनकी विशाल ऊर्मियोंके रूपमें व्यक्त हो रहा है और फिर बड़े वेगसे सागरको भेंट समर्पित करनेके लिये वहन किये जा रही हैं व्रज-पुरवासियोंके, गोपशिशुओंके, व्रजदम्पतिके; व्रजाङ्गनाओं-के चरणपद्मोंका पराग। कितना अचिन्त्य सौभाग्य है इनका और सागरका। इसीलिये तो सागर भी उन्मत्त हो उठा है! अब यदि समझ सकते व्रजरजकी महिमा-को तो तुम्हें भी भान होता—यह आनन्द कैसा होता है। किंतु तुम्हारा मन तो कामना-वासनासे युक्त है, नेत्रोंपर घना आवरण है इनका। कैसे हृदयङ्गम कर सकोगे इस अप्राकृत दिव्यातिदिव्य आनन्दको। हाँ, अपने अधिकारके अनुरूप इसकी ओटसे एक संकेत प्राप्त कर लो, बड़ा लाभ होगा तुम्हारा। इस पाठको सामने रखकर अग्रसर होना, फिर पथभ्रान्त नहीं होओगे। देखो, सागर स्थिर है, फिर भी वर्षाकालीन नद-नदियोंका उद्दाम प्रवाह, पावसका झंझावात इसे विक्षुब्ध कर देता है—ठीक उसी प्रकार जैसे अविशुद्धचित्त योगियोंका विविध वासना-बीजयुक्त चित्त विषयोंके सम्पर्कमें आते ही चञ्चल हो उठता है। कदाचित् वे सावधान होते, विषयोंका सम्बन्ध परित्यागकर, यथायोग्य साधनानुष्ठान-में संलग्न होते तो क्रमशः इन वासनाओंका विनाश हो जाता, नीलसुन्दरकी चरणनख-चन्द्रिकासे उनका अन्तस्तल उद्भासित हो उठता; किंतु इस ओर उनका ध्यान नहीं होता, मायाके चाकचिक्यमें वे साधना-नुष्ठानका पथ भूल जाते हैं, विषयोंका सम्बन्ध होने लगता है। फिर तो आन्तरिक सुप्त वासनाएँ जाग उठेंगी ही, चित्त विक्षुब्ध होकर ही रहेगा! इसके कितने उदाहरण तुम्हारे सामने ही होंगे। परमार्थ-जीवनका आरम्भ कितना त्यागमय था। एक दिन हिमाचलकी शान्त कन्दरामें निवास था, उस अकिंचन जीवनमें कामनाएँ स्वप्नमें भी नहीं स्पर्श करती थीं। उत्कट वैराग्यकी आगमें मानो संसार स्वाहा-सा हो चुका था; किंतु भक्त दर्शन करने आये, उनकी एकान्त प्रार्थनासे उनके गृहकुटीरको पवित्र करनेकी शुद्ध वासना जाग उठी और फिर शैलेन्द्रकी शरण त्यागकर भक्तके उद्यानमें, एक शान्त कुटियामें निवास हुआ। अब भक्तोंकी और भीड़ बढ़ी। प्रत्येक भक्तका मनोरथ पूर्ण करना भगवत्सेवा प्रतीत होने लगी। उनकी मनुहार स्वीकार करना कर्तव्य बोध होने लगा। भू-शयन छूटा, कन्था छूटा, कन्द-मूल-वन-फलका आहार छूटा और उसके स्थानपर आयी मनोरम सुकोमल शय्या, क्षौमनिर्मित उत्तरीय एवं अधोवस्त्र, विविध चर्व्य-चोष्य-लेह्य-पेयका सुखद भोग। कहाँ तो अङ्गोंमें शीतजन्य चिह्न अङ्कित हो गये थे, धूलिधूसरित रहते थे वे, और अब कहाँ सम्पूर्ण अवयव सुचिक्कण हो गये। ग्रीवामें भक्तोंके द्वारा अर्पित पुष्पहार सुशोभित हो उठा! ऐसी स्थितिमें पावसके समुद्रकी जो दशा होती है, वही चित्तकी हो जाती है। अतएव सावधान रहना भला! नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंमें जबतक तुम्हारा चित्त मिल न जाय, व्रजेन्द्रनन्दनके अतिरिक्त कुछ भी स्फूर्ति हो रही हो, तबतक विषय-सम्बन्धसे दूर-दूर रहना। चित्तमें अविराम अङ्कित करते रहना उस इन्द्रनीलद्युति छविको ही! उस नीलिमाके अतिरिक्त बाहरका कुछ भी स्वीकार न करना। कलिन्दनन्दिनी, सुरसरि एवं सागरके सङ्गम-की ओटमें व्यक्त हुआ यह पाठ—शिक्षा क्षणभरके लिये भी भूल न जाना!—

सरिद्भिः सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा॥

(श्रीमद्भा० १०। २०। १४)

सरित-संग करि छुभित जु सिंधु। उमगि ऊरमी, ह्वै गयौ अंधु॥
यौं अपक्व जोगी चित धाइ। बिषयन पाइ भ्रष्ट ह्वै जाइ॥

मुनिवर श्रीऔदुम्बराचार्यजी

(लेखक—परशुरामपुरीस्थ श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु 'श्रीश्रीजी' श्रीराधा-सर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज)

राधापते ! नन्दतनूज ! कृष्ण !
गोविन्द ! गोपाल ! मुकुन्द ! मित्र !
गोपीश ! वृन्दावनरासलासिन् !
जिह्वात आर्तस्वरतस्स्फुरत्वम् ॥
(श्रीऔदुम्बराचार्यजी)

आजसे हजारों वर्ष पूर्वका वृत्तान्त है जब कि अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, सच्चिदानन्दघन, दिव्यमङ्गल-विग्रह, आनन्दकन्द नन्दनन्दन, श्रीश्यामसुन्दरके परम-प्रिय आयुध कोटिसूर्यसमप्रभ चक्रराज श्रीसुदर्शन श्रीप्रभुसे समादिष्ट हो भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यके रूपमें इस अवनितल-पर अवतरित होकर सद्धर्मका प्रचार-प्रसार कर रहे थे ।

इन्हीं भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके अभिनव वपु चक्रावतार श्रीनिम्बार्कमहामुनीन्द्रके अनेकों शिष्योंमेंसे प्रमुख दो शिष्य थे—प्रथम पाञ्चजन्य शङ्खावतार भाष्यकार श्री-निवासाचार्यजी तथा द्वितीय मुनिवर श्रीऔदुम्बराचार्यजी। श्रीनिम्बार्क भगवान्‌के अन्तर्हित होनेपर आचार्य-पदपर भाष्यप्रणेता श्रीनिवासाचार्यजी अभिषिक्त हुए और ये औदुम्बराचार्यजी अपना अधिक समय तीर्थ-सेवन, भगवदाराधन तथा सनातन धर्मके विपुल प्रचारमें लगा-कर श्रीभगवत्संनिधिको प्राप्त हुए ।

श्रीऔदुम्बराचार्यजीकी जीवनगाथा बड़ी ही विलक्षण, चमत्कारपूर्ण तथा विस्मयोत्पादक है । ये औदुम्बर मुनि अयोनिज थे, अन्य प्राणियोंकी भाँति इनका उत्पत्ति-वृत्तान्त नहीं मिलता, ये उदुम्बर (गूलर) वृक्षके फलसे प्रकट हुए थे, इसीसे औदुम्बराचार्य नामसे विख्यात हुए । इनके प्रकट होनेकी यह पुण्यप्रद गाथा बड़ी ही सुन्दर उत्कृष्ट तथा इनकी विलक्षणताको अभिव्यक्त करनेवाली है ।

एक समय सनातनधर्म-प्रचारार्थ भ्रमण करते हुए किसी एकान्त स्थलमें श्रीभगवदाराधनमें स्थित श्रीनिम्बार्क भगवान्‌पर अविद्याग्रसित खलसमूहने आकर उपद्रव करना आरम्भ किया । उनके चारों ओर उन दुष्टोंने भयंकर अग्नि प्रज्वलित कर दी थी, पर श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र तनिक भी भयाकुल नहीं हुए । वे उस समय उस गूलर वृक्षके नीचे श्रीसनकादि महर्षियों-द्वारा परिसेवित अतिप्राचीन गुञ्जाफल-सदृश अतिसूक्ष्म श्रीशालिग्रामविग्रह श्रीसर्वेश्वर प्रभुकी सेवामें तल्लीन थे । अकस्मात् जिस गूलर वृक्षके नीचे आप विराजमान थे, उसका एक परिपक्व फल श्रीआचार्यचरणोंके संनिकट आ गिरा और आपके पावनतम चरणनखका स्पर्श होते ही वह फल एक दिव्याकृति तथा अमित प्रभावपूर्ण श्रीनिम्बार्काचार्यजीके सदृश ही गुण-रूपवान् परम सुन्दर पुरुषके रूपमें प्रादुर्भूत हो गया । इस परम विलक्षण चमत्कारको देखकर खलसमूह भयभीत हो तुरंत ऐसे अदृश्य हो गया, जैसे कि सूर्यके उदय होते ही अन्धकार अदृश्य हो जाता है ।

श्रीऔदुम्बराचार्यजी प्रकट होकर श्रीनिम्बार्क भगवान्‌के अनिर्वचनीय दिव्यस्वरूपका दर्शन कर उनके अद्भुत प्रभावका अनुभव करने लगे । श्रीनिम्बार्क भगवान्‌ने इनको भ्रमण-कालमें अपने साथ ही रक्खा । कुछ दिनों बाद जब ये अपनी परम प्रिय व्रजधाम श्रीगिरिराज गोवर्द्धनकी तरेटी (निम्बग्राम) तपस्थलीमें, जहाँ तपश्चर्या करते थे, औदुम्बरमुनिसहित पधार आये, तब मुनिवर भी उनकी सेवामें यहीं रहने लगे ।

इस उपर्युक्त पुण्यगाथाका संक्षिप्त उल्लेख स्वयं श्रीऔदुम्बराचार्यजीने स्वरचित 'श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति' नामक ग्रन्थमें भी इस प्रकार किया है—

यत्स्पृष्ट आत्मीयसखो बभूव
ह्यौदुम्बरो जन्तुरिवात्मरूपः ।
कृष्णस्य यद्वत्कुकलाससर्पौ
गन्धर्वमुख्यावतिचित्ररूपौ ॥
श्रीधर्मसूनोरिव सर्पराजो
रामस्य यद्वच्च शिला त्वहल्या ।

देदीप्यमाना सुविमानविष्टा
तस्मै नमस्ते समरूपदात्रे ॥
(श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति, श्लो० ९०-९१)

'जिस प्रकार भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके चरणारविन्दोंके संस्पर्शसे गिरगिट और सर्प——ये दोनों क्रमपूर्वक नृपति एवं गन्धर्व बनकर सम्मुख स्थित होकर स्तुति करने लगे थे तथा महाराज युधिष्ठिरके चरणस्पर्शसे सर्प और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराघवेन्द्र सरकारके चरणारविन्दकी परमपावनी रजके स्पर्शसे शिला——ये दोनों क्रमशः दिव्याकृति मनुष्य तथा ऋषि-पत्नी अहल्याके रूपमें प्रादुर्भूत हो स्तुति कर विमानोंमें स्थित होकर दिव्य स्वरूपको प्राप्त हुए थे, उसी प्रकार ऊपरसे पड़ा हुआ गूलरका फल आपके पादपद्मोंका स्पर्श होते ही अपने ही रूप और आकृतिके समान रूप तथा आकृतिमान्, आपका कृपापात्र औदुम्बराचार्य (मैं ग्रन्थप्रणेता) अकस्मात् आविर्भूत हुआ। इस साधारण तुच्छ जड पदार्थको अपने ही सदृश स्वरूप-प्रतिभादि प्रदान करनेवाले आपके पादपद्मोंमें मैं नमस्कार करता हूँ।'

यद्यपि श्रीऔदुम्बराचार्यजीकी जन्मतिथि, मास, वर्ष एवं आयु और उनके पावनतम जीवन-चरित्रका विशेष वृत्त समुपलब्ध नहीं है; क्योंकि आचार्य-उत्सव उन्हीं आचार्यचरणोंका मनाया जाता है, जो कि श्रीनिम्बार्काचार्यपीठासीन होते आये हैं। श्रीऔदुम्बराचार्यजी आचार्य पीठारूढ़ नहीं हुए थे, इसीलिये उनके जन्मोत्सव आदिका पूरा वृत्त आजतक प्राप्त नहीं हो सका है तथापि उनके निजनिर्मित 'श्रीनिम्बार्कविक्रान्तिः' ग्रन्थसे यह अवश्य निश्चयात्मक रूपसे ज्ञात होता है कि ये औदुम्बर मुनि अयोनिज थे तथा उन्हीं सुदर्शनचक्रावतार श्रीनिम्बार्क भगवान्के तेजःपुञ्जविशेषांश थे, अतएव बिना ही अध्ययन किये निखिल निगमागमके पूर्ण ज्ञाता, आत्म-परमात्म आदि तत्त्वोंका साक्षात्कार करनेवाले उद्भट विद्वान् थे।

ये औदुम्बराचार्य जिस प्रकार सहसा प्रकट हुए उसी प्रकार तत्क्षण ही तिरोहित नहीं हुए, इन्होंने बहुत समयतक श्रीनिम्बार्क भगवान्की सेवामें रहकर तथा भारतके अनेक पुनीत स्थलोंपर परिभ्रमणकर सनातन धर्मकी विजय-वैजयन्ती फहरायी, बहुत-से स्थानोंपर तो प्रतिमापूजन-प्रणालीकी सुदृढ़ताके लिये बड़े-बड़े भव्य मन्दिरोंका निर्माण करवाकर श्रीभगवत्प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा करायी। इन्होंने जिन मन्दिरोंका निर्माण करवाया था, वे सब इस समय उपलब्ध नहीं हैं, केवल कुरुक्षेत्रके सन्निकट 'पपनावा' नामक ग्राममें एक मन्दिर अद्यावधि भी विद्यमान है। यदि अन्वेषण किया जाय तो इनके द्वारा निर्माण कराये गये मन्दिर तथा इनका विशद जीवन-चरित्र भी सम्भवतः प्राप्त हो सकता है। इन्होंने बहुत-से ग्रन्थोंका भी प्रणयन किया है। 'श्रीनिम्बार्कविक्रान्तिः' 'श्रीऔदुम्बरसंहिता' आदि ग्रन्थ तो सम्प्राप्त हैं। प्रथम ग्रन्थमें इन्होंने अपने इष्टदेव भगवान् श्रीसर्वेश्वर श्यामसुन्दरकी जो बड़ी ही सुन्दर रसमयी वन्दना की है, उसे यहाँ उद्धृत करते हुए इस चरित्रको यहीं समाप्त करते हैं——

मत्स्याय कूर्माय वराहभासे
श्रीनारसिंहाय च वामनाय।
आर्षाय रामाय रघूत्तमाय
भूयो नमस्त्वेव यदूत्तमाय ॥
बुद्धाय वै कल्किन एवमादि-
नानावतारौघधराय नित्यम्।
सच्चिन्त्यशक्तिप्रतिरुद्धधाम्ने
कृष्णाय सर्वादिनिधानधात्रे ॥
(श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति, श्लो० ५-६)

'श्रीमत्स्य, श्रीकूर्म, श्रीवाराह, श्रीनृसिंह, श्रीवामन, श्रीपरशुराम, श्रीदाशरथि राम, श्रीबलराम, श्रीबुद्ध, श्रीकल्कि आदि अवतारोंके उद्गमस्थान तथा बुधजन-विचिन्त्य निज अद्भुत अनिर्वचनीय शक्तिसे परम गूढ़ महिमावाले एवं समस्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयके करनेवाले ईश्वरोंके भी ईश्वर सर्वनियन्ता सर्वेश्वर श्रीनन्दनन्दनको बारंबार प्रणाम है।'

सात्त्विकी बुद्धि

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

भगवान्की अहैतुकी कृपासे बहुत लोग श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन, पठन तथा श्रवण करते हैं, यह बड़े ही आनन्दकी बात है; पर उसके श्लोकोंका हम मनन करें और इस बातको समझें कि हमारे जीवनके साथ किस श्लोकका क्या सम्बन्ध है और हम अपने जीवनको वर्तमानमें ही किस प्रकार भगवान्के उपदेशानुसार सफल बना सकते हैं, तब उसका हम पूरा लाभ उठा सकते हैं। इसी भावसे प्रेरित होकर मैं आपसमें इस प्रकार विचार-विनिमय करनेके रूपमें एक श्लोकपर अपने विचार पाठकोंके सामने रख रहा हूँ। आशा है कि गीतास्वाध्यायी सज्जनगण इसके उत्तरमें अपने विचार प्रकट करनेकी कृपा करेंगे और मेरी गलतियोंको क्षमाकर उनका सुधार करनेके लिये उचित परामर्श देंगे। मेरा अनुमान है कि इस प्रकार परस्पर विचार-विनिमयसे साधकोंको लाभ होगा। श्लोक इस प्रकार है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

(गीता १८ । ३०)

अर्थात् 'जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कार्य और अकार्यको, भय और अभयको एवं बन्धन और मोक्षको जानती है, वह सात्त्विकी है।'

इस श्लोकमें चार युग्मोंमें आठ बातें जानने योग्य बतलायी गयी हैं और इनको जाननेवाली बुद्धिको सात्त्विकी कहा गया है। विषयके आरम्भमें यह बात भी भगवान्ने कह दी है कि बुद्धिके भेद मैं तुम्हें अशेषतासे अर्थात् पूर्णतासे कहूँगा, अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह वर्णन संक्षिप्त है।

इससे यह मान लेना होगा कि सात्त्विकी बुद्धिके द्वारा जो कुछ जानना चाहिये और जो कुछ भी जाना जा सकता है, वह इन्हीं आठ भेदोंके अन्तर्गत आ जाना चाहिये। इस दृष्टिसे तो इस श्लोकके भावकी व्यापकता बहुत अधिक हो जाती है, पर मैं अपने विचार संक्षेपमें ही प्रकट करता हूँ। पाठकगण इन्हें संकेतमात्र मानकर समझनेकी चेष्टा करें, यही मेरी विनयपूर्वक प्रार्थना है। पहला युग्म है—

प्रवृत्ति और निवृत्ति

हरेक व्यक्तिके जीवनमें कभी प्रवृत्ति और कभी निवृत्ति प्रतिदिन होती रहती है। किसी कार्यमें लगे रहना प्रवृत्ति है और कोई काम न करना ही निवृत्ति है, यह सभी जानते हैं; किंतु इन दोनोंका जो सात्त्विकी बुद्धिद्वारा जानना है, वह ऐसा जानना नहीं है। वह है इन दोनोंका सदुपयोग करके अपने जीवनको हरेक अवस्थामें साधनसम्पन्न बनाये रखना अर्थात् इनका यथार्थ जानना। अतः हमें जानना चाहिये कि प्रवृत्तिका सदुपयोग करके किस प्रकार अपने जीवनको सार्थक बनाया जा सकता है और निवृत्तिका सदुपयोग करके किस प्रकार ?

साधारण व्यक्तियोंकी प्रवृत्ति किसी-न-किसी कामनाकी पूर्तिके लिये ही हुआ करती है। उसके अन्तमें शक्तिका ह्रास होता है, मिलता कुछ भी नहीं; क्योंकि अभावका अभाव नहीं होता। प्रवृत्तिमें आसक्ति होनेके कारण परतन्त्रता और जडताकी अनुभूति होती है। उस कामनायुक्त प्रवृत्तिके अन्तमें जो स्वाभाविक निवृत्ति आती है, उससे शक्तिका संचय तो होता है, पर उसके होते ही प्राणी आसक्तिके कारण या तो परिस्थितिके चिन्तनमें या पूर्ववत् प्रवृत्तिमें लग जाता है। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्तिका चक्र चलता रहता है। इसके परिणाममें शान्ति नहीं मिलती। इस अनुभूतिका आदर करनेसे साधकके मनमें प्रवृत्ति और निवृत्तिसे अतीतके जीवनकी आवश्यकता और उसे प्राप्त करनेकी लालसा जाग्रत् होती है। उसकी पूर्तिके लिये साधकको चाहिये कि प्रवृत्ति और निवृत्तिका सदुपयोग करके उन दोनोंके रागका अन्त कर दे।

विचार करनेपर जान पड़ता है कि अपनी-अपनी योग्यता, विश्वास और साधननिष्ठाके अनुसार इनके सदुपयोगमें अनेक अवान्तर भेद हो सकते हैं, पर यह सभीको मान्य होगा कि साधककी प्रत्येक प्रवृत्ति उसे अपने साध्यकी ओर ले जानेवाली, प्रवृत्तिकी आसक्तिको मिटानेवाली और सर्वहितकारी होनी चाहिये। ऐसी किसी भी प्रवृत्तिके लिये साधकके जीवनमें स्थान नहीं है जिससे कर्म करनेकी आसक्ति बढ़े, जो किसी भी अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्तिविषयक या प्रतिकूल

परिस्थितिकी निवृत्तिविषयक किसी प्रकारकी भोगवासनाको बढ़ानेवाली हो अथवा जिसमें किसीका अहित भरा हो। अतः प्रवृत्तिका सदुपयोग करनेके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि जब साधकके मनमें कोई काम करनेका संकल्प उठे, तब तत्काल यह विचार करे कि मेरी जो मान्यता है, जिस वर्ण, आश्रम, विचारधारा और धर्मको मैंने स्वीकार किया है, जिन व्यक्तियोंके साथ इस कर्मका सम्बन्ध है उनसे मैंने जो सम्बन्ध स्वीकार कर रक्खा है, मेरी उस स्वीकृतिके अनुरूप मेरे लिये जो विधान है उसमें इस कर्मके लिये स्थान है या नहीं। विचार करनेपर यदि यह निर्णय हो जाय कि यह कर्तव्य है, इसमें किसीका अहित नहीं है अपितु दूसरोंके अधिकारकी रक्षा है तो उस कामको प्राप्त विवेकके प्रकाशमें बड़ी सावधानीके साथ प्रभुकी प्रसन्नताके लिये उन्हींकी दी हुई सामर्थ्य-सामग्रीसे उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार पूरा करके रागसे रहित हो जाय। उसके बदलेमें किसी प्रकारके सुख-भोगकी आशा या कामना न करे तथा किसी प्रकारके अभिमानको भी स्थान न दे। इस प्रकार किये हुए कर्मका स्वरूप बाहरी दृष्टिसे प्रवृत्ति होनेपर भी उसका परिणाम वही होगा, जो अच्छी-से-अच्छी वासनारहित निवृत्तिके सदुपयोगसे होना चाहिये।

इसी प्रकार जब साधक कर्तव्यकर्मसे निवृत्त हो, जब उसे कोई भी कर्म कर्तव्यरूपमें प्राप्त नहीं हो, उस समय न तो मनमें व्यर्थ संकल्पोंका उदय होने दे और न बुरे संकल्पोंका ही। जो संकल्प उठें, उनमें जो उस समय पूरा करनेका हो उसे तो पूरा करके मिटा दे, जो भविष्यमें करने योग्य हो उसको नोट करके मिटा दे और जो व्यर्थ हो उसे विचार-के द्वारा मिटा दे। इसके अतिरिक्त जो बुरे संकल्प हैं, जिनमें किसीके भी अहितकी भावना है उनके लिये तो साधकके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। उनकी तो उत्पत्ति ही नहीं होनी चाहिये। भावकी शुद्धिसे व्यर्थ और बुरे संकल्प अपने आप मिट जाते हैं। अतः साधकको अपना भाव शुद्ध करना चाहिये। अनावश्यक, व्यर्थ और बुरे संकल्प मिटते ही अपने इष्टकी स्वाभाविक मधुर स्मृति या सहज शान्ति प्राप्त होगी। उस निवृत्तिजनित सुखका भी उपभोग नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे इष्टकी स्मृति उसकी प्रीतिके रूपमें और शान्ति परम उपरतिके रूपमें बदलकर अपने इष्टसे मिला देगी। यही प्रवृत्ति और निवृत्तिको वास्तविक जानना है और यही उनका सदुपयोग है। दूसरा युग्म है—

कार्य और अकार्य

जो करने योग्य है, जिसके करनेका विधान है वह कार्य है और जो करने योग्य नहीं है, विधानमें जिसका निषेध है वह अकार्य है। यह कार्य और अकार्यका साधारण अर्थ है।

अब विचार यह करना है कि साधकके लिये कौन-सा कर्म करने योग्य है और उसे किस भावनासे करना चाहिये तथा कौन कर्म करने योग्य नहीं है और उसको किस भावसे नहीं करना चाहिये। विचार करनेपर विदित होता है कि जो कुछ किया जाय; वह प्रभुकी अहैतुकी कृपासे मिले हुए विवेकके प्रकाशमें किया जाना चाहिये। प्राप्त विवेकका अनादर कभी किसी भी परिस्थितिमें नहीं करना चाहिये। प्राप्त विवेक हमें यह सिखाता है कि हम जो कुछ अपने प्रति दूसरोंसे करवाना चाहते हैं, वही हमें दूसरोंके साथ करना चाहिये और जो हम दूसरोंसे नहीं चाहते, वह हमें भी किसीके साथ नहीं करना चाहिये। जैसे हम सम्मान चाहते हैं, तो हमें दूसरोंका सम्मान करना चाहिये, किसी-का भी अपमान नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार हरेक विषयमें समझ लेना चाहिये। यह नियम है कि दूसरोंके प्रति की हुई भलाई ही अपने प्रति कई गुनी अधिक होकर आती है और दूसरोंके प्रति की हुई बुराई ही अपने प्रति कई गुनी बुराई होकर आती है। दूसरोंके हितमें ही अपना हित निहित है; अतः ऐसा कोई भी काम किसी भी परिस्थितिमें साधकके लिये करने योग्य नहीं है जिसमें किसीका भी अहित होता हो। इस दृष्टिसे करने योग्य कर्म वही है जो हमारी मान्यताके अनुरूप, विधानके अनुसार हमारा कर्तव्य हो, जिसके करनेकी योग्यता, सामर्थ्य और सामग्री हमें प्राप्त हो और जिसके करनेकी वर्तमानमें ही आवश्यकता हो तथा जो सर्वहितकारी हो, जिसमें किसीका भी अहित न हो। भाव यह कि प्राप्त शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता आदिका सदुपयोग ही कार्य अर्थात् कर्तव्य है। जैसे वाणीको प्रिय, हितकर और सत्य भाषणमें तथा प्रभुके नाम-जप, कीर्तन, उनके गुणोंके और चरित्रोंके वर्णन करनेमें लगाना, शरीरको दुखियोंकी सेवामें लगाना, मनको प्रभुके स्मरणमें लगाना और बुद्धिको दृश्यसे असङ्ग होनेमें और भगवान्‌पर विश्वास करनेमें लगाना। इसी प्रकार हरेक इन्द्रियोंका, वस्तुका और योग्यता आदिका यथायोग्य उपयोग करना ही कार्य है। इन सब कामोंको भी निष्कामभावसे अर्थात् उसके बदलेमें किसी प्रकारके सुखभोगकी इच्छा न रखकर प्रभुकी प्रसन्नताके

लिये उत्साह और धैर्यपूर्वक बड़ी सावधानीके साथ पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिये; अवहेलनापूर्वक या उतावलेपनसे नहीं। इस प्रकार किया हुआ कर्तव्यपालन क्रियाशक्तिके वेगको तथा करनेकी आसक्तिको नाश करके साधकके चित्तको शुद्ध कर देता है। उसमें नवीन राग अङ्कुरित नहीं होने देता, अतः कालान्तरमें उस विषयके संकल्प नहीं उठते।

इसी प्रकार न करने योग्य कर्म वह है जो हमारी मान्यताके अनुसार हमारा कर्तव्य न हो। या जिसके करनेकी योग्यता, सामर्थ्य और सामग्री हमारे पास न हो अथवा करना आवश्यक न हो और जिससे किसीका अहित होता हो। ऐसे कामका त्याग भी भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होना चाहिये। उसमें न तो अपनेमें किसी गुणके अभिमान-को स्थान देना चाहिये, न द्वेषको तथा न सुखके लालचको या दुःखके भयको ही; क्योंकि अभिमान और द्वेषपूर्वक किये हुए त्यागके संस्कार भी अन्तःकरणको अशुद्ध करनेवाले और कर्ताको सुख-दुःखके जालमें आबद्ध करनेवाले ही होते हैं।

उपर्युक्त रहस्यको समझना ही कार्य और अकार्यको समझना है; क्योंकि इसीमें बुद्धिकी सार्थकता है। तीसरा युग्म है—

भय और अभय

अब विचार करना है कि 'भय' किसे कहते हैं, उसकी उत्पत्ति कहाँसे होती है और उसका नाश कैसे हो तथा 'अभय' क्या है, वह कब और किस प्रकार प्राप्त होता है; क्योंकि भय किसीको भी अभीष्ट नहीं है और अभय मानव-मात्रकी स्वाभाविक आवश्यकता है।

विचार करनेपर ज्ञात होता है कि अनुकूल परिस्थितिके वियोगकी और प्रतिकूल परिस्थितिके आनेकी शङ्का होनेपर जो मनमें क्षोभ होता है उसको भय कहते हैं। इसकी उत्पत्तिका कारण भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे मिले हुए विवेकका अनादर और वर्तमान परिस्थितिका दुरुपयोग ही है। या यों समझो कि किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदिसे सुख-भोगकी आशा करना, उनको अपना मानना और उनके संयोग या वियोगकी इच्छा करना है। जब मनुष्य विवेकका अनादर करके शरीर-में 'मैं' भाव कर लेता है, शरीरको ही अपना स्वरूप मान लेता है, जो विचार करनेपर सर्वथा अपनेसे भिन्न वस्तु प्रत्यक्ष दिखलायी देता है, तभी वस्तु, व्यक्ति और अवस्था आदिके संयोग और वियोगमें सुखकी आशा और दुःखका भय उत्पन्न होता है। प्राप्त विवेकके प्रकाशमें विचार करनेपर यह सहज ही समझमें आ सकता है कि बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और इनका समूह यह शरीर मैं नहीं हूँ; क्योंकि ये सभी परिवर्तनशील हैं और मैं नित्य हूँ। ये सब जाननेमें आनेवाले और परप्रकाश्य हैं, मैं इनको जाननेवाला और स्वप्रकाश हूँ। ये जड हैं और मैं चेतन हूँ। ये विनाशशील हैं और मैं अविनाशी हूँ। अतः न तो शरीरके साथ मेरे स्वरूपकी एकता है और न जातिकी ही। इस कारण इसका और मेरा किसी प्रकारका भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है। यह न तो मैं हो सकता हूँ और न यह मेरा ही हो सकता है। जब शरीर ही मेरा नहीं हो सकता, तब अन्य वस्तु, व्यक्ति आदिसे मेरा किसी प्रकारका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है।

इस विवेकका आदर करनेपर जब साधक इन सबसे सर्वथा निराश हो जाता है। इनपर जो अविवेकपूर्वक विश्वास कर लिया था, इनको अपना मान लिया था, वह नष्ट हो जाता है, तब उसका अपने नित्य साथी परम सुहृद् भयहारी भगवान्‌पर संदेहरहित अविचल विश्वास हो जाता है। विश्वास होते ही सब प्रकारके भयका सदाके लिये नाश हो जाता है; क्योंकि जो अपना नित्य साथी है, जिसके साथ साधककी जातीय और स्वरूपकी एकता है, उसके सम्बन्धको स्वीकार कर लेनेपर, उसको अपना मान लेनेपर प्रेमका प्राकट्य हो जाता है। फिर साधकको हरेकमें अपना प्रेमास्पद ही दिखायी देने लगता है, तब भय किससे और कैसे हो।

भयके अभावका ही नाम अभय है। साधारणतया मनुष्य प्राप्तबलके द्वारा भयका नाश करनेकी आशा और चेष्टा करता है, पर वास्तवमें सफल नहीं हो सकता। तथापि यह अभिमान कर लेता है कि 'मैं अभय हो गया हूँ, मुझे अमुक सामर्थ्य प्राप्त है। अतः मुझे किसीसे भी कोई भय नहीं है।' उस समय वह यह नहीं सोच सकता कि उस अभिमानके रहते हुए मैं अभय कैसे हो सकता हूँ जो भयका मूल है। यह भी नहीं समझता कि जिन वस्तु, व्यक्ति आदिके सम्बन्धसे भय उत्पन्न हुआ है एवं जिनका वियोग अनिवार्य है उनके बलपर भला कोई अभय हो ही कैसे सकता है। अतः वह न तो भयहारी प्रभुका आश्रय ले पाता है और न निर्भय ही हो पाता है।

अतः साधकको चाहिये कि उस भयहारी भगवान्‌का आश्रय लेकर भयका समूल नाश कर दे और अपनेमें किसी प्रकार भी ऐसे अभिमानको स्थान न दे कि मैं अभय हो गया। यही भय और अभयका यथार्थ जानना है।

यदि यह प्रश्न उठे कि भयका सदुपयोग क्या है तो

इसका यह उत्तर हो सकता है कि 'मुझसे किसी भी प्राणीका अहित न हो जाय। मैं भूलसे भी किसीके प्रतिकूल व्यवहार न कर बैठूँ'—इस बातको लेकर डरता रहे अर्थात् सावधान रहे। किसीको भयभीत करना अर्थात् भय देना ही मानो भयका बीज बोना है जिसका फल भय होना अनिवार्य है। प्राणिमात्रको अभयदान देनेवाला स्वयं अभय हो जाता है यह प्राकृतिक नियम है और यह भी नियम है कि निर्भयताका अभिमानी दूसरोंके लिये भयप्रद होता है। अतः वह कभी निर्भय नहीं हो सकता। इसलिये साधकके जीवनमें कभी किसी भी परिस्थितिमें निर्भयताका अभिमान नहीं होना चाहिये। भाव यह कि जीवनमें निर्भयता तो अचल और अखण्ड हो, पर 'मैं अभय हो गया हूँ' ऐसा भास न हो प्रत्युत निर्भयता स्वभाव हो जाय। इसीमें अभयकी अर्थात् भय-रहित होनेकी सार्थकता है। चौथा युग्म है—

बन्ध और मोक्ष

अब विचार यह करना है 'कि बन्धन क्या है, वह क्यों हुआ, उसका कारण क्या है तथा उसका नाश कैसे हो और मोक्ष किसको कहते हैं, उसकी प्राप्तिका क्या महत्त्व है?'

विचार करनेपर ज्ञात होता है कि हमें जो करना चाहिये वह नहीं कर पाते और जो नहीं करना चाहिये उसे छोड़ नहीं सकते। दुःख भोगना नहीं चाहते; किंतु भोगना पड़ता है। सुख भोगना चाहते हैं; किंतु मिलता नहीं। इस प्रकार-की जो पराधीनता है यही बन्धन है, जिसके रहते हुए कभी शान्ति नहीं मिलती। सदैव क्रोध, लोभ और मोह आदिके आक्रमणोंसे आक्रान्त रहते हैं। इस बन्धनका एकमात्र कारण असावधानी यानी प्राप्त विवेकका अनादर और प्राप्त शक्तिका दुरुपयोग है। दूसरे शब्दोंमें इसीको अज्ञान या अविवेक भी कहा जा सकता है। यह बन्धन कहीं बाहरसे नहीं आया है, हमने स्वयं ही शरीर, वस्तु और व्यक्ति आदिमें अहंता, ममता करके अपनेको वासनाओंके जालमें जकड़ रक्खा है। अतः इस बन्धनका नाश भी हम स्वयं ही कर सकते हैं और वर्तमानमें ही कर सकते हैं।

प्राप्तका सदुपयोग ही इसके नाशका सहज उपाय है जिसके करनेमें किसी प्रकार भी हम पराधीन या असमर्थ नहीं हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि 'हमें प्राप्त क्या है, और उसका सदुपयोग करना क्या है?' तो विचार करनेपर समझमें आ सकता है कि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदिका समूह यह शरीर तथा वस्तु, व्यक्ति और योग्यता आदि जिनको हमने अपना मान रक्खा है, ये सभी प्राप्तके अन्तर्गत हैं। ये सब वास्तवमें उसी अनन्तके हैं जिसका यह समस्त विश्व है। तथापि हमने इनको अपना मान लिया है, अतः इनको वापस लौटा देनेपर अर्थात् इनका सदुपयोग करके इनसे असङ्ग हो जानेपर और इनमें ममतारहित होनेपर ही हम इनके बन्धनसे छूट सकते हैं। ये सब जिसके हैं उसीकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उसीकी प्रसन्नताके लिये इन्हें लगा देना ही इन सबका सदुपयोग है, जिसका विस्तृत विवरण 'कर्तव्य'के विवेचनमें आ गया है।

यह नियम है कि हम जिनकी सेवा करते हैं उनकी ममता छूट जाती है। यद्यपि साधारण व्यवहारकी दृष्टिसे यह प्रतीत होता है कि सेवा करनेसे ममता बढ़ती है, घटती या छूटती नहीं; पर वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर अनुभवमें आ सकता है कि ममता बढ़नेका कारण उनसे सुख-भोगकी आशा करना अर्थात् उन्हें सुख-भोगकी वस्तु मानकर उनकी रक्षा और पोषण करना है, सेवा करना नहीं। सेवा तो वह है कि जिसकी सेवा की जाय उसके हितमें रति हो, उसे सुन्दर और निर्मल बनानेका भाव हो। इस दृष्टिसे शरीर और इन्द्रियोंकी सेवा श्रम, संयम और सदाचारमें, मनकी सेवा शुभ संकल्पोंमें और उसे विकल्परहित बनानेमें, बुद्धिकी सेवा उसे सम बनानेमें और अहंकी सेवा समर्पण भावमें निहित है; क्योंकि ऐसा करनेसे ही शरीर और इन्द्रियाँ स्वस्थ, सुन्दर और निर्मल रह सकती हैं तथा मन भी शुद्ध और शान्त हो जाता है। बुद्धि स्थिर और वास्तविक निश्चय तथा निर्णय करनेमें समर्थ हो जाती है। फिर इन सबसे ममता नहीं रहती। इसी प्रकार जिन-जिन व्यक्तियोंको हम अपना मानते हैं, उनकी सेवा करनेसे और उनको सुखोपभोगका साधन न बनानेसे उनमें भी ममता नहीं रहती; क्योंकि सेवामें देना-ही-देना है, लेना नहीं है। किसीके अधिकारकी रक्षाके लिये तथा सुख देने और सम्मान देनेके लिये जो लेना है, वह देना ही है। अतः वह सेवा ही है। पर जो मान, बड़ाई या अन्य किसी प्रकारके सुख-भोगकी आशासे तथा अधिकार, लालसा और अभिमानपूर्वक दिया जाता है वह देना भी लेना ही है, अतः वह सेवा नहीं है। इस कारण उससे ममताका नाश नहीं होता, अपितु ममता और आसक्ति बढ़ती है तथा बन्धन दृढ़ होता रहता है। जो यह समझते हैं कि सेवासे ममता बढ़ती है वे सुख-भोगको सुरक्षित रखनेके लिये किये जानेवाले कर्मका ही नाम सेवा रख लेते हैं।

कर्तव्यपालन अर्थात् प्राप्तका सदुपयोग जब सुख-भोगकी आशाका सर्वथा त्याग करके किया जाता है, तभी सेवा होती है। उससे ममताका बन्धन टूट जाता है। ममताका नाश होते ही राग और द्वेषका अन्त हो चित्त सर्वथा शुद्ध हो जाता है।

चित्त शुद्ध होते ही संसारका सम्बन्ध छूटकर भगवान्‌से नित्य सम्बन्ध हो जाता है, दूसरे सब प्रकारके विश्वास नष्ट होकर एकमात्र प्रभुपर ही अटल और संदेहरहित विश्वास हो जाता है, जिससे अहं गलकर उनके प्रेमके रूपमें बदल जाता है।

बन्धनसे छूट जाना ही मोक्ष है और इसके भी सुख-भोगकी आशा न करना मोक्षका सदुपयोग है। इसीको गीतामें मोक्षसंन्यास कहा है। इसका फल विशुद्ध प्रेम है।

मोक्षकी प्राप्तिका महत्त्व यही है कि उसके होते ही साधक अपने साध्यको पा लेता है, अर्थात् सीमित अहंभाव गलकर उस अनन्तमें मिल जाता है, जिसके किसी एक अंशमें यह समस्त विश्व है।

इस प्रकार गीताके श्लोकोंका मनन करके यदि साधक अपना साधन निश्चित कर ले और उसके अनुसार अपना जीवन बना ले तो सहजमें ही सब प्रकारके बन्धनोंका नाश हो सकता है। साधकको चाहिये कि साधनमें सफलता देखकर न तो किसी प्रकारका अभिमान करे और न उसके सुखमें रमण ही करे; क्योंकि साधनजनित सुखमें रमण करनेसे साधनमें शिथिलता आ जाती है, साधनमें प्रगति नहीं होती और अभिमानसे अनेक प्रकारके दोषोंकी उत्पत्ति होने लगती है। जिससे चित्त शुद्ध नहीं हो पाता तथा लक्ष्यकी प्राप्तिमें विलम्ब होता है। इस कारण साधकको चाहिये कि सफलताको उस परम दयालु, परम हितैषी प्रभुकी कृपा समझकर उनका कृतज्ञ होता रहे। बार-बार अपने दोषोंकी ओर देखकर प्रभुकी महिमाकी ओर आकर्षित हो मनमें समझे कि उस प्रभुका कैसा मृदुल स्वभाव है जो कि मुझ-जैसे अधमपर भी वे इतनी कृपा करते हैं।

ऐसा करनेसे हृदयमें प्रेमकी लहर उमड़ेगी। हृदय पिघलेगा और निर्मल होकर प्रभुके प्रेमसे भरा रहेगा। जीवनकी सफलता इसीमें है कि शरीर विश्वके काम आ जाय, हृदयमें प्रेमकी गङ्गा लहराती रहे और स्वयं अभिमानशून्य हो जाय। अर्थात् अपनेमें अपना कुछ न रहे।

श्रीराधिका-वन्दना

(रचयिता—श्रीगौरकृष्णजी गोस्वामी, शास्त्री, काव्य-पुराणतीर्थ)

वन्दौं श्रीवृषभानु किसोरी।
रूप शील लावण्य खानि गुन नागर नटवर चन्द्र चकोरी।
नेति नेति जेहि वदति सतत श्रुति गिरिधर अधर सुधारस बोरी॥
विकसित कनक कुसुम दल शत दुति रतिपति विरति निरख तन गोरी।
मृगमद बिंदु-भाल मधि भ्राजत नील निचोल अरुण सिर खोरी॥
शिव शुक अज सनकादिक दुर्लभ हरिरस सिन्धु मगन मन भोरी।
अभिनव गौर रमणि मणि मंडित राधारमण मनोहर जोरी॥

प्रार्थना

(रचयिता—श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम्० ए०)

प्रभो, दिखाओ अपना धाम।
जहाँ नहीं है क्रोध, लोभ, मद, ममता, मत्सर, काम॥
जहाँ नहीं है क्षुधा, पिपासा, स्वेद, शीत औ घाम।
जहाँ नहीं है काल-संकलित रात्रि, दिवस औ याम॥
जन्म-मरणके सतत भ्रमणसे जहाँ मिलै विश्राम।
जहाँ मुक्त जन गाया करते दिव्य गुणोंका ग्राम॥
जहाँ एकरस अक्षय धन है देव! तुम्हारा नाम।
जहाँ तुम्हारे दर्शनका सुख नाथ सदा उद्दाम॥

शान्तिकी शक्ति

(संत श्रीविनोबाजीका आंध्रमें एक प्रवचन)

आंध्रदेशके निवासियोंके हृदयमें कितनी शक्ति पड़ी है इसका भान हमें रोजकी प्रार्थनासे होता है। हर रोज बच्चे, बड़े सब पाँच मिनटतक अत्यन्त शान्तिसे मौन चिन्तन करते हैं। यह एक बड़ी शक्ति है। अपने खुदपर काबू रखनेकी शक्तिसे बढ़कर दुनियामें दूसरी कोई शक्ति नहीं है। दुनियाको जीतनेवाले बड़े बहादुर कहलाये गये; लेकिन अपनी इन्द्रियाँ तथा मन आदिको जीतनेवाले, उनको वशमें करनेवाले वीर नहीं बल्कि महावीर होते हैं। यह जमाना ऐसा आया है कि इसमें इन्द्रियनिग्रह और मनःसंयमका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। आज अगर हम अपनी कृतिको काबूमें रखते हैं और ठीक विचारसे काम करते हैं तो सारी दुनियाकी सेवा कर सकते हैं। आज दुनियाके देशोंके बीच परस्पर सम्बन्ध इतना दृढ़ हो गया है कि किसी देशके मनुष्यकी अच्छी कृति सीमित नहीं रहेगी, बल्कि देश-देशमें फैल जायगी और अगर हम अपनेपर काबू नहीं रख सकेंगे, कुछ गलत काम कर लेंगे तो वह गलती और वह पाप भी सीमित नहीं रहेगा, व्यापक हो जायगा। ऐसी हालतमें हरेक देशके नागरिकोंपर और ग्रामीणोंपर व्यक्तिगत और सामूहिक तौरपर बड़ी भारी जिम्मेवारी आती है।

खास करके हिंदुस्थानके नागरिकों और ग्रामीणोंपर बहुत बड़ी जिम्मेवारी आती है। इस देशकी प्रसिद्धि है कि इसके इतिहासभरमें जिस प्रकारकी वृत्ति दीखती है उसके परिणामस्वरूप यहाँपर जो आजादीकी लड़ाई लड़ी गयी, वह भी एक विशेष ढंगसे लड़ी गयी। और उसके बाद हमारे नेताओंने विश्वशान्तिके लिये सतत प्रयत्न किया। इस तरह भारतका विशेष प्रकारका इतिहास, आजादीकी अहिंसात्मक लड़ाई और स्वराज्यप्राप्तिके बाद इस देशका विश्वशान्ति और हरेक देशकी आजादीके पक्षमें आवाज उठाना—ये तीनों चीजें हमारी जिम्मेवारी बढ़ाती हैं और उसके कारण हमारे देशमें बड़ी ताकत बढ़ेगी बशर्ते कि हम इस महिमाको समझ सकें। इसलिये हम अपने भाइयोंसे बार-बार कहते हैं कि आप छोटे नागरिक नहीं हैं, आप विश्वनागरिक हैं। वैसे हिंदुस्थान स्वयं कोई छोटा देश नहीं है। यह तो एक विश्वसमाज है, विश्वमें जितनी विविधताएँ मौजूद हैं उतनी भारतमें मौजूद हैं। तो इतनी विविधताओंके साथ अगर हमने ठीक कदम उठाया जिससे कि हमारा समाज शान्तिके तरीकेसे उन्नति प्राप्त कर सके तो उसका दुनियापर बहुत असर होगा। दुनियापर भला या बुरा, दोनों प्रकारका असर डालनेकी शक्ति आज हिंदुस्थानमें है। यह भी कबूल करना पड़ेगा कि यद्यपि हम विश्वशान्तिकी आवाज उठाते हैं फिर भी हमारे देशमें समस्याएँ कम नहीं हैं। हम तो कहते हैं कि ऐसी समस्याएँ मौजूद हैं, इसीलिये हमारी विश्वशान्तिकी इच्छाकी कीमत बढ़ती है। अगर समस्याएँ नहीं होतीं तब तो स्वाभाविक ही शान्ति रहती। जब सारा समाज सुखी है, किसी प्रकारकी विषमता नहीं है, सब लोगोंमें परस्पर सहयोग है, उच्च-नीचता नहीं है, समृद्धि है तब तो देशमें शान्ति रहना कोई बड़ी बात नहीं है। लेकिन जहाँ विषमता मौजूद है, सामाजिक उच्च-नीचता भी पड़ी है, मजदूर-मालिकका भेद पड़ा है, एक तरफ बड़े-बड़े अमीर और दूसरी तरफ गरीब दुखी लोग मौजूद हैं, पैदावार कम है—ऐसी हालतमें अगर हम शान्ति रखते हैं तो उस शान्तिकी बहुत कीमत है।

जब मैं शान्तिकी बात कहता हूँ तो इसका मतलब यह नहीं कि समाजमें इतने दुःख होते हुए भी सहन करते चले जाना, गरीबोंके प्रति सहानुभूति नहीं रखना, अड़ोसी-पड़ोसियोंकी परवा नहीं करना और समस्याओंके हलका उपाय नहीं ढूँढ़ना, बल्कि मैं ऐसा कहूँगा तो कोई मेरी बात मानेगा भी नहीं। यह असम्भव वस्तु है कि समाजमें अनेक प्रकारके दुःख और विषमता मौजूद होते हुए भी उसके लिये कोई प्रयत्न न करें तो भी समाजमें शान्ति रहेगी। अगर ऐसा सम्भव हुआ और बुरी हालतमें भी समाज शान्त रहा तो मैं उसे तमोगुणी समाज, जड समाज, मानवतासे गिरा हुआ समाज कहूँगा। मैं जानता हूँ कि हिंदुस्थानमें ऐसे वेदान्ती मौजूद हैं जो कहते हैं कि ये सारे सुख-दुःख मिथ्या ही हैं। इसलिये उनकी परवा क्यों करते हो? हमेशा शान्त रहना चाहिये। लेकिन ऐसे जितने लोग मैंने देखे हैं उनके खाने-पीनेका ठीक इन्तजाम होता था। या तो वे समाजमें भिक्षा माँगते थे और समाज इतना दुखी होनेपर भी ऐसे पुरुषोंके लिये आदर रखता था और उन्हें खिलाता था। या तो उनमेंसे कुछ अमीर होते हैं या उनके हाथमें ऐसे धंधे हैं कि वे इधर समाजको चूसते रहते हैं और उधर

दुनियामें शान्तिका और निवृत्तिका पाठ गाते रहते हैं। हम समझते हैं कि यह वेदान्त नहीं है। यह वेदान्तके बिल्कुल विपरीत भाव है। यह तो दम्भकी पराकाष्ठा है—ऐसा हम समझते हैं। इसमें या तो आत्मवञ्चना है या परवञ्चना। वेदान्ती तो वह होगा जो कि खुद शान्त रहकर सारे समाजके दुःख-निवारणके लिये सतत प्रयत्न करता रहता है। जो अपने स्थानमें खाने-पीने बैठा है, कुछ सेवाकार्य नहीं करता है, उसे हम वेदान्ती नहीं समझते हैं; बल्कि हम समझते हैं कि वह भारभूत प्राणी है। जो सचमुचमें आत्मानुभवी पुरुष होता है वह तो निरन्तर कृति करता रहता है। कहा गया है 'वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।' वसन्त ऋतुके समान लोक-हितके लिये सतत घूमता रहता है। अपने लिये कुछ भी नहीं चाहता है। सेवा करनेमें ही समाधान चाहता है। फलकी आकाङ्क्षा नहीं रखता है और सब लोगोंके दुःख-निवारणमें मातृवत् वात्सल्यसे लगा रहता है। इतनेपर भी जिसके चित्तमें आसक्ति नहीं रहती है, जब ऊपरसे बुलावा आता है, तब खुशीसे जानेके लिये प्रस्तुत रहता है। ऐसा जो निरन्तर सेवक है, वही निवृत्तिमार्गी है, वेदान्ती है। जैसे कोई मनुष्य अत्यन्त वेगसे चलता हो तो हमें भास होता है कि वह स्थिर है। वैसे ही जो निरन्तर कर्मयोगी सेवक है वह निवृत्त मालूम होता है। अगर कोई यन्त्र काम ही न कर रहा हो, ऐसे ही पड़ा हो तो वह निकम्मा हो जाता है। उसपर जंग चढ़ता है और वह बैठे-बैठे ही खत्म हो जाता है। हम अपने घरमें ऐसे ही बैठे हों तो भी बारह बजे भूख लगती है। बैठे-बैठे ही पाँव थक जाते हैं तो चलनेकी इच्छा होती है। चलते-चलते थकान मालूम होती है तो फिर बैठनेकी इच्छा मालूम होती है। फिर सोनेकी इच्छा होती है। फिर सोनेकी भी थकान मालूम होती है; क्योंकि सोनेमें भी काम होता है, शरीरमें खूब क्रियाएँ चलती हैं, पचन-क्रिया चलती है। इस तरह शरीरसे निरन्तर कर्म चल रहा है। खाना-पीना नहीं रुक रहा है। सिर्फ गरीबोंकी चिन्ता छोड़ दी, इसे क्या वेदान्त कहते हैं? इसलिये हिंदुस्थानमें निवृत्तिका जो गलत अर्थ किया जाता है, हम समझते हैं कि समाजके लिये यह खतरा है। निवृत्तिमार्गियोंके शिरोमणि शङ्कराचार्य हिंदुस्थानभर घूमते रहे। गाँव-गाँव और घर-घर जाकर लोगोंमें ज्ञान बाँटते रहे। इस तरह निरन्तर परिश्रम करके बत्तीस सालकी उम्रमें वे चले गये।

हिंदुस्थानमें शान्तिका यह जो गलत अर्थ निकला है वह शान्ति नहीं है, बल्कि जडता है। पत्थर यों ही पड़ा है, उसमें कोई ऊर्मि नहीं उठती, तो क्या वह शान्त है? मैंने कई दफा कहा है कि शान्ति तो विष्णुभगवान्‌के-जैसी होनी चाहिये। 'शान्ताकारं भुजगशयनम्।' साँपकी शय्यापर सोते हुए भी वे शान्त रहते हैं। रूईकी गद्दीपर सोकर शान्त रहनेमें क्या शान्ति है? जहाँ समस्याएँ मौजूद हैं और उन समस्याओंके निवारणके लिये कोशिश की जा रही है, वहींपर शान्तिकी कीमत है। अगर शान्तिका अर्थ यह हो कि स्टेट्सको रखना, आजके-जैसे समाजको कायम रखना तो वह शान्ति बिल्कुल निकम्मी है। हिंदुस्थानमें इतनी समस्याएँ, दुःख और विषमता मौजूद हैं तब भी मैं आपको शान्ति रखनेके लिये कहता हूँ तो इसका मतलब यह नहीं है कि आप दुःख सहन करते रहें बल्कि उसका अर्थ यह है कि आपको वीर पुरुषके समान उनका मुकाबला करना चाहिये। लेकिन उन समस्याओंका निवारण शान्तिके तरीकेसे करना चाहिये और यह दिखा देना चाहिये कि शान्तिमें शक्ति पड़ी है और उससे समस्याएँ हल हो सकती हैं। आजतक लोगोंने माना है कि अगर शान्ति है तो समस्याएँ जारी रहती हैं, हल नहीं होती हैं और अगर उन्हें हल करनेकी कोशिश होती है तो खूनकी नदियाँ बहती हैं। यानी जहाँ समस्या-निवारणका प्रयत्न होता है, वहाँ शान्ति नहीं रहती है और जहाँ शान्ति रहती है वहाँ समस्या-निवारणका प्रयत्न नहीं होता है। इस तरह दोनोंमेंसे एक चीज होती है—यह मानना बिल्कुल गलत विचार है। समस्या-निवारणके साथ शान्ति होनी चाहिये, शान्तिके तरीकेसे समस्याओंका हल निकालना चाहिये या दूसरी भाषामें हम कहेंगे कि शान्ति आक्रमणकारी होनी चाहिये। यानी वह शान्ति किसी एक हृदयके अंदर छिपी हुई नहीं रहनी चाहिये। मेरे नजदीक बैठे हुए किसी मनुष्यको बिच्छूने काटा और मैं वैसे ही बैठा रहा, मुझे कुछ करनेकी प्रेरणा नहीं हुई तो वह कोई शान्ति नहीं है। यह तो करुणाका अभाव है, निष्ठुरता है, जरा सोचनेपर कहेंगे कि यह स्वार्थ है, आलस्य है और आगे बढ़कर मैं कहूँगा कि यह दम्भ है। मुझे दुखियोंकी सेवामें दौड़ना चाहिये और-दौड़ते हुए भी मनमें शान्ति रखनी चाहिये। यह सच्ची शान्ति होगी।

शान्तिके तरीकेसे दुःखनिवारणकी कोशिश करेंगे, समस्याएँ हल करेंगे तो हम शान्तिकी शक्तिको प्रकट करेंगे तब शान्तिका राज्य होगा। मैंने कई दफा कहा है कि आज

दुनियामें शान्ति नहीं है सो बात नहीं; परंतु शान्ति स्वामिनी नहीं है, वह दासी है। आजकी समाज-रचनामें भी कुछ सेवाका काम चलता है, लेकिन बिल्कुल गौणरूपसे चलता है। इधर लड़ाइयाँ चलती हैं और उधर सेवा-शुश्रूषा करनेवाला थक भी जाता है। हम कबूल करते हैं कि उसमें दया है, सेवा है; लेकिन उस दयामें शक्ति नहीं है। वह दया युद्ध-निवारण नहीं कर सकती। वह तो युद्धका एक अङ्ग ही है। इस तरह दासीके तौरपर आज भी शान्तिका, दयाका, सेवाका कुछ काम चलता है। परंतु हम चाहते हैं कि शान्ति, सेवा और दया स्वामिनीके सदृश काम करें, उनका राज्य हो। हिंदुस्थानमें कई लोग ऐसे हैं, जिन्हें दुखियोंका दुःख देखकर या सुनकर दया आती है और उनकी आँखोंसे आँसू भी बहते हैं; लेकिन उन्हें दुःखनिवारणके लिये दौड़ जानेकी प्रेरणा नहीं होती। हम कहना चाहते हैं कि वह दया बिल्कुल आरम्भ की है, वह करुणा नहीं है। जिसमें करनेकी प्रेरणा होती है, वह करुणा है।

बुद्धभगवान्‌को चालीस उपवासके बाद दर्शन हुआ और उन्होंने देखा कि आसमानमें परमेश्वरकी करुणा फैली हुई है। यह आसमान परमेश्वरकी कृपाका लक्षण है। वह चुप नहीं बैठता। दिखता तो है बड़ा शान्त, लेकिन हमारे लिये पानी बरसाता है, सूरजकी किरणें भेजता है। हवाको इधरसे उधर दौड़ाता है। अगर वह यह सब नहीं करता तो हमारी क्या हालत होती? इसलिये इस आकाशको हम परमात्माका चिह्न समझेंगे; क्योंकि वहाँपर अत्यन्त व्यापक करुणा फैली हुई है। बुद्धभगवान्‌को यह दर्शन हुआ, फिर उन्होंने तपस्या छोड़ दी और वे घूमने निकल पड़े। गाँव-गाँव जाकर वे लोगोंकी सेवा करते थे, उन्हें उपदेश देते थे। एक दिन उनका एक शिष्य एक आदमीको उनके पास ले आया और उसने भगवान्‌से कहा कि इसे उपदेश दीजिये। भगवान् बुद्ध उस जमानेके परम ज्ञानी थे और उनके मुखसे हमेशा करुणामय उपदेश स्रवित होता था; लेकिन उन्होंने उस मनुष्यके चेहरेकी तरफ देखकर पूछा कि 'क्या इसने खाना खाया है?' और जब उन्हें मालूम हुआ कि उसने नहीं खाया है तो उन्होंने शिष्योंसे कहा कि 'इसे खाना खिलाओ।' जब शिष्योंने उसे खाना खिलाकर भगवान्‌के सामने उपस्थित किया, तब भगवान्‌ने उसे प्रणाम करते हुए कहा कि 'आप अब जहाँ जाना चाहते हैं, वहाँ जा सकते हैं।' शिष्योंको बड़ा आश्चर्य लगा कि भगवान्‌ने उसे बोधामृत क्यों नहीं दिया। तो भगवान्‌ने उनसे कहा कि भूखेको अन्न खिलाना—यही बोध-दान है। उन्होंने बोध-दान अपने शिष्योंको दिया। उनसे कहा—'तुमलोग कितने मूर्ख हो कि भूखेको, दुखीको देखकर उपदेशकी बात करते हो। भूखेको खाना खिलाओ तो एक शब्द बोले बिना उसे ज्ञान हो जायगा। जिसका हमारे साथ कोई रिश्ता नहीं है, ऐसा एक मनुष्य प्रेमसे हमारी सेवा करता है तो वह सेवासे बोध देता है, वह सेवा ही बोलती है।' इसलिये भगवान्‌ने शिष्योंसे कहा कि 'तुम्हारे लिये बोध है और उसके लिये अन्न। तुम्हें अन्न मिल रहा है, लेकिन उसे नहीं मिल रहा है; इसलिये उसके लिये पहला बोध है अन्न।'

'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्'। गुरुने शिष्यको पहला बोध दिया कि अन्न ही ब्रह्म है। मैं यहाँपर कोई आधुनिक अर्थ-शास्त्रका वाक्य नहीं कह रहा हूँ। मैं तो ब्रह्मविद्याका, उपनिषद्‌का वाक्य सुना रहा हूँ। ब्रह्मविद्याके ऋषि उपदेश देते हैं—'अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्' खूब अन्न पैदा करो। इन दिनों हमारी सरकार भी 'अधिक अन्न उपजाओ' कहती है। उपनिषद् भी यही बात कह रहा है; क्योंकि उपनिषद् जानता है कि ब्रह्म क्या है। ब्रह्म यानी भ्रम नहीं है, ब्रह्म वस्तु है। इसीलिये प्रत्यक्ष अनुभवसे उसकी प्राप्ति होती है। समाजकी समस्याएँ अगर शान्तिसे हल होती हैं तो समाजको ब्रह्मदर्शन होता है, समाज ऊपर उठता है। फिर समाजमें चोरियाँ नहीं होतीं। चोरियोंको दूर करनेके लिये उपदेशकी—किताबोंकी जरूरत नहीं है, बल्कि इस बातकी जरूरत है कि हम अपनेको समाजका अंश समझें और अपनेमें सारे समाजको देखें। बहुत-से लोग कहते हैं कि हम अपनी मुक्तिकी कोशिश करते हैं; लेकिन हम उनसे कहते हैं—जहाँ आपने 'हमारी' कहा, वहाँ मुक्ति आपसे दूर भाग गयी। क्या तुम बँधे हुए हो? तुम तो मुक्त ही हो। जहाँ मुक्तिकी कोशिश की जाती है, वहाँ वह दूर भागती है। हमारा एक मित्र तपस्या करनेके लिये जंगल गया, लेकिन बीचमें मेरे पास आकर दस रुपये माँगने लगा। कारण पूछनेपर उन्होंने बताया कि उपनिषद्‌की पुस्तक खरीदनेके लिये रुपयेकी जरूरत है। यानी ब्रह्मविद्या भी दस रुपयेके शरण आयी; क्योंकि उसने समझा कि मुझे इतना ज्ञान सम्पादन करना है। हम कहते हैं कि तुम अपनी निजकी चिन्ता छोड़ दो और समाजकी सेवामें लग जाओ। 'मेरे शरीरकी उन्नति' यह कहना भी बन्धन है। 'मेरे मनकी उन्नति' यह कहना भी बन्धन है; 'मुझे खूब पढ़ना-लिखना सीखना है' यह कहना भी बन्धन है।

'मुझे खूब शान्ति मिलनी चाहिये' यह कहना भी बन्धन है। 'मुझे' और 'मेरा' यह सब छोड़ दो, समाजकी सेवामें लग जाओ; मेरे पास जो कुछ है, वह समाजका है, मेरा नहीं है—ऐसा समझें। हम खायेंगे, पीयेंगे, सोयेंगे समाजकी सेवाके लिये। इस तरह हर चीज समाजकी सेवाके लिये हो, अपने लिये हम कुछ भी न करें। मेरा जो यह शरीर है, वह भी मेरा नहीं है, समाजका है। वह समाजमेंसे निर्मित हुआ है। वह उसीकी सेवामें लगेगा और उसीमें क्षीण हो जायगा। यह शरीर जन्मेगा, काम करेगा और मरेगा; वह जाने और समाज जाने। मेरा इस शरीरके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीको मुक्ति कहते हैं। जहाँ मुक्तिके लिये प्रयत्न होता है, वहाँ वह भी एक स्वार्थ बनता है। इसलिये हम अपनेको शून्य समझें, समाजमें खुदको लीन कर दें, तब हमारा बेड़ा पार होगा और समाजका भी बेड़ा पार होगा। गीतामें कहा है 'अनिकेतः स्थिरमतिः।' जिसकी बुद्धि आत्मविचारमें स्थिर हो गयी है और शरीर निरन्तर सेवाका कार्य करता रहता है, ऐसे व्यक्तियोंके कार्यके परिणामस्वरूप शान्तिमें शक्ति आयेगी और शान्तिसे समाजकी समस्याएँ हल होंगी। तो फिर हमें भी मुक्ति प्राप्त होगी और समाजको भी मुक्ति प्राप्त होगी।

हमें समझना चाहिये कि अब हमारे देशको एक बड़ा मौका मिला है, जैसा पिछले दो हजार वर्षोंमें नहीं मिला था। हमें ऐसा मौका मिला है कि जिसमें हम दुनियाकी सेवा कर सकते हैं और अपनी आवाज दुनियामें पहुँचा सकते हैं, कुल दुनियाको परमेश्वरका निवासस्थान बना सकते हैं। यह मौका भी है और साथ-साथ जिम्मेवारी भी है। इसलिये आप भूदान-यज्ञकी तरफ इस दृष्टिसे मत देखिये कि इसमें भूमिका मसला हल होनेवाला है, बल्कि इस दृष्टिसे देखिये कि मसला हल करनेके लिये शान्तिका तरीका जब हाथ आ गया, तब विश्व-शान्तिकी कुंजी हाथ आयेगी और आत्मशान्तिकी भी कुंजी हाथ आयेगी। इसलिये हम हरेकसे कहते हैं कि तुम्हारे पास जो कुछ जमीन, सम्पत्ति, बुद्धि आदि है, उसका एक हिस्सा अपने पड़ोसीके लिये दान दे दो तो जिसको वह दिया जायगा, उसकी भी समृद्धि बढ़ेगी और तुम्हारी भी बढ़ेगी; किसीको दुःख नहीं होगा, दोनों सुखी होंगे। हम साढ़े चार सालसे यही संदेश सुनाते हुए घूम रहे हैं; लेकिन हम जाहिर करना चाहते हैं कि हमें कोई थकान महसूस नहीं होती। हम यह भी कहना चाहते हैं कि हमें परिपूर्ण शान्ति लब्ध है। लेशमात्र भी चिन्ता हम नहीं महसूस करते। रातको बिस्तरपर पड़ते हैं तो निद्रा आनेमें दो मिनट भी नहीं लगते। हमारा उत्साह दिनोंदिन बढ़ रहा है। हमें यह अनुभव इसलिये हो रहा है कि इससे अपने देशकी और दुनियाकी समस्याएँ हल हो रही हैं, लोगोंमें शान्तिकी शक्ति बढ़ रही है।

उधर दुनियामें—दूसरे देशोंमें अशान्तिकी शक्तियाँ बढ़ रही हैं, ऐटम और हाईड्रोजन बम बन रहे हैं; लेकिन अशान्तिकी शक्ति एक दूसरेको अशान्त ही बनाती है। दोनों आग लगायें तो दोनोंकी आगसे पानी नहीं पैदा होता, बल्कि आग बढ़ती है। इसलिये अब दुनियाके उन लोगोंके मनमें भी शङ्का पैदा हो रही है, जो कि अशान्तिमें विश्वास रखते थे। अब वे कहने लगे हैं कि शस्त्र छोड़ने चाहिये, शान्तिकी जरूरत है; परंतु दोनों कहते हैं कि सामनेवाला छोड़ेगा तो हम छोड़ेंगे। अबतक वे ऐसी बातें भी नहीं बोलते थे, लेकिन अब कम-से-कम एक टेबलपर आमने-सामने बैठकर बात तो करते हैं। बुल्गेनीन भारतमें शान्तिके लिये आये थे। वैसे रशियाकी तुलनामें हिंदुस्थानके पास कोई ताकत नहीं है, लेकिन वे प्रेमसम्पादन करनेके लिये यहाँ आये थे। यद्यपि वे भयके कारण ही प्रेमसम्पादन करने जा रहे हैं फिर भी हम उन्हें दोष नहीं देते; क्योंकि अबतक वे भयके कारण द्वेष ही करते थे। भय तो पहले भी था और आज भी है। लेकिन पहले भयसे प्रेरित होकर द्वेष करते थे और अब प्रेम करने लगे हैं तो हमें अच्छा लगता है। हम कहते हैं कि ठीक है, बच्चा अब बोलने लगा है। बोलते-बोलते किसी दिन करने भी लगेगा। लेकिन जब वे भय छोड़ेंगे और प्रेम करेंगे, तब शान्तिकी शक्ति पैदा होगी।

आज हम बहुत कमजोर हैं। फिर भी हम देखते हैं कि हमारी प्रार्थनामें हर रोज सब लोग पाँच मिनट मौन रखते हैं। दुनियाभरमें कहा जाता है कि बच्चे तो बंदरकी जातिके होते हैं। लेकिन हमारे देशके बच्चे भी पाँच मिनट मौन रखते हैं। यही हमारे देशकी शक्ति है, जिसको हम विकसित करना चाहते हैं। दुनियाके लोगोंको आश्चर्य लगता है कि बाबाको माँगनेसे जमीन कैसे मिलती है। यह दान इसलिये मिलता है कि प्रेमसे माँगा जाता है। प्रेमसे माँगनेपर हृदय खुलता है और हृदयकी ज्योति दूसरे हृदयमें फैलती है। हिंदुस्थानमें यह जो प्रेम है, उसे हम अपनी शक्ति समझते हैं और उस शक्तिको विकसित करना चाहते हैं, प्रकाशित करना चाहते हैं, उसे बाहर लाना चाहते हैं।

(प्रेषक—बाबा श्रीराघवदासजी)

इस दैवी सिनेमाका संचालक कौन है ?

(रचयिता—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी० 'ललाम')

संध्या-कलवारिन का आना,
दिन ढलते दुकान लाना ;
लाल-लाल अपनी मदिरा का,
विज्ञापन वह झलकाना ।
मेघों का भी छैला बन-बन,
इधर-उधर आ डट जाना ;
वायु-सखी का सेवा करना,
दौड़-धूप निज दिखलाना ॥१॥

धीरे-धीरे महफ़िल में फिर,
निशा-नटी का भी आना ;
संध्या का आगे बढ़ना,
सोने का प्याला रख जाना ।
लाकर प्याला अधर-पुटों तक,
निशा-नटी का नखराना ;
हँस-हँस फिर स्वर्गीय लाल,
रस का वह प्याला पी जाना ॥२॥

क्षण में दृश्य बदलना सब,
फिर रंग निशा पर चढ़ आना ;
महफ़िल का भी तन्मय होना,
निशा-रंगमें रँग जाना ।
रङ्गभूमि में उतर निशा का
रूप-जाल वह फैलाना ;
समयोचित सब साज साज कर,
कला अलौकिक दिखलाना ॥३॥

झूम-झूम मोती के झुप्पे
सिर पर चम-चम चमकाना ;
झमक-झमक कर झरनों से,
सरिताओं पर पग थिरकाना ।
घुमड़-घुमड़ वह हवा बीच
फिर नाच दिखाना मस्ताना ;
हरकर सब की सुध-बुध सब पर
जादू-सा कुछ कर जाना ॥४॥

चंद्र-कुँअर के चित्त-पटल पर
निशा-रूप वह गड़ जाना ;
प्रेम-पाश में पड़कर उसका
दिन-दिन घुलते दिखलाना ।
फूलों का खिल-खिल हँसना
कलियोंका उँगली चटकाना ;
लतरों का भी इतरा-इतरा
कर अपनी कटि मटकाना ॥५॥

पुत्र चंद्र की देख दशा यह
सिन्धुदेव का घबराना ;
हा हा कर आगे को बढ़ना,
फिर पछाड़ खा गिर जाना ।
शैलों का तब धैर्य बँधाना,
दृढ़ता के गुण समझाना ;
देख दशा यह दसो दिशाओं
का चित्रित-सा रह जाना ॥६॥

इधर निशा का नाटक सारा
अब समाप्ति पर आ जाना ;
चंद्र देव का निशा-विदाई
पर व्याकुलता दिखलाना ।
दोनों का जी भर-भर रोना,
सौ-सौ आँसू ढरकाना ;
फिर दोनों का अपने उतरे
चेहरे ले-ले घर जाना ॥७॥

आखिर उषा-कुमारी का फिर
किरणों की झाड़ू लाना ;
गगनाङ्गण के बिखरे सब
मोती बटोर कर ले जाना ।
फिर अन्तिम प्रणाम प्राची का
स्वर्णाक्षर में दिखलाना ;
औ प्रकाश होते ही सब में
चहल-पहल-सी मच जाना ॥८॥

यों स्वर्गीय सिनेमा के सब खेल मनोहर रोजाना ;
कौन दिखाता है बैठा माया-मशीन पर वह स्याना ।
है वह कौन अदृश्य, दृश्य जो दिखलाता यह मनमाना ;
कभी उधर भी दृष्टि फिरी क्या, कभी उसे भी पहचाना ॥ ९

शान्ति कैसे मिलती है ?

(लेखक—अनिकेत अनन्त श्रीशङ्करस्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)

मनुष्य-जन्म बड़ा दुर्लभ है। जो लोग इसे पाते हैं, वे धन्य हैं। मानव-जन्म मिलनेपर भी इष्टकी भक्ति और भी दुर्लभ बतायी गयी है; इसलिये बिजलीकी तरह चञ्चल परंतु दुर्लभ मानव-जन्मको पाकर भक्तिपूर्वक इष्टका भजन करना चाहिये। जबतक बुढ़ापा नहीं आता, मृत्यु भी जबतक नहीं आ पहुँचती और इन्द्रियाँ जबतक शिथिल नहीं हो जातीं, तभीतक इष्टकी आराधना कर लेनी चाहिये। यह शरीर नाशवान् है, क्षणभङ्गुर है। विचारवान् मनुष्य इसपर कभी विश्वास न करें।

'बहिःसरति निःश्वासे विश्वासः कः प्रवर्तते ?'

मृत्यु सदा निकट रहती है। धन-वैभव अत्यन्त चपल है तथा शरीर कुछ ही समयमें मृत्युका ग्रास बन जानेवाला है। संयोगका परिणाम वियोग ही है। यहाँ सब कुछ क्षणभङ्गुर है—यह विचारपूर्वक निश्चितरूपसे जानकर जन्म-मृत्यु-हर इष्टकी पूजामें तत्पर रहना चाहिये। वे इष्ट ही अज्ञानी जीवोंको अज्ञानमय बन्धनसे छुड़ानेवाले हैं। इष्टके भजनसे सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं तथा मनकी शुद्धि होती है। इष्टके पूजित होनेपर मनुष्य परम मोक्षतक प्राप्त कर लेता है।

सब कर्मोंको सिद्ध करनेवाले मानव-जन्मको पाकर भी जो मनुष्य इष्टकी सेवा नहीं करता, उससे बढ़कर मूर्ख कौन हो सकता है। 'मन्नाथः श्रीजगन्नाथः'। सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंके दाता 'मन्नाथः श्रीजगन्नाथः' के रहते हुए भी मनुष्य ज्ञानरहित होकर नरकोंमें पकाये जाते हैं—यह कितने आश्चर्यकी बात है! जिससे मल-मूत्रका स्रोत बहता रहता है, जिसे प्रतिदिन बहुत बार जल एवं मिट्टीसे साफ करते रहनेपर भी जो साफ नहीं रहता, ऐसे इस मलिनताके घर शरीरमें अज्ञानी मनुष्य महान् भोगेच्छासे आच्छन्न होनेके कारण शोभनताकी भावना करते हैं और इस क्षणभङ्गुर शरीरमें नित्यताका निश्चय करते हैं! जो मनुष्य मल, मूत्र, मांस तथा रक्त आदिसे भरे हुए इस अपवित्र शरीरको पाकर संसार-बन्धनका नाश करनेवाले इष्टका भजन नहीं करता, वह तो गजमूर्ख है और महान् अभागा तथा महापातकी है। मूर्खता या अज्ञान अत्यन्त कष्टकारक है, महान् दुःख देनेवाला है; परंतु इष्टके भजनद्वारा चाण्डाल भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ज्ञानसे वह मोक्ष प्राप्त करके महान् सुखी हो जाता है। ज्ञानशून्य मनुष्य पशु कहे गये हैं। अतः संसार-बन्धनसे मुक्त होकर परम शान्ति प्राप्त करनेके लिये इष्टके भजनद्वारा परम ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

ज्ञानशून्या नरा ये तु पशवः परिकीर्तिताः।
तस्मात् संसारमोक्षाय परं ज्ञानं समभ्यसेत्॥

जो अध्यात्मज्ञानसे सम्पन्न तथा इष्टरूपी परमात्माकी आराधनामें तत्पर रहते हैं, वे पुनरावृत्तिरहित परमधामको पा लेते हैं। जिनसे यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है, जिनसे चेतना पाकर यह जीवित रहता है और भोगावसानमें जिनके भीतर ही इसका लय होता है, वे परमात्मा ही संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाले हैं। जो अखण्ड अनन्त परमेश्वर निर्गुण होते हुए भी सगुण-से प्रतीत होते हैं, उन परमात्माकी आराधना करके मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त होकर अखण्ड शान्ति पा जाता है।

कर्मसे देह मिलता है। देहधारी जीव भोगोंकी कामनासे बँधता है। कामनासे भोग प्राप्त करनेके लिये वह लोभके वशीभूत हो जाता है और लोभकी वस्तु प्राप्त करनेमें बाधा प्राप्त होनेसे क्रोधके अधीन हो पड़ता है। क्रोधसे हिताहित-विवेकका नाश होता है। हिताहित-विवेकके नाशसे बुद्धि बिगड़ जाती है और जिसकी बुद्धि बिगड़ जाती है, वह मनुष्य पुनः पाप करने लगता है। अतः देह ही पापकी जड़ है तथा उसीकी पापकर्ममें प्रवृत्ति होती है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह इस देहात्मबुद्धिका परित्याग करके अखण्ड चेतनात्म-बुद्धिमें स्थित होकर परम शान्ति (अभय) प्राप्त करनेके लिये इष्टरूपी परमात्माका भजन करे। जो ब्रह्माजीके रूपमें सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि, विष्णुरूपसे पालन तथा रुद्ररूपसे संहार करते हैं; जो तीन रूपोंसे लीला करते हैं, जिनके प्रभावसे महत्तत्त्वसे लेकर विशेषपर्यन्त सभी तत्त्व उत्पन्न हुए हैं, उन नित्यानन्दस्वरूप सर्वव्यापी परमात्माको ही मोक्षदाता जानकर उनकी सेवा करनी चाहिये। सम्पूर्ण चराचर जगत् जिनसे भिन्न नहीं है—जैसे स्वर्णालङ्कार स्वर्णसे भिन्न नहीं होता, तथा जो रोग, शोक, जरा और मृत्युसे सदा परे हैं, उन स्वयं-प्रकाश एकरस सदानन्दस्वरूप परमात्माका ध्यान करके मनुष्य दुःखसे मुक्त होकर चिर शान्ति प्राप्त कर सकता है। जो विकाररहित, अजन्मा, शुद्ध, स्वयंप्रकाश, निरञ्जन, ज्ञानरूप तथा सच्चिदानन्दघन हैं, देवगण जिनके अवतार-स्वरूपकी सदा आराधना करते हैं, वे परमात्मा ही मोक्षदाता हैं—यों जान-

कर उनकी आराधना करनेपर जीव नित्यशान्ति प्राप्तकर कृतार्थ हो सकता है। जो निर्गुण होकर भी सम्पूर्ण गुणोंके आधार हैं; लोकोंपर अनुग्रह करनेके लिये जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, दुर्गा, काली, तारा, राम, कृष्ण, सूर्य आदि विविध रूप धारण करते हैं और सबके हृदयाकाशमें क्षेत्रज्ञरूपसे विराजमान तथा मृत्पात्रोंमें मृत्तिकावत् सर्वत्र परिपूर्ण हैं; अद्वितीय होनेके नाते जिनकी कहीं भी उपमा नहीं है तथा जो सबके आधार हैं ठीक जिस प्रकार जल तरङ्गोंका आधार है, उन परमात्माकी शरणमें जाकर जीव अपनी खण्डबुद्धि खोकर परम शान्ति प्राप्तकर धन्य हो सकता है। जो अद्वैत, निर्गुण, नित्य, अद्वितीय, अनुपम, परिपूर्ण तथा ज्ञानमय ब्रह्म हैं; जो आनन्दस्वरूप, जरारहित, परमज्योतिर्मय, सनातन तथा परात्पर ब्रह्म हैं, उन्हींको साधुपुरुष परम शान्तिका—मोक्षका साधन मानते हैं। जो सब प्रकारकी आसक्तियोंका त्याग करनेवाला, शम-दम आदि गुणोंसे युक्त और काम आदि दोषोंसे रहित है, ऐसा योगी योगमार्गकी विधिसे उस परम तत्त्वकी उपासना करके परमात्माका सुप्रसिद्ध परमपद प्राप्तकर परम शान्तिको पा लेता है।

इस असार संसारमें केवल परमात्मा इष्टकी आराधना ही सत्य है। यह संसार-बन्धन अत्यन्त दृढ़ है और महान् मोहमें डालनेवाला है। इष्टभक्तिरूपी कुठारसे इसको काटकर जीव अत्यन्त सुखी हो सकता है। वही मन सार्थक है, जो इष्टके चिन्तनमें लगता है तथा वे ही दोनों कान धन्य हैं, जो इष्ट-कथामृतकी सुधाधारासे परिपूर्ण रहते हैं। जो आनन्दस्वरूप, अक्षर और जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंसे रहित तथा हृदय-गुहामें सदा विराजमान हैं, उन्हीं परमात्माका निरन्तर भजन करनेवाला जीव चिरशान्ति पा लेता है। यह स्थावर-जङ्गमरूप जगत् केवल भावनामय है और बिजलीके समान चञ्चल है। अतः इसकी ओरसे विरक्त होकर परमात्माका भजन करना चाहिये। जिनमें अहिंसा, सत्य, अक्रोध, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ईर्ष्याका त्याग तथा दया—ये सद्गुण विद्यमान हैं, उन्हींपर परमात्मा प्रसन्न होते हैं।

शरीर मृत्युसे जुड़ा हुआ है। जीवन अत्यन्त चञ्चल है। धन-वैभवपर राजा आदिके द्वारा बराबर बाधा आती रहती है और सम्पत्तियाँ क्षणभरमें नष्ट हो जानेवाली हैं। आधी आयु तो नींदसे ही नष्ट हो जाती है और कुछ आयु भोजन आदिमें समाप्त हो जाती है। आयुका कुछ भाग बचपनमें, कुछ विषय-भोगोंमें और कुछ बुढ़ापेमें व्यर्थ बीत जाता है। बचपन और बुढ़ापेमें परमात्माकी आराधना नहीं हो पाती, अतः अहंकार छोड़कर युवावस्थामें ही धर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये—

युवैव धर्मशीलः स्याद् वृद्धः सन् किं करिष्यसि ।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये ॥

यह शरीर मृत्युका निवासस्थान है, विपदाओंका सबसे बड़ा अड्डा है, रोगोंका घर है, मल-मूत्र आदिसे सदा दूषित रहता है। फिर भी मनुष्य इसे सदा रहनेवाला समझकर व्यर्थ पाप करते हैं—'किमाश्चर्यमतः परम् !' यह संसार असार है। इसमें नाना प्रकारके दुःख भरे हुए हैं। अतः इससे सुख-शान्तिकी आशा नहीं रखनी चाहिये। देह-बन्धनकी निवृत्तिके लिये शरीर और संसारकी तुच्छताका विचार करते हुए भोगेच्छासे रहित होकर इष्टके भजन बिना दूसरी गति नहीं है। संसारके सभी पदार्थ अनित्य हैं। केवल भगवान् श्रीइष्ट नित्य माने गये हैं। अतः अनित्य वस्तुओंका परित्याग करके नित्य श्रीइष्टका ही आश्रय लेना चाहिये। जो भोगोंसे विरक्त नहीं होता, वह संसारमें फँस जाता है। जो मानव जगत्के अनित्य पदार्थोंमें आसक्त होता है, उसके संसार-बन्धनका नाश कभी नहीं होता। अतः अभिमान और लोभ त्यागकर, काम-क्रोधसे रहित होकर, मोक्षकी इच्छा रखकर सदा परमात्माका भजन करना सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान कर्तव्य है; क्योंकि मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है—'नहिं ऐसो जनम बारंबार'।

वैराग्य और अभ्यास—ये दोनों मिलकर एक पूर्ण मोक्ष-साधन बनते हैं; केवल वैराग्य या केवल अभ्यास पूर्ण साधन नहीं है। केवल वैराग्य-साधनसे मनुष्य अभिमानका शिकार और वाचिक ज्ञानी बन बैठता है और केवल अभ्याससे जीव हठी, सम्प्रदायी तथा राग-द्वेष और संग्रहके वशीभूत होकर स्थानधारी बन जाता है तथा—

'अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥'

—बननेके अधिकारसे वञ्चित रह जाता है। इसी कारण श्रीभगवान्ने कहा है—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।'

अभ्यास और वैराग्य—इन दोनोंके द्वारा मन वशीभूत होता है। जबतक शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्ति (राग) का अत्यन्त अभाव नहीं होता, तबतक साधक किसी भी साधनमें कृतकार्य नहीं हो पाता; क्योंकि बिना वैराग्यके किसी भी साधनका सिद्ध होना सम्भव नहीं। 'अभ्यास' किसे कहते हैं ?—'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।' चित्तकी स्थिरताके

लिये किया जानेवाला जो यत्न है, वह 'अभ्यास' है। स्वाध्याय, पूजन, जप, प्राणायाम, ध्यान, तत्त्वविचार, कीर्तन आदि नाना रूपोंसे यह यत्न किया जाता है। परंतु यह अभ्यास दीर्घकाल-तक, निरन्तर और आदरपूर्वक सेवन किये जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है। 'वैराग्य' का लक्षण क्या है?—

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'

अर्थात् देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है अर्थात् दृष्ट और श्रुत सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिका जो अत्यन्त अभाव है, वह 'वैराग्य' है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥
(५।२१)

अर्थात् 'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरण-वाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।' आगे अठारहवें अध्यायमें भी ध्यानयोगका वर्णन करते हुए कहा गया है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
(१८।५१-५२)

अर्थात् विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक एवं नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और पवित्र देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणा-शक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें करनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके तथा भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय करके ध्यान-योगके नित्य परायण रहनेवाला पुरुष (ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है)। इससे सिद्ध होता है कि ध्यानयोगकी सिद्धि बिना वैराग्यके नहीं हो सकती।

ज्ञानयोगीके लिये साधनचतुष्टयसम्पन्न होना परम आवश्यक है। उसमें भी विवेक-वैराग्य प्रधान हैं। इसलिये श्रीभगवान्‌ने ज्ञानके साधन बतलाते हुए विषयोंसे वैराग्य करनेका उपदेश दिया है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
(गीता १३।८-९)

अर्थात् इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना, पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना।

भक्तियोगकी सिद्धिके लिये तो संसार, शरीर और भोगों-से तीव्र वैराग्य करके अनन्य प्रेमपूर्वक (अव्यभिचारिणी भक्तिसे) श्रीभगवान्‌की ही सर्वप्रकारसे शरण ग्रहण करना परम आवश्यक होता है। इसलिये श्रीभगवान्‌ने संसारका वृक्षके रूपकसे वर्णन करते हुए उससे वैराग्य करने और परमेश्वरके शरण होनेकी बात कही है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥
(गीता १५।३-४)

अर्थात् इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा गया है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है न अन्त है और न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर, उसके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भली-भाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुषके मैं शरण हूँ—(इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये)।

कर्मयोगका साधन भी विना वैराग्यके नहीं हो सकता। आसक्तिके त्यागसे ही कर्मयोगनिष्ठाकी सिद्धि होती है। इसलिये श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(३। १९)

अर्थात् इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य कर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

अतएव सभी साधनोंमें वैराग्यकी परम आवश्यकता है। विवेकपूर्वक वैराग्यके विना किसी भी साधनका सिद्ध होना सम्भव नहीं।

परंतु ये सब साधन-भजन तभी ठीकरूपसे चल सकेंगे, जब हम प्रतिदिन शुद्ध आहार ग्रहण करेंगे। जो परमात्माको प्राप्त करना चाहते हैं, अंदरका असली आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं, किसी भी योग-साधनके अधिकारी बनना चाहते हैं, उन्हें तो शुद्ध आहार अवश्य ग्रहण करना पड़ेगा। उन्हें तो मांस, मछली, अंडे, प्याज, लहसुन, शलगम, गाजर आदि सभी तामसिक पदार्थ तथा मिर्च, मसाला, तेल, खटाई, मिठाई, अचार, मुरब्बा और घी, तेल आदि चिकनाईमें तली-भूनी चीजें (पूड़ी, कचौरी, हलुआ, मोहनभोग, रसगुल्ला, गुलाबजामुन, लड्डू, पेड़ा, रबड़ी, मलाई आदि राजसिक पदार्थ) छोड़ने होंगे; इनके त्यागे विना कुछ भी नहीं होगा। हमारे शास्त्रोंमें भोजनकी पवित्रतापर, उसकी सात्त्विकतापर जो इतना जोर दिया गया है, वह किसलिये ? केवल इसलिये कि उससे सात्त्विक विचार उत्पन्न होंगे, पवित्र विचार बनेंगे, जीवन पवित्र बनेगा, बुद्धि शुद्ध होगी, रज और तमसे छुटकारा मिलेगा और सत्त्वगुणकी वृद्धि होगी। 'जैसा खावै अन्न, तैसा बनै मन।' भोजनके पदार्थोंका चित्तपर पूरा संस्कार पड़ता है।

शुद्ध आहारके तीन अर्थ हैं— (१) अन्न ईमानदारीकी कमाईका होना चाहिये अर्थात् जिससे अन्न खरीदा गया हो वह धन किसीका भी खून चूसकर या किसीको भी किसी प्रकारकी हानि पहुँचाकर न कमाया गया हो। पवित्र विचारोंके लिये अर्थशुद्धि भी जरूरी है। (२) भोजनके बनानेमें पूरी शारीरिक पवित्रता और पूरी मानसिक पवित्रता बरती गयी हो यानी वह स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर मौन रहकर इष्ट-नाम जपते हुए प्रसन्नतापूर्वक शुद्धतासे बनाया गया हो। और (३) बलिवैश्वदेवके पश्चात् अतिथिका अन्न आदिसे भलीभाँति सत्कार करनेके बाद भोजन इष्टको निवेदन करके उसे प्रभु-प्रसादी समझकर मौन रहकर इष्टका स्मरण करते हुए प्रत्येक कौरको इतना चबाना चाहिये कि वह लारके साथ मिलकर एक हो जाय और केवल इतना प्रसाद ग्रहण करना चाहिये कि पेट न तो खाते समय भारी लगे और न खानेके बाद। सनातनी हिंदू भोजनको भी भजन जानते हैं, भोजनको प्राणाग्निहोत्र-यज्ञ जानते हैं; 'यदश्नासि तत् कुरुष्व मदर्पणम्'—इस भगवदादेशका स्मरण रखते हुए मौन रहकर प्रभु-स्मरणके साथ प्रसाद पाकर उसे अमृत बना लेते हैं; वे पशु-पक्षीकी भाँति जीभके रास्ते भोजन-पदार्थ सिर्फ पेटमें ठूँसते नहीं। उनका भोजन सात्त्विक, पौष्टिक, सादा और संतुलित होता है।*

दूषित भावनाओंवालेके द्वारा बनाये अन्नमें मनको बिगाड़नेका प्रभाव रहता है। मांसाहारीके हाथका, हर-किसी मनुष्यके हाथका भोजन करनेसे भी मन दूषित हो जाता है। नौकरों इत्यादिके द्वारा बनाये गये या होटलोंमें बनाये गये भोजनमें पवित्र भावनाएँ नहीं होतीं; इसीलिये होटलोंमें खानेवालोंकी मानसिक अवस्था दिनोंदिन बिगड़ती चली जाती है और उनका घोर मानसिक तथा शारीरिक पतन हो जाता है। भूलकर भी भारी जमातोंमें बना, हलवाइयों और होटलोंका बना, बाजारोंमें बना और चाहे जिसके हाथका बनाया भोजन कभी भी नहीं खाना चाहिये। अन्नदाताका तथा अन्न बनानेवालेका मानसिक भाव अन्नके जरियेसे अन्न खानेवालेमें

---

* कहा गया है—

अस्नाताशी मलं भुङ्क्ते ह्यजपी पूयशोणितम्।
असंस्कृतान्नभुङ् मूत्रं बालादिप्रथमं शकृत॥
अहोमी च कृमीन् भुङ्क्ते अदत्त्वा विषमश्नुते।

(विष्णुपुराण ३। ११। ७१-७२)

अर्थात् जो मनुष्य स्नान किये बिना भोजन करता है, वह मल खाता है। जप किये बिना भोजन करनेवाला रक्त-पीब पान करता है, संस्कारहीन अन्न खानेवाला मूत्र पीता है तथा जो बालक-वृद्ध आदिसे पहले भोजन करता है, वह विष्ठाहारी है। इसी प्रकार बिना होम किये भोजन करनेवाला मानो कीड़े खाता है और बिना दान किये खानेवाला विषभोजी है।' अतः अन्नको सात्त्विक और अमृतस्वरूप बना लेनेके लिये भोजनसे पहले स्नान करना, जप-पूजादि करना, बलिवैश्वदेव करना, बालक-वृद्ध-रोगी-गर्भिणी आदिको खिलाना और गौ, कुत्ते, काक, चींटी आदिके लिये अन्न छोड़ना परमावश्यक है।

संचारित हो जाता है। इसलिये अन्न ग्रहण करनेमें यह अवश्य देख लेना चाहिये कि अन्न कहाँसे आ रहा है और किसके द्वारा बनाया गया है। जैसे अभ्यास और वैराग्य—ये दोनों मिलकर एक पूर्ण साधन बनते हैं, वैसे ही शुद्ध भावना और शुद्ध अन्न—ये दोनों मिलकर ही मोक्षका अधिकारी बनाते हैं। सदा स्मरण रखना चाहिये—'जिते रसे सर्वं जितं भवति' रसनाजित् होनेपर अर्थात् सात्त्विक एवं परिमित, लघु आहारका अभ्यास दृढ़ हो जानेपर सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं। रसनाको जिसने सचमुच रस+ना बना लिया, उसने आधा जग जीत लिया। मादक पदार्थोंको तो पास भी न आने देना चाहिये। शराब, ताड़ी, आसव, गाँजा, भाँग, चरस, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट ही नहीं, यथासाध्य चाय भी नहीं पीना चाहिये। ये सभी चीजें नशीली हैं। मादक द्रव्यका व्यवहार तथा धूम्रपान क्षय-रोगका एक बड़ा कारण है। इसीलिये यह जरूरी है कि न तो असात्त्विक (अपवित्र) पदार्थ खाये-पिये जायँ और न ऐसे लोगोंका सङ्ग किया जाय, जिनके विचार [illegible]कीर्ण हैं, गंदे हैं, मलिन हैं, अशुद्ध हैं, और जो नशेके वश हैं।

मनुष्य आशासे कष्ट पाते हैं। आशाबद्धके लिये मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है। जबतक मनुष्यका शरीरमें अभिमान रहता है, तबतक उसको किसी-न-किसी प्रकारके संयोगजनित सुखका लालच रहता है। शरीरको 'मैं' माननेसे और सम्बन्ध रखने-वालोंको 'मेरा' माननेसे चाहकी उत्पत्ति होती है; क्योंकि जिन-जिनसे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाता है, उनमें आसक्ति होती है। आसक्तिके कारण ही भोग उसे सुखप्रद प्रतीत होने लगते हैं और वह भोगोंके उपभोगमें प्रवृत्त होता है। जबतक यह भाव रहता है—अमुक वस्तु, अमुक व्यक्ति, अमुक परिस्थितिमें सुख मिलेगा, तबतक मनुष्य उनका दास बना रहता है और जबतक देहभाव रहता है, तभीतक भोग-वासना और अनेक प्रकारके दोष रहते हैं। अपनेको चेतन-स्वरूप जानकर देहसे असङ्ग होनेपर ही मनुष्य भोगवासनासे रहित हो सकता है। इस समय देखनेमें आता है कि एक समूहके लोग, जो अपनेको विरक्त कहनेका दम भरते हैं, अपनेको भगवान्‌का भक्त कहते हैं। उनमें अधिकांश लोग बड़े-बड़े मठ, आश्रम, अखाड़े, बड़े-बड़े अधिकार और बहुत-सी सामग्रियोंका संग्रह करनेमें ही अपना जीवन सफल मानते हैं। अमुक स्वामीजीका आश्रम बड़ा सुन्दर है। वहाँ लोगोंको सब प्रकारका सुख मिलता है, उनके बड़े-बड़े धनी-मानी ऊँचे अफसर, मिनिस्टर लोग शिष्य या भक्त हैं, उनका बड़ा सम्मान है, उनकी निजी मोटर है,—इस प्रकारकी बड़ाई सुन-सुनकर मस्त रहते हैं एवं व्यक्ति, वस्तु, अवस्था और परिस्थितिके सम्बन्धसे भोगोंकी चाह उत्पन्न होने और उनके पूर्ण होनेको ही सुख मानते हैं। ये सब चाहके दास हैं। ये त्यागीका वेष लेकर संग्रहमें लगे रहते हैं, अर्थ-वित्त-त्यागीका चपरास लेकर भी धनवान् हैं, वित्तशाली हैं, धन-जन-स्थानके गौरवी हैं। इन्होंने 'घर' नामक स्थान छोड़ा और आश्रम नामक स्थान बनाकर ये उसमें रहने लगे। पहले घरका अहंकार था, अब आश्रमका हो गया। पहले घरमें ममता थी, अब आश्रममें हो गयी। पहले घरके प्राणि-पदार्थोंको लेकर राग-द्वेष था। अब आश्रमके प्राणि-पदार्थोंको लेकर हो गया। परिवर्तन केवल नामका हुआ, वस्तुस्थिति वही रही। त्याग वस्तुतः कुछ भी नहीं हुआ। बल्कि त्यागका एक मिथ्या अभिमान और छा गया। इनके लिये ही कहा गया है—'न घरका न घाटका'। इन्होंने इष्टा-पूर्त्त* कर्मोंका परित्याग करके तो चतुर्थ आश्रमका वेष धारण किया था; परंतु अब ये उन

* 'इष्ट'=अग्निहोत्र, वैश्वदेव, वेदपाठ, आतिथ्य आदि वेदविहित कर्म; 'पूर्त्त'=स्मृतिविहित कूप-तड़ागादि दानरूप तथा बगीचे लगाना, रास्ता-घाट, धर्मशाला, मन्दिरादि निर्माणरूप कर्म। ये सब अर्थ तथा वित्तसाध्य कर्म गृहस्थाश्रमीके लिये विहित हैं; क्योंकि वे ही अर्थ और वित्तके संग्रहके शास्त्रोक्त अधिकारी हैं।

मुण्डकोपनिषद्‌में कहा गया है—

'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥'

(१। २। १०)

अर्थात् स्त्री-पुरुष-वित्तादिमें आसक्तिवश मोहयुक्त मनुष्य इष्टापूर्त्त-कर्मको सर्वोत्कृष्ट मानकर उससे अतिरिक्त और कुछ भी कल्याणप्रद साधन अर्थात् आत्मज्ञान नहीं जानते। वे मूढ़ मनुष्य सकाम कर्मसे लब्ध स्वर्गके उपरिभागमें अर्थात् इन्द्रलोकमें पुण्यफल भोगकर [पुण्य-क्षीण होनेके साथ ही] इस मर्त्यलोकमें अथवा इससे भी हीनतर लोकमें अर्थात् पश्वादिके शरीरमें किंवा नरकमें प्रवेश करते हैं। इस रहस्यको जानकर विवेक-वैराग्यवान् पुरुष इष्टापूर्त्त-कर्ममय गृहस्थाश्रम त्यागकर परमात्माकी अपरोक्षानुभूतिके लिये आत्मज्ञानलाभार्थ प्रयत्न करते हैं। अतः जो लोग गृहस्थाश्रम त्यागकर संन्यास-आश्रममें प्रवेश कर चुके हैं, उनके पक्षमें पुनः इष्टापूर्त्त-कर्ममें प्रवृत्त होना भी अयुक्त है, वान्त-भोजनके समान श्व-वृत्ति है।

इष्टा-पूर्त कर्मोंके जरियेसे विश्व-कल्याणके नामपर लोगोंसे सुख-सुविधा, मान-सत्कार, पूजा-प्रतिष्ठा आदि नीच स्वार्थ-साधन तथा शरीर और इन्द्रिय-तृप्तिके प्रयासमें ही लगे हुए हैं और अपने ही कर्मोंसे अपने-आपको धोखा दे रहे हैं। ये गैरिक वसनका कलङ्क हैं। ये स्वधर्म-त्यागी एवं परधर्मग्राही हैं, अपनी प्रतिज्ञाके तोड़नेवाले हैं। श्रीस्कन्दपुराणमें कहा गया है—

वराटके संगृहीते यत्र तत्र दिने दिने।
गोसहस्रवधं पापं श्रुतिरेषा सनातनी ॥

(काशीखण्ड पूर्वार्ध ४१ । २५)

अर्थात् संन्यासी यदि प्रतिदिन कौड़ी-कौड़ी भी जहाँ-तहाँसे धन संग्रह करे तो उसे एक सहस्र गौओंके वधका पाप लगता है, यह सनातन श्रुति है। साधु-संन्यासी होकर 'कञ्चन-कामिनी'के साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध जोड़ना, सम्पर्क रखना अर्थात् स्त्री और धनको रखना उसके लिये कलङ्क है। साधु-संन्यासी होकर अपने लिये इमारतें बनवानेसे, चेलियाँ बनाकर उनके साथ एकान्तवास करनेसे और गृहस्थोंकी भाँति ही व्यापारादि प्रवृत्तिमार्गका विस्तार करनेसे संन्यासी नरकमें जाता है।

जबतक कुछ बननेकी या कुछ करनेकी इच्छा है, तबतक विषयोंमें आसक्ति है, भोगोंकी वासना जीवित है; तबतक कोई बूढ़ा हो या जवान, उसे अनात्मविचार घेरेंगे ही। माथा मुड़ा लेनेसे, कपड़ा रँग लेनेसे, घर-बार छोड़ देनेसे, परिग्रहसे छुटकारा ले लेनेसे, धर्मोपदेशक, कथावाचक, साधु-संन्यासी, मुल्ला-पादरीका चोगा पहन लेनेसे विषयोंकी वासना जाती रहेगी—ऐसा सोचना भी गलत है। जैसे छोटे-से नोटमें हजार रुपये भरे रहते हैं, वैसे ही छोटी-सी लँगोटीमें भी अपार आसक्ति भरी रह सकती है। चाहे घरमें रहा जाय या जंगलमें, आसक्ति तो पास ही बनी रहती है। जरूरत है इस आसक्तिको मिटानेकी। फिर कहीं भी रहा जाय—घरमें या जंगलमें। इस कारणसे कहा गया है—

नातः सुखतरं किंचित् त्रिपु लोकेषु विद्यते।
वीततृष्णस्य कामेभ्यो मुक्तसङ्गस्य यत् सुखम् ॥
किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम्।
तद् भवेत् परितापाय सर्वं सम्पद्यते तदा ॥

बन्धन मनुष्यका अपना ही बनाया हुआ अपने अंदर है, अतः उससे मुक्ति भी वह स्वयं ही कर सकता है। बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये चाहिये कि सब प्रकारके भोगोंकी चाहका त्याग कर दे तथा उनके सम्बन्ध और चिन्तनसे रहित हो जाय। चाहरहित न होनेतक अभावका दुःख भोगना ही पड़ता है। नाना प्रकारके संकल्प और भोगोंकी इच्छाने ही मनुष्यमें अभावकी उत्पत्ति करके उसे दुखी कर दिया है। संकल्परहित होनेपर साधकमें शक्तिका जागरण होता है और चित्त शुद्ध और शान्त होने लगता है। तब वह चाहरहित हो सकता है। चाहरहित होनेपर ही शान्ति मिलती है। श्री-भगवान्‌ने कहा है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

(गीता २ । ७१)

अर्थात् जो सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।

आस्थाकी सायामें

जब कभी अन्तरतमकी गहराईमें झाँकता हूँ।
उद्विग्नताका वेग कम हो जाता है।
चिन्ताका साया हट जाता है।
और—
डगमग विश्वास जम जाता है।
तब—
आस्थाकी सायामें
संकल्प, वेगवान हो,
हमराही पवनवत;
हमराही हिलोरवत,
मेरे कदमोंको
मंजिलकी ओर बढ़ा देता है।

—बालकृष्ण बलदुवा

प्रभु-पद, रज और पाँवरी

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र)

पर तो प्राणिमात्रके होते हैं, पद होना चाहिये—पद भी पद्मपाद हों, फिर उनकी रज। तुलसीदासजी उन्हीं 'सरोज-चरण-रज'की ओर इङ्गित कर कह रहे हैं—

'श्रीगुरु चरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि।

केवल अयोध्याकाण्डके प्रारम्भमें ही इतनी सावधानी बरतनेकी आवश्यकता क्यों थी?......

वैसे तो श्रीरामचरितमानसमें अयोध्याकाण्ड विशिष्ट है। उसमें भी (विशिष्ट) स्थल चित्रकूट है, जहाँ रघुवर-विमल-यश तथा भरत-सुयशका वर्णन स्वयं एक साधना थी तथा वहीं यदि श्रीरामके द्वारा भरतको दीक्षा दी गयी हो तो विवेचन अधिक दुर्गम हो जाता है। कवि तुलसी भरतकी साधनाका वर्णन तो कर गये; किंतु उसे सर्वजनगम्य फिर भी नहीं बना सके। चित्रकूटमें भरत-राम-दर्शन और मिलन हुआ—तुलसीने इसीलिये उसे वैशिष्ट्य प्रदान किया और स्वयं उन्हें भी रामदर्शन वहीं हुआ, ऐसा कहा जाता है।

'तुलसिदास चंदन घिसैं तिलक देत रघुबीर।'

तुलसीदासजीके इष्ट--श्रीरामचन्द्रजी और गुरु महामना भरतके इष्टके विषयमें शङ्का किसीको हो नहीं सकती; इसलिये प्रमाण अनावश्यक है। तथापि भरतके गुरु होनेका प्रमाण देना होगा--

अयोध्याकाण्डके अन्तमें वे कहते हैं—

'तुलसी से सठहि हठि राम सनमुख करत को।'

जीवको ईश्वरके सम्मुख करना सरल कार्य नहीं—

'जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं।'

फिर भी जीव ईशके सम्मुख नहीं होता, परंतु तुलसीको भरतजीने रामके सम्मुख कर दिया—

'बलिहारी गुरुदेव की जिन गोबिंद दिये बताय।'

भगवान् विभीषणकी शरणागतिके समय कहते हैं—

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

भरतजीने तुलसीके कोटि जन्मके अघ नाश कर दिये और अपनी साधनाका क्रम उपलब्ध करा दिया। यह केवल गुरु ही कर सकता है। पारस लोहेको सोना बनाता है, परंतु 'गुरु करें आपु समान' यह रजोपासना उन्हीं महामना भरतकी प्रदत्त थी।

जिस समय भरतको जगत्ने उपेक्षित करना चाहा, किया, उस समय भरतने केवल एक ही आश्रय ग्रहण किया, वह था—

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥

भरत कहते हैं—मेरे हृदयमें जलन है, भवतापसे मैं दग्ध हुआ जा रहा हूँ। बिना सरोज-चरणके देखे जलन शान्त नहीं हो सकती। इस जलनका उपचार करनेके लिये तपस्वी भरत नग्न-पद, कण्टकाकीर्ण मार्गसे चले जा रहे थे; साथमें था अयोध्याका समाज, जो अब अपना दृष्टिकोण परिवर्तितकर भरतकी रजोपासनाका अनुसरण कर रहा था। यह कहकर कि—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

और भरत उस मार्गका अनुसरण कर रहे थे, जिस मार्गसे राम गये थे। पद-चिह्न देखकर भरत जलन मिटा—हर्षित होकर—

हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं।
रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥

यह थी रजोपासना! प्रभु, इष्टदेव, गुरुके दर्शनोंके लिये चरणरजसे सिर, हिय और नयन परिमार्जित, प्रकाशयुक्त बनाये जा रहे थे। इस साधनाके क्रमपर देव बलिहार हो रहे थे। कहि सुपंथ 'सुर बरषहिं फूला।' इसी चरणकी रजसे गङ्गा पावन हुई थी और केवट इस रजको विनोदमें ही धोकर पी गया था। भरतने तो अपनी जलनका बाह्य उपचार किया, परंतु केवटने तो पीकर।

'पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार।'

इसी चरण-रजसे अहल्या तर गयी—

'पद रज परसि तरी मुनि नारी।'

भरतकी रजोपासनाके अनुयायियोंका रामचरितमानसमें एक सम्प्रदाय ही बन गया। भरतजीने अपनी साधनाके

क्रममें इसे प्रथम स्थान दिया। जलन मिटानेके लिये चरण-रजोपासनाका द्वितीय क्रम आरम्भ होता है—

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥

जिन चरणोंके देखनेके लिये दारुण दीनता बतलायी थी, वे सरोज-चरण समक्ष थे। उन्हींके नहीं, अवधवासियोंके समक्ष भी थे। चरण-सरोजपर सिर रखने और रखानेका उत्सव ही चित्रकूटमें मनाया जा रहा था। राम, लक्ष्मण, सीता महारानी माताएँ, गुरु, अयोध्यावासी शत्रुघ्न आदि चरणोंके 'दरसन-परसन'का आदान-प्रदान कर रहे थे।

इसके अनन्तर तीसरा अध्याय भरतकी आराधनाका आरम्भ होता है। जब यह निर्णय हो गया था—राम वनसे नहीं लौटेंगे, तब इतना लंबा अवधिका समय पार करनेके लिये अवलम्बन चाहिये। माँगा तो—

'प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं'

प्रभु-चरण-रजसे परिमार्जित स्वर्णमण्डित पाँवरी प्रभुने दे दी। भरतजी उन्हें अपनी साधनासे पारस बनानेके लिये अपने सिरपर धारणकर ले चले।

भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥
चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के॥
आखर जुग जनु जीव जतन के॥

चरण-रजसे मँजी हुई, सुधरी हुई स्वर्णमण्डित पाँवरी अयोध्याके राजसिंहासनपर सुशोभित हुई। भरतजी उसे अपने सिरपर रख राजमार्गसे राजसी वैभवको ले गये। उन्होंने जगत्‌को यह साधनाका क्रम बतलाया। पद, रज, चरणसरोज और कृपापाँवरी 'नित पूजत प्रभु पाँवरी' और इतनी शक्तिका समावेश उनमें कर दिया कि—

'मागि मागि आयसु करत—राजकाज ·······',

ऐसी पद-रजसे विशुद्ध साधनाका क्रम। यह था, 'पद-रजाभिषेक'—न कि 'राज्याभिषेक'।

दुःख-दाह-दारिद-दम्भ-दूषण-भव-ताप-अपहरणका कारण बनी यह साधना—

मुनिमन-अगम यम-नियम, शम-दम, व्रत कौन कर सकता था और—

'तुलसी से सठहि हठि राम सनमुख करत को ?।'

बालकाण्डके आरम्भमें कह चुके हैं—

श्रीगुरु पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती॥
सूझहिं राम चरित मनि मानिक।

स्वामी रामतीर्थका कथन सर्वथा सत्य है—पुस्तकोंके पठनसे ज्ञान मिलता है परंतु अध्यात्मशक्तिका अरुणोदय तो गुरु-चरण-रज लगानेसे होता है। श्रीमद्भागवतमें प्रह्लाद कहते हैं—

महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्।'

(७।५।३२)

राजा रहूगण (स्कन्ध ५, अध्याय १२, श्लोक १२ में) कहते हैं—

'नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्।'

'महत्-पद-रजके लगानेसे ही मानव-जातिके हृदय, सिर और नेत्र प्रकाशयुक्त होते हैं। इस- रजोपासनाकी साधनाका क्रम महामना भरतकी साधनामें क्रमबद्ध है। भव-तापकी आँचसे जब जीवके हृदयमें भयंकर जलन होती है, तब रज शीतलता लाती है, पद आनन्द देते हैं। पद-पाँवरी साधना-को स्थैर्य प्रदान करती है। और पाँवरी-पूजनके समय—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥

यह दशा हो जाती है। यही साधनाका क्रम महाराज जडभरतका भी था।

—अनुरागभरद्रुतहृदयशैथिल्यः प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्य-मानरोमपुलककुलक औत्कण्ठ्य·······

(श्रीमद्भा० ५।७।१२)

नयनसे जलधार बहने लग जाती है।
साधना नयी नहीं, क्रमागत है,
सरल है, सर्वजनगम्य है।

मन चेत करो

दस मास रहे जब गर्भ महीं, तब ही प्रभु सौं तुम कौल किया।
अब बाहर ह्वै हरि-भक्ति करौं, तेहि कारन तोहि निकारि दिया॥
इत आय बढ़े तुम भूलि गये, तेहि तें दिन रात भये दुखिया।
कवि 'दीहल' हे मन! चेत करौ, भज राम-सिया जिन जन्म दिया॥

—भक्त श्रीदीहलजी

मैं और वह

(लेखक--डा० शचीन सेनगुप्त)

मैं—तुम छिपे क्यों रहते हो ?

वह—छिपकर तुम्हें देखना मुझे अच्छा लगता है।

मैं—तुम तो मुझे देख पाते हो, पर मैं तो तुम्हें नहीं देख पाता। तुम्हारे और मेरे बीचमें आड़ है, इसीसे मैं तुमको नहीं देख पाता।

वह—उस आड़को तुम हटा दो।

मैं—वह मेरे हटानेसे हटेगी ?

वह—बार-बार प्रयत्न करो, मन-प्राण लगाकर भिड़ जाओ, एक दिन वह आड़ हट जायगी।

मैं—यह तुम्हारा छल है। मुझे दर्शन नहीं देना है, इसीसे ऐसी बात कह रहे हो।

वह—नहीं-नहीं, सत्य कहता हूँ—एक दिन यह आड़ हट जायगी—लगे रहो।

× × ×

वह—तुम रो रहे हो ? अच्छी बात है, मैं तुम्हारे और भी समीप सरक आया हूँ। अब मुझे देखो।

मैं—कहाँ ? मुझे तो नहीं दिखायी देते।

वह—और भी समीप चला आया हूँ। तुम्हारे अन्तरके एकान्त कोनेमें चुपचाप खड़ा हूँ। अब मुझे देख पाते हो ?

मैं—न, मैं तो तुम्हें नहीं देख पाता।

वह—अब मैं बाहर निकलकर ठीक तुम्हारी आँखोंके सामने खड़ा हूँ। देख पा रहे हो ?

मैं—नहीं, मैं तो नहीं देख पाता। तुम मेरी आँखोंका रंग बदल दो। इन आँखोंसे मैं तुम्हें नहीं देख पाऊँगा।

वह—तुम मुझे क्यों इतना देखना चाहते हो ?

मैं—इसलिये कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।

वह—अच्छा तो, क्या बिना देखे प्रेम नहीं किया जा सकता ?

मैं—मैं तुमसे अत्यन्त प्रेम करता हूँ, इससे तुम्हें सदा ही देखना चाहता हूँ।

वह—मुझे केवल देखना ही चाहते हो ?

मैं—तुम्हारा दरस चाहता हूँ, तुम्हारा परस चाहता हूँ। अरे, मैं तुम्हें चाहता हूँ। तुम्हारे बिना मैं रह नहीं सकता।

वह—अच्छा तो, मुझे तुम भूल गये थे—अब फिर मुझे क्यों चाहते हो ?

मैं—तुम्हारे बिना मेरा दम घुटा आ रहा है। मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकता।

वह—तुम मुझसे इतना प्रेम क्यों करते हो ?

मैं—तुम जो मुझसे प्रेम करते हो, इसीलिये तुमसे मैं इतना प्रेम करता हूँ।

वह—तुमसे तो और भी कितने ही लोग प्रेम करते हैं।

मैं—वे स्वार्थके काँटेपर प्रेमको तोलकर प्रेम करते हैं; तुम इसलिये प्रेम करते हो कि तुम्हें प्रेम करना ही है।

वह—वाह ! तुम्हारी बात तो बड़ी मीठी है।

मैं—तुम मेरे पास हो इसीसे। इसके सिवा, तुम्हीं तो मेरी बातोंका योग लगा देते हो, इसीसे तो मेरी बात मीठी है। तुम जो कितने अधिक मीठे हो, इसे तुम क्या नहीं जानते ?

वह—अच्छा तो, मैं तुम्हारे पास-पास ही रहूँगा। कभी दूर नहीं जाऊँगा। फिर भी मुझे देखना क्यों चाहते हो ?

मैं—मैं तुमको सर्वदा मेरा बना लेना चाहता हूँ। मैं

तुमको सदा अपनी आँखोंके सामने रखना चाहता हूँ।

वह—मेरे और भी कितने काम हैं ?

मैं—फिर तुम छल करने लगे।

वह—तुम फिर रोने लगे ? अच्छा तो यह लो; तुम्हारी आँखोंका रंग बदल दिया। अब देखो तो।

मैं—वाह ! वाह ! कैसा विचित्र मैं तुम्हें देख पा रहा हूँ। क्या रूप है तुम्हारा ? जिधर देखता हूँ, उधर ही तुम्हें देखता हूँ। सभी तुम्हारे रूप हैं, कैसा सुन्दर रूप है। सारा विश्व केवल तुम्हारे ही अपरूप रूपसे जगमगा रहा है। रूपकी कैसी बहार है…… …।

वह—अब जरा अपनी ओर तो देखो !

मैं—अपनेको तो मैं देख ही नहीं पाता—यह तो तुम-ही-तुम हो।

वह—तुम मुझसे इतना प्रेम करते हो, इसीसे मैं भी आज तुम-ही-तुम हो गया हूँ।

—उज्जीवन

परोपकारी झरगद

(कहानी—सच्चे तथ्योंके आधारपर)

(लेखक—श्रीवीरबहादुरसिंहजी चौहान, बी० ए०, प्रभाकर)

झरगद शान्त और गम्भीर स्वभावका बालक था। अन्य लड़कोंकी भाँति चपलता तथा उच्छृङ्खलता उसमें नाममात्र-को न थी। वह उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ था; किंतु माँ-बापकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। अतः उसकी शिक्षा प्राइमरी स्कूलके बाद जारी नहीं रह सकी।

झरगद चौदह वर्षका नहीं हो पाया था कि अकस्मात् उसके माता-पिताका स्वर्गवास हो गया। झरगद अपने माँ-बापका इकलौता बेटा था। उसके कोई अन्य भाई-बहिन नहीं थे। चाचा-ताऊ भी नहीं थे। यहाँ तक कि सम्बन्धियोंमें भी कोई न था। वह संसारमें अकेला था। पैतृक सम्पत्तिके नाम उसके पास केवल दो बीघा भूमि थी। यही उसके उदर-पोषणका अवलम्बन था। गाँववालोंको दया आ गयी, वे उसकी सहायता करने लगे।

कुछ दिनों बाद गाँवमें एक महात्मा आये। वे तीन दिन ठहरे। महात्माजीने उपदेश देते हुए कहा—'यह जीवन नश्वर है। इसपर अभिमान मत करो। भगवान्‌ने तुम्हें किसी मुख्य उद्देश्यकी पूर्तिके लिये पैदा किया है। वह उद्देश्य है—सेवा। प्राणिमात्रकी अधिक-से-अधिक सेवा। क्रोध, लोभ, मोह, मिथ्याका—जहाँतक हो सके—त्याग करो। एक दूसरेके साथ सहयोग और सद्भावना रक्खो। संसार तुम्हारा है और तुम संसारके हो। तुम्हारा संसारमें कुछ नहीं है और संसारका तुममें कुछ नहीं है। सोच-विचारकर काम करो। केवल समझ-का अन्तर है। समझकर काम करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा।'

महात्माजीके इस उपदेशने झरगदके हृदयको छू लिया। उसने प्रतिज्ञा की—मैं अपना जीवन संसारके अधिक-से-अधिक हितमें लगाऊँगा; क्योंकि यह मनुष्य-देह मेरे लिये नहीं, मेरी मौज-शौकके लिये नहीं, बल्कि दूसरोंकी सेवाके लिये मुझे दी गयी है।

—और उसकी जिंदगी एक विशेष दिशाकी ओर मुड़ गयी।

वह दिनभर काम करता। शामको मन्दिरमें सामूहिक प्रार्थना और कीर्तनमें शामिल होता। वह बिना नागा मन्दिरमें जाता। यदि किसी दिन शामको देर हो जाती और समयपर मन्दिर न पहुँच पाता तो वह जहाँ भी होता, वहीं बैठकर प्रार्थना और कीर्तन करने लगता। उसका कहना था—बिना भगवान्‌को याद किये उसका मन बेचैन रहता है और उसे शान्ति नहीं मिलती।

यह क्रम वर्षों चलता रहा।

अब झरगद अपनी जीविका स्वयं उपार्जन करता था। वह किसीके सहारे न था। वह महीनेमें सिर्फ दस दिन काम करता और इतना कमा लेता जिससे कि शेष बीस दिन बैठ-कर खा सके। इन बीस दिनोंका उसका विचित्र कार्यक्रम रहता। वह निठल्ला नहीं बैठता था। और दिनोंकी अपेक्षा इन दिनोंमें वह अधिक व्यस्त दिखायी देता।

गाँवोंमें अधिकतर रास्ते ठीक नहीं होते। नालियाँ गंदी रहती हैं। झरगद पुराने रास्तोंपर उगी हुई घास-फूस और काँटों-कंकड़ोंको साफ करके उनकी मरम्मत करता तथा नये-नये रास्ते बनानेमें बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करता। उसे गंदी नालियोंकी सफाईमें आनन्द आता था। गाँवके अंदर या बाहर जहाँ भी अच्छी जमीन दिखायी देती, वहाँ वह पेड़ लगा देता और उन वृक्षोंकी सम्यक् देखभाल करनेमें कभी ढील नहीं करता तथा गरमीकी दोपहरीमें जब चील अंडा छोड़ती और लोग खसकी टट्टियोंके अंदर बिजलीके पंखोंके नीचे पड़े बर्फसे गला तर करके गरमीकी तपनको मिटाते, तब झरगद एक लँगोटा लगाये दूर-दूरसे पानी लाकर वृक्षोंकी जड़ोंमें सींचता और कहता 'ये वृक्ष हमें फल देंगे, छाया देंगे और पानी बरसनेमें मदद करेंगे। ये किसी एककी सम्पत्ति नहीं हैं, सबके हैं।' जैसे निःस्वार्थ सेवा ही उसकी जिंदगी हो गयी हो।

एक बार गाँवमें जोरोंका प्लेग फैला। काफी संख्यामें आदमी मरने लगे। झरगदको न दिनमें चैन मिलता और न रातमें आराम। उसे नींद हराम हो गयी। वह रात-दिन एक करके रोगियोंकी परिचर्यामें लगा रहता। बाजारसे दवा लाकर रोगियोंको पिलाता और उनका सब प्रकारसे ध्यान रखता। वह असहाय और अनाथोंकी ओर ज्यादा गौर करता। प्लेग बड़ी भयंकर बीमारी है, उसने स्पष्ट देख लिया। जो आदमी एक घंटा पहले स्वस्थ था, उसके अचानक गिल्टी निकली, बुखार आया और दूसरा घंटा तब बीता, जब उसका दम निकल गया। उसने जीवनकी क्षणभङ्गुरताके साक्षात् दर्शन किये। वास्तवमें इस जिंदगीका कोई ठिकाना नहीं है। निश्चय ही यह पानीके बुलबुलेकी भाँति है, जो एक क्षणमें उठता है और पलभर ठहरकर दूसरे क्षण नष्ट हो जाता है।

आजकल कुछ ऐसा रिवाज हो गया है कि स्कूलके अधिकांश विद्यार्थी बीड़ी पीने लगे हैं और कालेजके सिगरेट। झरगद लड़कोंको बीड़ी या सिगरेट पीते देखता तो समझाता—'बुरी आदत है। इससे कलेजा जलता है। मुँहमें बदबू आती है। पैसा बर्बाद होता है सो अलग। मत पिया करो भाई! भविष्यमें नहीं पियोगे न!' और उसकी वाणी कुछ ऐसी सरस, मधुर और प्रभावोत्पादक थी कि विद्यार्थी एक बार धूम्रपान न करनेकी बात जरूर कह देता।

गाँवमें दो शराबी थे। झरगद उन्हें बहुत समझा चुका था, पर वे मानते न थे। उनकी घरकी हालत बिगड़ती जाती थी। कभी अनाज न रहता, कभी कपड़ा। कभी औरतें नमक-तेल-लकड़ीके लिये बैठी रहतीं, कभी साग-सब्जीके लिये। पुष्ट भोजनके अभावमें बच्चे पीले पड़ गये थे। उनके पेट निकल आये थे। झरगद इनकी काफी मदद करता और शराबियोंकी आदत छुड़ानेके लिये विभिन्न उपाय काममें लाता। एक दिन दोनों शराबी नशेकी हालतमें बक-झक रहे थे। आपसमें गाली-गलौज कर रहे थे। इसी समय झरगद आ पहुँचा। उसने मना किया। शराबियोंको गुस्सा आ गया। दोनों झपट पड़े। झरगदको खूब पीटा। उसका सिर फूट गया। टाँगमें भी चोट आयी। अन्य लोगोंको मालूम हुआ तो उन्होंने झरगदसे कहा—'झरगद! तुम कहो तो हम उन दोनोंका नशा उतार दें। इतना पीटें कि कचूमर निकल जाय। तब अपने-आप ठीक हो जायँगे।'

'नहीं, भाई!' झरगदने नम्र स्वरमें जवाब दिया। 'ऐसा मत करना। वे नहीं जानते थे कि हम क्या कर रहे हैं। उन्हें समझ होती तो वे ऐसा नहीं करते। मेरी समझमें कोई आदमी यह समझ लेनेपर कि यह काम बुरा है, उसे करनेको कभी तैयार नहीं होगा।' और इस घटनाका प्रभाव ऐसा पड़ा कि उन दोनोंने हमेशाके लिये शराब छोड़ दी। थोड़े दिनोंमें उनकी गृहस्थी फलती-फूलती दिखायी देने लगी।

झरगद सबका प्रिय हो गया था। बच्चे उसे दादा कहते। समवयस्क उसे भाई कहकर पुकारते। अधिक उम्रवाले उसे अपने लड़केकी तरह प्यार करते। वह सबसे हिल-मिलकर चलता। उसकी बातचीत और व्यवहारसे सब लोग प्रसन्न थे।

झरगदने पक्का विचार कर लिया था कि वह विवाह नहीं करेगा। उसकी कुछ ऐसी धारणा हो गयी थी कि यदि उसने विवाह किया तो उसे सेवाके विस्तृत क्षेत्रसे वञ्चित रह जाना होगा। लोग कहते—'झरगद! तुम जल्दी विवाह कर डालो। अपनी गृहस्थीकी देखभाल करो। तुम्हें कभी-कभी तो सूनापन महसूस होता ही होगा।'

वह जवाब देता—'गाँवमें इतने लोग हैं। कोई बाबा है, कोई चाचा है, कोई ताऊ है। भाई-भतीजे हैं। स्त्रियोंमें दादी, चाची, भावज और बहुएँ हैं। बहिनें तथा भतीजियाँ हैं। पूरा गाँव ही मेरा परिवार है। इतने जनोंके बीच मेरा समय आसानीसे कट जाता है। मुझे पत्नीका अभाव जरा भी नहीं खलता।'

और उसने विवाह नहीं किया ।

देखा गया है झरगद-सरीखे सीधे-सच्चे किंतु उच्च विचार-आचार और क्रिया-कलापके मनुष्योंको दीर्घ आयु नहीं प्राप्त होती । पर वे अल्प समयमें ही इतना काम कर जाते हैं जिससे उनकी स्मृति अमर हो जाती है ।

गरमीके दिन थे । रात आधी बीत चुकी थी । अचानक एक मकानमेंसे आवाज आयी—'चलो, जल्दी चलो । आग लग गयी ।' लगभग समूचा गाँव जमा हो गया । मकानके अंदर आगकी लपटें उठ रही थीं । छतोंसे धुएँके गुब्बारे निकल रहे थे । लोग पानी फेंककर धूल उछालकर आग बुझानेका यत्न कर रहे थे । तभी एक स्त्रीकण्ठ सुनायी दिया—'हाय, हाय ! मैं लुट गयी । मेरा लड़का आँगनमें सोता रह गया । अरे, है कोई जो मेरे बच्चेको बचाये । अब मैं क्या करूँ ?' गाँववाले एक दूसरेका मुँह ताकने लगे । किसीकी हिम्मत नहीं हो रही थी कि जलती आगमें कूद पड़े । इससे पहले कि लोग किसी निश्चयपर पहुँचें, उन्होंने देखा झरगद भागकर मकानमें घुस गया । दस मिनट बाद वह बच्चेको कपड़ेमें लपेटकर बाहर निकाल लाया । बच्चा बच गया । उसका बाल बाँका न हुआ । लेकिन झरगद बुरी तरह जल गया । उसके मुँह, हाथ-पैर काफी जल गये थे । वह कराहता हुआ जमीनपर गिर गया ।

आगपर काबू पानेके बाद लोगोंका ध्यान झरगदकी तरफ गया । उसकी हालत बिगड़ रही थी । उसे अस्पताल ले चलनेकी तैयारी की जाने लगी । झरगदने सुना तो बोला—'अरे भाई ! क्यों नाहक परेशान होते हो । अब यह मिट्टीका पुतला मिट्टीमें मिलने जा रहा है । देर नहीं है । मुझे अफसोस इस बातका है कि मैं आपलोगोंकी कुछ भी सेवा न कर सका । मैं ईश्वरसे प्रार्थना करता हूँ वे मुझे फिर पैदा करें तो बस, इसी गाँवमें पैदा करें, जिससे मैं आपके कुछ काम आ सकूँ । आपलोगोंसे मेरी विनती है कि जिस तरह सब हिल-मिलकर अभीतक रहते आये हैं, वैसे ही भविष्यमें भी रहनेकी कोशिश करें । लड़ाई-झगड़ा शुरूमें दुःखदायी होता है और अन्तमें भी । प्रेमसे मिल-जुलकर रहनेमें ही भलाई है । सहयोगसे काम करें । एक दूसरेके प्रति सहानुभूति रक्खें और सबसे बड़ी बात याद रखनेकी यह है कि चौबीस घंटेमें कम-से-कम एक बार ईश्वरका भजन-कीर्तन, जप-ध्यान अवश्य कर लिया करें । इससे बड़ी शान्ति मिलती है । भगवान् सबको सुखी रक्खे ।'

कुछ देर और टिमटिमाकर झरगदका जीवन-प्रदीप बुझ गया ।

इस समय गाँवके सभी लोग, बालक-युवा-वृद्ध और स्त्रियाँ उस जगह एकत्र हो गयी थीं । जो इतने वृद्ध और शिथिल थे कि चलने-फिरनेसे लाचार थे, वे भी गिरते-पड़ते जैसे-तैसे झरगदको देखने आ पहुँचे थे । बड़ी भीड़ थी । सिसकते हुए बच्चोंने कहा, 'हमारा दादा चला गया ।'

झरगदके साथी बोले—'हमारा सच्चा दोस्त साथ छोड़ गया ।'

वृद्ध पुरुष कहने लगे, 'हमारे बुढ़ापेका सहारा छूट गया ।'

वृद्ध स्त्रियाँ बोलीं, 'हमारी आँखोंका तारा प्यारा बेटा उठ गया ।'

सभीकी आँखोंसे आँसू झरझर बह रहे थे ।

धिक्कार है

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणां येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा ।
येषां श्रीकृष्णलीलाललितरसकथासादरौ नैव कर्णौ धिक् तान् धिक् तान् धिगेतान् कथयति नियतं कीर्तनस्थो मृदङ्गः॥

(श्रीधरस्वामी)

जिन मनुष्योंकी यशोदानन्दनके चरणकमलोंमें भक्ति नहीं है, जिनकी रसना गोपकुमारियोंके प्राणाधारके गुणगानमें अनुरागिणी नहीं है और जिनके कर्ण अति ललित श्रीकृष्ण-लीला-सुधा-रसके प्यासे नहीं हैं, उनके लिये कीर्तनमें बजता हुआ मृदङ्ग धिक् तान्, धिक् तान्, धिगेतान् (उन्हें धिक्कार है ! धिक्कार है, धिक्कार है !)—ऐसा कहता है ।

हिंदू-संस्कृति और समाजके आचार

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

एक संस्कृति, जिसकी परम्परा अनादि है, सदा एक-से आहार-व्यवहार रख सके—ऐसा सम्भव नहीं है। अभी विगत शताब्दियोंमें मुसल्मानों तथा अंग्रेजोंके शासनकालमें हमारे आचारपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे हमारे यहाँके वेष-भूषा, भोजन, गृहनिर्माण, वस्त्रादि सज्जा तथा रीति-रिवाजोंमें भी अद्भुत परिवर्तन हुए हैं। ऐसे प्रभाव चाहे पहले इस रूपमें न पड़े हों, परंतु कुछ तो पड़े ही होंगे। इतनेपर भी प्रत्येक संस्कृति अपना एक मौलिक मापदण्ड अवश्य रखती है अपने आचारके लिये और जैसे ही काल-क्रमसे क्षीण हुई उसकी शक्ति लौटती है, वह पुनः अपने आदर्शकी ओर जानेका प्रयत्न करती है। इस स्थितिमें बाह्य प्रभाव निरस्त हो जाते हैं। अवश्य ही यह बात उन समाजोंके लिये नहीं है, जो अविकसित हैं और जिन्हें दूसरों-से कुछ सीखना है।

'हिंदू-संस्कृति' एक पूर्ण संस्कृति है। हमारे समाजके लिये प्रत्येक समय, प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक व्यक्तिके लिये उसके कर्तव्य शास्त्रोंने निश्चित कर दिये हैं। 'आचारः प्रथमो धर्मः।' आचारकी रक्षा प्रथम धर्म प्रतिपादित हुई है। समाज जबतक दुर्बल है—अपने विकारोंसे आक्रान्त है या विवश है, वह भले बाह्य प्रभावों और आचारोंको ग्रहण किये रहे; किंतु जैसे ही बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक दृष्टिसे समाज स्वतन्त्र होगा—समर्थ होगा, उसे स्पष्ट दिखायी देगा कि शास्त्राचारके पालनमें ही उसकी लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति है। शास्त्रीय आदेश जीवनकी प्रत्येक स्थिति एवं दशाको नियन्त्रित करते हैं। जीवनमें ऐसा कोई भाग नहीं, जहाँ शास्त्राचारसे भिन्न प्रभाव स्थिर रह सके। हिंदू-समाज ही नहीं—सम्पूर्ण मानव-समाज—पूरा विश्व अपनी विकृत मनोवृत्तिसे त्राण पा ले तो वह अनुभव करेगा कि मनुष्यका कल्याण हिंदू-समाजके आचारके पालनसे ही हो सकता है। यह इसलिये भी सत्य है कि आदिकालमें सम्पूर्ण मानव-जाति हिंदू ही थी। आदि संस्कृति ही पूर्ण एवं निर्दोष थी, यह तो अब सिद्ध हो चुका है।

हिंदू ?

यहीं 'हिंदू' शब्दपर भी विचार कर लेना है। कहा जाता है कि हिंदुओंके यहाँ उनके समाजमें राष्ट्रकी और जातिकी भावना नहीं थी। न तो उन्होंने पूरे राष्ट्रका कोई नाम रक्खा और न जातिका। 'हिंदू' शब्द तो अर्वाचीन है। एकांशमें ये बातें सत्य हैं। किसीके नामकरणकी आवश्यकता दूसरेकी अपेक्षासे होती है। अनेक पशुओंके ढेरमें गाय, बकरी, घोड़ा—ये भेद किये जाते हैं। अनेक रंगोंकी गायोंमें रंगसे भेद होता है और अनेक गायें एक रंगकी हों तो उनका नामकरण करना पड़ता है। जहाँ केवल गायें हैं, वहाँ उनको 'गाय' यह नाम देना व्यर्थ होता है। आदि संस्कृति वैदिक संस्कृति है और दूसरे सब धर्म कुल तीन सहस्र वर्षोंके भीतर ही उत्पन्न हुए हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है। जब विश्वमें एक ही धर्म था, तब धर्मकी दृष्टिसे उसका नामकरण क्यों आवश्यक होता ? उस समय जिन शास्त्रोंने नामकरण किया, उन्होंने क्या सम्पूर्ण समाजको मनुष्य नहीं कहा ? क्या यह 'मनुष्य' नाम उसी प्रकार मनुकी संतति, अनुयायीका सूचक नहीं, जिस प्रकारके नाम ईसाई और मुसल्मान हैं ? उस समय मनुष्यको विश्वके शेष प्राणियोंसे ही भिन्न नाम देना था। मनुष्य-समाजमें धर्मगत भेद नहीं था। आचार-गत भेदके कारण आर्य, दस्यु, म्लेच्छ, यवन प्रभृति नाम पड़े ही थे। जातिगत भेद और व्यवसायगत भेदके कारण भी ये नाम पड़े।

'हिंदू' यह—नाम जैसे कि आजकल कहा जाता है कि विदेशियोंने हमारी जातिको दिया, यह बात ठीक न होनेपर भी मान लें तो हानि क्या है। यह नाम हमारी जातिको मुसल्मानोंने दिया—यह भ्रम जिन्हें हो, वे पारसी-धर्मग्रन्थ देखें। वहाँ 'पूर्वी हिंदू' और 'पश्चिमी हिंदू' शब्द स्पष्ट आये हैं। साथ ही यह भी कि यदि हिंदू-शब्दका कोई निन्दित अर्थ होता तो पारसी-धर्म ग्रन्थ अपनेको पश्चिमी हिंदू न कहते। पीछेके ईरानी कोषकारोंने 'हिंदू' शब्दका अर्थ डाकू, दास, सेवक, पहरेदार दिया है और इसीसे हमारे यहाँके लोग चौंकते हैं; परंतु शत्रुताके कारण एक जातिका नाम दूसरी जातिमें घृणासूचक हो जाता है—यह तो 'देव' और 'असुर' शब्द ही बतलाते हैं। 'देव' शब्द संस्कृतमें जिस सात्त्विकता, तेजका सूचक है, पारसी ग्रन्थोंमें 'असुर' शब्द उसी अर्थमें आता है। हमारे यहाँ 'असुर' जिस अर्थमें है, फारसी-अंग्रेजीमें 'देव' शब्द उसी अर्थमें है।

पारसी-धर्मके ग्रन्थोंमें तथा ईरानके प्राचीन साहित्यमें भारतीय एवं पारसीक दोनों जातियोंको हिंदू कहा गया है। रही विदेशियोंद्वारा नामकरणकी बात सो सदा दूसरे ही नाम लेकर पुकारते हैं। आज अमेरिकामें भारतसे हिंदू जाय या ईसाई, सब हिंदू ही कहे जाते हैं। सम्पूर्ण विश्व जिस देश और जातिको जर्मनी तथा जर्मन कहता है, वे स्वयं अपनेको डोइट्श और देशको डोइट्शलैण्ड कहते हैं। अंग्रेजोंको हम फिरंगी तो कहते ही हैं। प्रत्येक विदेशी जाति दूसरेको स्वेच्छानुसार नाम देती है और इसका उसे अधिकार है। यह सब होकर भी 'हिंदू' नाम स्वयं हमने अपनी जातिका रक्खा है, यह दूसरेका दिया हुआ नाम नहीं है।

वेदोंमें 'नेता सिन्धूनां' तथा 'पतिः सिन्धूनां' ये मन्त्र स्पष्ट बतलाते हैं कि हमारे देशका नाम 'सिन्धु' है और यही जातिका नाम भी है। सिन्धु नदीके उत्तरी भागमें सिन्धु और सरस्वतीके मध्यमें ब्रह्मावर्त ही मानव-जातिकी प्रारम्भिक निवास-भूमि है। उसी सिन्धुके कारण देशको सिन्धु कहा गया। वेदोंमें ही 'स' का परिवर्तन 'ह' हो जाता है। श्रुतियोंमें 'शिरा' और 'हिरा' दोनों नाम नाडियोंके लिये आये हैं। अतएव सिन्धुका 'हिन्दु' आदिकालमें ही हो गया। पारसी धर्मने वैदिक पद्धतिका एक अंश ले लिया; क्योंकि यह धर्म वैदिक धर्मसे ही पृथक् हुआ है। वेदोंमें 'स' का 'ह' कार रूपमें प्रयोग है; यह पद्धति विकृत हुई और पारसी भाषामें सप्ताह भी हप्ताह हो गया; पर 'सिन्धु' को 'हिंदु' उन्होंने किया है, यह मानना ठीक नहीं है। यह परिवर्तन स्वयं संस्कृतिके नियमानुसार हुआ है। आज हिंदीमें ग्यारह, बारह, तेरह आदि क्रमशः एकादश, द्वादश, त्रयोदशके रूप हैं और सबमें 'स' का रूप 'ह' हो गया है। प्राकृत भाषामें भी 'स' का उच्चारण 'ह' बहुत स्थलोंपर हो जाता है।

इस तरह जैसे 'हिंदू' नाम अपनी जातिको हमने स्वयं दिया और इसलिये दिया कि आचारसे च्युत जातियोंसे मूल जातिका पार्थक्य किया जा सके, उसी प्रकार यद्यपि सम्पूर्ण विश्वमें भारतसे ही क्षत्रिय जाति जाकर बसी, उस समय पूरी पृथ्वी ही एक राष्ट्र थी, समस्त देशोंके लोग अपने आचारका आदर्श यहींसे ग्रहण करते थे, विश्वमें एक ही संस्कृति थी और भारतीय सम्राट् विश्वविजयी चक्रवर्ती होते थे, इस प्रकार जाति-धर्म-आचार तथा शासनकी दृष्टिसे राष्ट्र-भेदकी कल्पना शक्य नहीं थी, फिर भी भारत पुण्यभूमि है—यह भावना अनादि कालसे शास्त्रोंमें प्रतिपादित है। इस पुण्यभूमिकी एकता, स्वरूप आदिके सम्बन्धमें तनिक भी संशयको अवकाश नहीं है।

आचारका आदर्श

हमने अपनी जातिका नाम 'सिन्धु' के आधारपर 'हिंदू' रक्खा क्यों? संस्कृतमें तो कोई शब्द निरर्थक नहीं होता और न कोई परिवर्तन व्यर्थ किया जाता। 'हीनं दूषयतीति हिंदुः' यह मेरु तन्त्रकी परिभाषा है। झूठ बोलनेवाला, शास्त्रीय कर्मोंसे द्वेष करनेवाला, उपस्थान (संध्यादि कर्म) न करनेवाला, निरुत्तर (अपने असत् तर्कपर हठ करनेवाला) और आमन्त्रित करके आये व्यक्तिका अपमान करनेवाला—ये पाँच प्रकारके लोग 'हीन' कहे गये हैं। जो इन्हें अपने समाजसे निकाल दे, वह हिंदू कहलाता था। यह हमारे समाजका आदर्श था। इस शब्दकी दूसरी व्याख्या है—हिन्-हिंसां दुनोति—हिंसाका नाश करनेवाला—अहिंसक। यही शब्द यूनानीमें 'ह' का लोप होनेसे 'इन्दु' बन गया और उससे 'इण्डिया' अंग्रेजीमें बना। जातिके नाममें ही हमारे समाजका आदर्श निहित है और नामकरणकी हमारी सनातन प्रणाली भी यही है।

हिंदू-समाजका समस्त आचार इस आदर्शको सम्मुख रखकर चलता है कि प्राणियोंको कष्ट न हो। मनुष्य अन्तर्मुख बने। बहिर्मुख प्रवृत्ति असंतोष एवं संघर्ष उत्पन्न करती है। उससे प्राणियोंको कष्ट होता है और जीवनमें दुःखोंकी ही वृद्धि होती है। शान्तिका मार्ग है अन्तर्मुख होना। दूसरोंके लिये अधिक-से-अधिक त्याग और अपने लिये कम-से-कम संचय तथा उपभोग—हिंदू आचारका यह मुख्य आदर्श है। विश्वमें सुख एवं शान्तिकी स्थापनाका इससे सुलभ मार्ग कुछ हो नहीं सकता।

जीवन इतना ही नहीं है। वह अनादि और अनन्त है। यह लौकिक जीवन उस जीवनका अत्यन्त क्षुद्र अंश है। इतनेपर भी मनुष्यका जीवन अत्यन्त बहुमूल्य है। यह कर्मयोनि है। इसी योनिके कर्म शेष समस्त जीवनोंमें भोगने हैं। यह उपार्जनका स्थान है। सत् या असत् जैसे भी कर्म किया जायगा, उसे ही भोगना पड़ेगा। सम्पूर्ण जीवोंमें केवल शरीर-भेद है। हम आगे किसी भी जीवके यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। कहा नहीं जा सकता कि कौन हमारा पूर्वजन्मका

सम्बन्धी है और आगे कौन बनेगा। इस प्रकार प्राणिमात्रसे आत्मीयता तथा सत्कर्मकी प्रेरणाको जितना व्यापक, सुदृढ़, पूर्ण आधार हिंदू-संस्कृति देती है, वह अन्यत्र अप्राप्य है। इसी आधारपर हिंदू-समाज प्रतिष्ठित है।

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभागं यथा यथा।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा॥
(मनु० ८। २८५)

'जो व्यक्ति वनस्पतियोंको जिस-जिस प्रकारके कष्ट दे, राजा उसकी इस हिंसाका दण्ड उसे उसी-उसी प्रकारसे दे।' यह आज्ञा स्पष्ट घोषित करती है कि जीव-हिंसा तो दूर रही, वृक्षादि काटना भी अपराध माना जाता था और उसका बड़ा कठोर दण्ड मिलता था। मनुस्मृतिमें ईंधनके लिये गीले पेड़को काटना और अपवित्र भोजन एक कोटिके पाप माने गये हैं। ब्राह्मण भी यदि आवश्यकतावश विवश होकर किसी फल या पुष्प देनेवाले वृक्ष या लताको काटे-छाँटे तो उसे एक सौ ऋचाओंका जप करके इस पापका प्रायश्चित्त करना चाहिये, ऐसा निर्देश है।

इसमें किसीको कहीं शङ्का नहीं है कि हिंदू-संस्कृति धर्म-प्राण है। धर्माचारसे ही लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय होता है, यह शास्त्रोंका स्पष्ट घोष है। अतएव समस्त हिंदू आचार धर्मको प्रधान मानकर चलता है। मनुष्यके सामाजिक जीवनमें अर्थ और काम ही प्रधान हैं। वर्तमान शब्दोंमें मनुष्यकी समस्या रोटी और संतानोत्पादन है। हिंदू-समाजने इन दोनों आवश्यकताओंको स्वीकार तो किया, किंतु गौण रूपसे। ये मुख्य आवश्यकताएँ नहीं हैं। मनुष्यका मुख्य लक्ष्य है मोक्ष। वह इस कर्मक्षेत्रमें इसलिये आया है कि यहाँ उद्योग करके जीवन-मरणके चक्रसे छूट जाय। भोजन तथा संतानोत्पादन तो कीड़े भी करते हैं। मनुष्य भी इसीमें लगा रहा तो उसमें विशेषता क्या हुई। मोक्षको प्रधान उद्देश्य माननेपर धर्म प्रधान हो गया। धर्मके द्वारा ही अन्तः-करणकी शुद्धि होगी और तभी ज्ञानोदय होकर मोक्ष होगा। अतएव समाजके व्यवहारमें धर्म प्रधान बना। धर्मसे अविरोधी (धर्मसम्मत) 'अर्थ' तथा 'काम' का सेवन तो हिंदू-समाजमें विहित है; किंतु धर्मके लिये जीवनतकका त्याग करनेको प्रस्तुत रहना चाहिये। धर्मके तनिक भी विरुद्ध पड़नेवाले अर्थ या काम सर्वथा त्याज्य हैं; फिर वे चाहे जितने भी महान् क्यों न हों।

प्रत्येक समाज अपने रहन-सहन अपने आदर्शके अनुकूल ही स्थिर करता है। व्यक्तिको अपना जीवन अपने आदर्शके अनुसार बनाना ही पड़ेगा, यदि वह आदर्शको पाना चाहता है। हिंदू-समाजका आदर्श मोक्ष है—अन्तर्मुखता है। अतएव उसका आचार सर्वथा धर्मसे नियन्त्रित है। उसमें तनिक भी प्रमाद या उच्छृङ्खलताके लिये स्थान नहीं। उसमें प्रत्येक कृत्यका मूल्य धर्म-अन्तर्मुखतासे निर्धारित होता है। संग्रहकी अपेक्षा त्याग वहाँ आदर पाता है। बिना इस बातको हृदयंगम किये हिंदुओंके आचार, रीति-रस्म आदिका महत्त्व तथा उनकी सार्थकता समझमें आ नहीं सकती।

युगानुरूप आचार

हिंदू-आचारका आधार धर्म है और धर्म नित्य है, अतएव हमारे आचारशास्त्र भी नित्य हैं। आज कहा जाता है कि धर्म समयके अनुसार परिवर्तित होता रहता है, आचार परिस्थितिके अनुसार बदलते रहते हैं। वस्तुतः धर्म तो कभी बदलता ही नहीं। अग्निका धर्म उष्णता है, वह सर्वदा उष्ण रहेगी। आचारका आदर्श भी बदलता नहीं है। परिस्थितिके अनुसार जितना परिवर्तन आचारमें आवश्यक है, उन परिवर्तनोंका भी शास्त्रोंमें विधान है। प्रकृतिमें परिवर्तन अनियमित रूपसे नहीं होते। परिवर्तनके भी नियम हैं। अतः परिस्थिति भी सहसा नहीं बदलती। वह भी नियमानुसार ही उपस्थित होती है। इन नियमोंको जानकर प्रत्येक युगके लिये शास्त्रोंने आचारमें, साधनमें कुछ भेद बतलाये हैं। ये परिवर्तन शास्त्रीय सीमामें ही होते हैं। शास्त्रको छोड़कर जो परिवर्तन समाजमें हो गये हैं, वे परिवर्तन नहीं, विकार हैं। उनके द्वारा समाजका पतन हुआ है—हो रहा है।

हिंदू-समाजके आचारका नियन्त्रण स्मृतियाँ करती हैं। प्रत्येक युगके लिये स्मृतियोंने कुछ विशेष आदेश दिये हैं। सामान्य आदेश तो सभी युगोंमें पालन करने ही हैं, ये विशेष आदेश ही युगाचार कहे जाते हैं। इन स्मृतियोंके अतिरिक्त गृह्यसूत्र हैं। ये कुलाचारका आदेश देते हैं। इन युगाचार और कुलाचारोंपर ध्यान दिये बिना जो लोग पुराने रीति-रिवाजोंको ढूँढ़ने बैठते हैं, वे बहुत भ्रममें पड़ते हैं।

हिंदू-संस्कृतिका मुख्य लक्ष्य मनुष्यको अन्तर्मुख करना है। युगाचार इसीको लेकर आदेश देते हैं। मनुष्यकी शक्ति क्रमशः क्षीण होती जा रही है, यह बात शारीरिक एवं मानसिक दोनों दृष्टियोंसे सत्य है। विश्वमें साधारण

नियम है कि सबलकी अपेक्षा दुर्बलको संयम अधिक करना पड़ता है और श्रम कम । एक योग्य चिकित्सक स्वस्थ, सबल व्यक्तिपर आहारादिके उतने बन्धन नहीं लगाता, जितने एक रोगीपर लगाता है; क्योंकि उसका उद्देश्य स्वास्थ्यको बनाये रखना है । रोगी—निर्बल व्यक्ति सहज ही रुग्ण हो जायगा; परंतु सबल व्यक्ति उन्हीं कार्योंसे सुख प्राप्त करेगा । उसके स्वास्थ्यपर प्रभाव नहीं पड़ेगा । दूसरी ओर सबल व्यक्ति जितना श्रम कर सकता है, निर्बल उतना कर नहीं सकता । मनुष्यकी मानसिक शक्ति क्रमशः क्षीण हुई है । जैसे निर्बल शरीर शीघ्र ही रुग्ण हो जाता है और कठिनतासे आरोग्य प्राप्त करता है, पर सबल शरीरसे रुग्ण भी हुआ तो शीघ्र आरोग्य लाभ करके पूर्व शक्ति प्राप्त कर लेता है । वैसे ही निर्बल मानस अल्प विकारोंको प्रश्रय देकर ही बहिर्मुख हो जाता है और फिर उसे अन्तर्मुख करना बहुत कठिन होता है । सबल मनःशक्ति होनेपर यदि बहिर्मुखता—विषयप्रवृत्ति हुई भी तो वह सरलतासे निवृत्त हो जाती है और फिर पूर्ववत् अन्तर्मुखवृत्ति शीघ्र प्राप्त हो जाती है । हम वर्तमान मनुष्यके जीवनको देखें और पुराणोंके ऋषि-चरित्रोंका गम्भीरतासे मनन करें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी । इसीलिये शास्त्रोंने क्रमशः संयमकी सीमाएँ प्रत्येक युगमें कड़ी की हैं । निर्बल-रुग्ण-मानस मानवके लिये यह परमावश्यक है । जहाँ संयमकी सीमाएँ कठोर-से-कठोरतर होती गयी हैं, वहीं आध्यात्मिक साधन सरल और सुलभ होते गये हैं । निर्बल मानवके लिये श्रमकी सीमाएँ घटायी गयी हैं । हमारे सामाजिक आचार, शासन, गृह, नगर, यातायात प्रभृति सबपर युगाचारका प्रभाव है । अतः प्राचीन अन्वेषणमें यह बात बराबर ध्यान रक्खे बिना विवेचन भ्रमपूर्ण ही रहेंगे ।

शास्त्रीय जीवन

युगानुरूप आचार एवं साधनोंमें परिवर्तन मनुष्यकी मानसिक एवं शारीरिक शक्तिके ह्रासको दृष्टिमें रखकर किया गया है, यह ठीक है । ऐसी दशामें सहज ही प्रश्न उठता है कि हिंदू-समाज अपने लिये पूर्ण जीवन कौन-सा मानता है ? यों तो रोगी और दुर्बलके लिये पूर्ण जीवन वही है, जिसका चिकित्सक उसे आदेश दें । सबल पुरुषका जीवन उसकी स्पृहाकी वस्तु हो सकती है, पर आचरणकी वस्तु नहीं । वह उस प्रकार आचरण करके हानि ही उठायेगा । इसी प्रकार आजके युगके लिये शास्त्रोंने जो आचार एवं साधन निर्दिष्ट किये हैं, आज तो वे ही आचरणीय हैं । वैसे मनुष्यका पूर्ण जीवन एवं आचार आदियुगका ही है, इसमें कोई संदेह नहीं ।

हिंदू-संस्कृति अरण्यानी-संस्कृति है । स्वच्छन्द तपोवनोंमें रहनेवाले त्यागी महर्षिगणोंने इसे पोषित किया है । वे तपोमूर्ति ही इस समाजके आदर्श हैं । आजकल पाश्चात्त्य जगत्में प्राकृतिक जीवनपर बल दिया जाने लगा है; परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि तपोवनोंके संयमपूर्ण शास्त्रीय जीवन और प्राकृतिक उच्छृङ्खल पशुजीवनमें बहुत अन्तर है । पाश्चात्त्य जगत्की यह बात तो ठीक है कि मनुष्यका प्राचीन वन्यजीवन ही अच्छा था । वर्तमान नागरिक जीवनने उसे हीनशक्ति बनाया है; परंतु उनका यह मानना ठीक नहीं कि पुराना जीवन पशुओं-जैसा प्राकृतिक जीवन था । प्राकृतिक जीवन जो पशुजीवन है, वह हिंदू-समाजको न कभी अभीष्ट था और न हो सकता है ।

पाश्चात्त्य जगत्के प्रकृतिवादी प्रत्येक कार्यमें पशुओंका उदाहरण देने लगते हैं । डार्विनके विकासवादने उन्हें भ्रान्त कर दिया है । वे नहीं देखते कि आजकी जंगली जातियाँ मांसाहारी ही अधिक हैं और क्रूर, मूर्ख तथा असभ्य हैं । मनुष्यको पशु बनना कभी अभीष्ट नहीं हो सकता । यदि मनुष्य प्राकृतिक जीवनको अपनानेके फेरमें शिक्षा-दीक्षा छोड़ बैठे तो मूर्ख तथा असभ्य हो जायगा । पशुओंमें अपने आहारको पहिचाननेकी स्वाभाविक शक्ति है, वे संतानोत्पादनके सम्बन्धमें निश्चित समयपर प्रवृत्त होनेका स्वभाव रखते हैं, भोजन-प्राप्ति तथा आत्मरक्षणके साधन उन्हें जन्मजात प्राप्त होते हैं । मनुष्यका बालक बिना सिखाये न बंदरकी भाँति तैर सकता और न पेड़पर चढ़ सकता है । वह यह पहिचाननेकी भी शक्ति नहीं रखता कि कौन-सा आहार उसके लिये लाभप्रद है और कौन-सा हानिकर । ऐसा निर्बल प्राणी यदि अपनेको प्रकृतिपर छोड़ देगा तो नष्ट हो जायगा । वन्य जातियोंको भी अपनी बुद्धिके अनुसार बहुत कुछ अप्राकृत व्यवहार करना पड़ता है; यदि वे पूर्णतः पशुओंकी भाँति प्रकृतिपर रहना चाहतीं तो अब उनका पता भी न होता ।

भारतीय आचार तपोवनोंको महत्ता देता है, परंतु उसका अर्थ त्याग है, पशुत्व नहीं । वनोंमें वे महर्षि रहते थे, जो विद्या एवं कलाके प्रज्वलित प्रकाशरूप थे । उन्हींसे सम्पूर्ण

विश्वने अपने लिये आचार, कला, ज्ञानका आदर्श प्राप्त किया। पाश्चात्त्य विवेचक यह भूल जाते हैं कि सत्य सदा समान रहता है। नियम एक-से ही सब कहीं होते हैं। मनुष्यकी शारीरिक शक्तिका क्रमशः ह्रास हुआ है; यह तो वे मान लेते हैं; पर मानसिक-बौद्धिक शक्तिका भी ह्रास हुआ है, इस सम्बन्धमें भ्रममें पड़ जाते हैं। यदि वे इस सत्यको देख सकें कि बौद्धिक शक्तिका भी ह्रास हुआ है तो शारीरिक शक्तिकी प्राप्तिके लिये पशुत्व स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी। यह स्पष्ट हो जायगा कि वर्तमान नागरिक यान्त्रिक जीवन मनुष्यने अज्ञानवश—मोहवश स्वीकार किया है। इससे परित्राण पानेका मार्ग ज्ञानका वास्तविक विकास है। मनुष्यको पशु नहीं—पूर्ण मानव बनना है उसे। शास्त्रीय जीवन प्राप्त करना है। प्राकृतिक जीवन और शास्त्रीय जीवनका भेद ध्यानमें रक्खे बिना हिंदू-समाजके आचारका रहस्य उलझनमें रह जाता है।

हमारे गृह, ग्राम और नगर

हिंदुओंका आचार शास्त्रीय जीवनको आदर्श मानता है, यह निश्चय हो जानेपर निवासका प्रश्न आता है। हिंदू-समाजकी व्यवस्था चार व र्ण और चार आश्रमोंको लेकर है। चारों आश्रमोंमें ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये तीन आश्रम वनमें रहनेके हैं। गृहस्थाश्रम इसलिये स्वीकार करनेका विधान है कि वह शेष तीनों आश्रमोंका आश्रय है। ब्रह्मचारी और संन्यासीका सत्कार करना गृहस्थका परम कर्तव्य है और अतिथि-सत्कार तो सर्वप्रथम धर्म है ही। गृहस्थाश्रमका जो आदर्श है, उससे विपरीत उसका आचार होना नहीं चाहिये। जब गृहस्थ शेष तीन आश्रमों तथा अतिथिके सत्कारके लिये ही गृह बनाता है, तब उसका गृह ऐसा होना चाहिये जिसमें इन आश्रमोंके व्यक्तियोंको सुविधा मिल सके, वे वहाँ निःसंकोच रह सकें। आज एक सात्त्विक व्यक्ति भी नगरोंमें रहनेसे ऊबता है, बड़े-बड़े विशाल भवन आज ऐसे नहीं कि उनमें कोई तपस्वी रहकर प्रसन्न हो। प्राचीन निवास सात्त्विकताको प्रश्रय देनेवाले थे, उसे उद्विग्न करनेवाले नहीं।

सत्ययुगमें तो निवासका प्रश्न ही नहीं था। उस समय ग्राम और नगर नहीं थे। जो जहाँ चाहता वह वहीं—वृक्षोंके तले या गुफाओंमें तपस्या और ध्यान करता। पृथ्वी वनपूर्ण थी और वनोंमें मनुष्यकी क्षुधाको शान्त करनेके लिये पर्याप्त फल, मूल तथा कन्द थे। सबसे पहला अकाल महाराज पृथुके समयमें पड़ा। महाराज पृथुने पृथ्वीके विषम भागोंको सम कराया, खेतीकी प्रथा प्रचलित की और नगर तथा ग्राम बसाये। खेतीके विषयमें मनु महाराजके वचन हैं—

> कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।
> भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्॥
> (मनु० १०। ८४)

'खेती अच्छी है, ऐसा लोग मानते हैं; परंतु सज्जनलोग इस वृत्तिकी निन्दा करते हैं। क्योंकि लोहे लगे काष्ठके द्वारा कृषिकर्म भूमि और भूमिमें रहनेवाले जीवोंको मारता है।'

> 'हिंसाप्रायां पराधीनः कृषिं यत्नेन वर्जयेत्।'
> (मनु० १०। ८३)

'हिंसासे युक्त पराधीन (मजदूर, वर्षादिपर निर्भर) कृषिकर्मको यत्नपूर्वक छोड़ दे।' यह आज्ञा ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये है और कहा गया है कि वे आपत्तिकालमें वैश्यके दूसरे कर्म तो कर लें, पर कृषि न करें।

महाराज पृथुद्वारा प्रचलित होनेपर भी कृषिकर्म हिंदू-समाजमें बहुत कालतक निन्दित ही माना गया। ब्राह्मणोंने द्वापरके अन्ततक नगर और ग्रामोंमें रहना स्वीकार नहीं किया। वे वनोंमें रहते थे। उनके आश्रम थे। वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, सांदीपनि, कण्व प्रभृतिके तपोवनोंका महाभारत तथा पुराणोंमें वर्णन है। ये सब ऋषि गृहस्थ थे। गृहस्थ होनेपर भी उन्हें नगर और ग्रामकी आवश्यकता नहीं थी। ब्राह्मण भारतमें सदा ज्ञानमूर्ति और तपस्वी रहे। वे सदा वनोंमें निवास, ज्ञानार्जन और ज्ञान-वितरण करते रहे। गृहस्थोंके बालक उन्हीं तपोवनोंमें अपना ब्रह्मचर्याश्रम व्यतीत करते थे। निरन्तर निर्बाध गुरुसेवा करके वहीं वे विद्याध्ययन करते थे।

चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके लोगोंको—चाहे वे वनमें एकाकी रहें या नगर या ग्राममें—जलाशयकी आवश्यकता थी। स्नान-संध्या-तर्पण करना प्रत्येक द्विजातिके लिये अनिवार्य था। अतएव सरिताओंके किनारे ही आवास स्थिर होते थे। बहुत विस्तृत सरोवर भी आवासके लिये मध्यम स्थल मान लिये जाते थे। किसी हिंदूशास्त्रीय ग्रन्थमें शौचालय तथा भंगी या भंगीके कर्मका वर्णन नहीं है। यह बात स्पष्ट करती है कि मनुष्य मनुष्यसे इतना घृणित कार्य कराये, यह हिंदू-समाजको अभीष्ट नहीं था और हमारी समाजरचनामें उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। ग्राम हों या नगर, वे

इस प्रकार नहीं बसाये जाते थे कि जलाशयसे उनका विस्तार दूर हो जाय और नित्यकर्मके लिये मनुष्योंको घरोंमें व्यवस्था करनी पड़े ।

मनुस्मृतिमें स्पष्ट आज्ञा है कि ग्रामके चारों ओर एक सौ धनुषतक वन होना चाहिये और नगरोंके चारों ओर तीन सौ धनुषतक । नगरोंमें एक मुहल्लेसे दूसरे मुहल्लेके मध्यमें भी उपवनोंकी व्यवस्था थी ।

सत्ययुगके अन्तमें जब नगर और ग्राम बनाये गये, तब भी मनुष्य अरण्यसंस्कृतिका प्रेमी बना रहा । यों तो हमारे समाजके संचालक सदा वनोंमें ही रहे । उन तपोधन विप्रोंकी सेवामें रहकर प्रत्येक बालक जीवनका पाठ अरण्यमें ही पढ़ता था। परंतु आरम्भमें जो नगर और ग्राम बने, वे बहुत सादे बने—लकड़ीकी दीवारें तथा फूसके छप्पर । दो, चार, छः, आठ तथा दस छप्परवाली शालाओंका वर्णन प्राचीनतम वर्णनोंमें है । मनुने आज्ञा दी है कि राजाको चाहिये कि असुरोंके पत्थरोंसे बने नगर तोड़ दे । इसका यह अर्थ तो नहीं है कि पत्थरके भवन बनानेका ज्ञान ही लोगोंको नहीं था । अग्निमें पकी ईंटों (इष्टकाओं) से यज्ञकुण्ड अनादिकालसे बनते रहे हैं । पाषाणी और आयसी (लोहेके बने भवनोंकी) पुरियोंका वर्णन भी है। विमान भी बनते ही थे । किंतु यह सब बाह्य भोग अभीष्ट नहीं था । सीधे-सादे छप्परोंके भवन ही आदर्श माने जाते थे ।

त्रेताके प्रारम्भमें ही बड़े-बड़े विशाल भवनोंका वर्णन प्राप्त होता है । भारतमें स्फटिक-रत्नादि बहुमूल्य अवश्य माने गये; किंतु उनकी बहुमूल्यता ऐसी नहीं रही जो आज समझी जाती है । भवनोंमें स्फटिक, मणि, स्वर्ण—सबका उपयोग होता था—बहुलतासे होता था । भवन खूब ऊँचे होते थे और उनका आकार ऊपर कंगूरोंसे युक्त होता था । कंगूरोंपर स्वर्णकलश और पताकाएँ शोभित होती थीं । गृहद्वारके दोनों ओर केलेके वृक्ष लगाये जाते थे, यह मङ्गलसूचक चिह्न था । द्वारको तोरणसे नित्य सजाया जाता था ।

वर्तमान सभ्यताके झंझावातसे जो प्राचीन भवन अब भी बचे हैं, उनमें हिंदुओंके दो चिह्न मिल जायँगे । भवनके बीचमें प्राङ्गण और उसके मध्यमें तुलसीचबूतरेपर तुलसीका वीरुध्, भवनमें एक मन्दिरकी भाँति बना पूजागृह । प्राचीन कालसे यह पूजागृह चला आता है । द्वापरके अन्ततक द्विजाति यज्ञोपवीत-संस्कारसे लेकर संन्यासी होनेतक अपने प्राजापत्य अग्निकी रक्षा करता था । उसमें वह नित्य हवन करता था । प्रत्येक व्यक्तिके पास हवन-कुण्ड होता था । वह यदि गृहसे कहीं जाता और हवन-कालतक लौटना न होता तो अपना हवनकुण्ड साथ ले जाता । सम्मान्य व्यक्तिके आनेपर अपनी अग्निको लेकर खड़े होकर उसका आदर किया जाता था । इस अग्निकी बहुत सावधानीके साथ रक्षा की जाती । उसका बुझना अत्यन्त अपशकुन समझा जाता ।

नगरोंके चारों ओर खाई बनाना तो पुरानी परिपाटी है ही, खाईसे भीतर परिखा होती थी । मार्गोंके निकासपर द्वार बनते थे । भवनोंका निर्माण भी नगरों-जैसा होता था—विशेषतः राजभवनोंका । मुख्य द्वार सिंहद्वार कहलाता और भीतर घेरेदार अनेक प्रकोष्ठ होते । एकसे दूसरे द्वारको पार करके तब मध्यमें मुख्य स्थानतक पहुँचा जा सकता था ।

प्रत्येक भवन सूक्ष्म कला-कृतियोंसे सजाया जाता था । भित्तियोंमें मूर्तियाँ बनती थीं और चित्र भी । गृहद्वारके समीप नित्य प्रातः रंग-बिरंगे अन्नचूर्ण, हल्दी आदिसे 'चौक' बनाये जाते । महाराष्ट्रमें यह प्रथा अबतक है । हिंदुओंके समाजमें उल्लास, ऐश्वर्य—ये दोनों भरे थे; परंतु थे वे सात्त्विकतासे नियन्त्रित । नगरोंमें पक्के राजमार्ग थे और वे बराबर सींचे (धोये) जाते थे । वह भी साधारण जलसे नहीं—सुगन्धित जलसे । स्थान-स्थानपर उपवन एवं क्रीड़ोद्यान तथा क्रीड़ा-पर्वत होते थे । कृत्रिम झरने उन पर्वतोंसे झरा करते । घरोंमें निरन्तर सुगन्धित धूप जला करती । वातायनोंसे यह धूम्र निकला करता । रात्रिमें राजपथ पूर्णतः प्रकाशित किया जाता और दिनमें पूरे मार्गपर वस्त्रोंसे छाया की जाती । स्नान, संध्यादि जलाशयके तटपर किये जाते, जहाँ पक्के घाट बने होते थे ।

वेष-भूषा

हिंदू-समाजमें ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थके लिये बाल बनवाना मना है । मूँजकी मेखला, जटा, यज्ञोपवीत, वल्कल-वस्त्र, मृगचर्म—ये दोनोंके वस्त्र हैं । ब्रह्मचारी हाथमें पलाश-दण्ड रखते हैं । ताड़के पत्रोंका छत्ता और खड़ाऊँ—ये वस्तुएँ ब्रह्मचारीको वानप्रस्थसे पृथक् करती हैं । संन्यासी या तो मुण्डित रहें या जटा धारण करें, ऐसा निर्देश है । संन्यासी वल्कल-वस्त्र, मञ्जिष्ठमें रँगे या गैरिक वस्त्र धारण करें । सलिङ्ग संन्यासी दण्ड धारण करता है। अलिङ्ग संन्यासी (अवधूत) के लिये कोई वेश निश्चित नहीं है ।

गृहस्थोंमें मस्तकपर पूरे बाल रखने या शिखा रखकर शेषको मुड़वा देनेकी प्रथा थी । आजकी भाँति पुरुष कभी

आड़े-टेढ़े केश नहीं कटवाते थे और स्त्रियोंके केश कटवानेकी तो बात ही अमङ्गल मानी जाती थी। अधिकांश ब्राह्मण जटा रखते थे और राजकुल भी बाल कटवाता नहीं था। ब्राह्मण वल्कल धारण करते और उत्तरीयके स्थानपर वल्कल या मृगचर्म काममें लेते थे। अन्य गृहस्थ भी प्रायः उत्तरीय ही शरीरपर डालते थे। धोती और उत्तरीय तथा मस्तकपर मुकुट, पगड़ी या साफा—यही हिंदूवेश है। सिले हुए कञ्चुक (कुर्ता) नाटकमें पहिननेके कारण उसके एक पात्रका नाम ही कञ्चुकी पड़ गया था। जैसे आजकल पहरेदारों और गृह-सेवकोंका एक विशेष वस्त्र होता है, वैसे ही कञ्चुक सेवकोंका वस्त्र था और वह सीकर बनाया जाता था। युद्धमें स्वर्णमय या लौह कवच धारण किये जाते थे; किंतु महाभारतके वर्णनोंसे जान पड़ता है कि ये कवच भी इस प्रकारके नहीं बनते थे, जिन्हें कुर्ते या कोटकी भाँति पहिन लिया जाय। आचार्य द्रोणने दुर्योधनका कवच एक दिन विशेष रीतिसे उसके शरीरपर बाँध दिया। बाँधनेकी इस शैलीने कवचको अभेद्य बना दिया। यह वर्णन बतलाता है कि संन्यासियों और वैष्णव साधुओंमें जैसे 'गाँती' (उत्तरीय) बाँधनेकी अनेक पद्धतियाँ हैं, वैसे ही कवच भी बाँधने योग्य होते थे और भिन्न-भिन्न रीतियोंसे बाँधे जाते थे। सिले वस्त्र पहिने अवश्य जाते होंगे; क्योंकि यज्ञादि पवित्र कर्मोंके समय बिना सिला वस्त्र पहिननेका आदेश है। स्त्रियाँ साड़ी पहिनती थीं, कञ्चुकी बाँधती थीं। यह भी बिना सिला वस्त्र ही होता था और ऊपरसे उत्तरीय डाल लेती थीं। स्त्रियोंकी वेष-भूषा अब भी बहुत-से ग्रामोंमें ऐसी ही है। केवल कञ्चुकी सीनेकी प्रथा चल पड़ी है। स्त्री और पुरुष दोनों रंगीन वस्त्र धारण करते थे। शय्याके वस्त्र श्वेत होते थे। अधिकांश रेशमी वस्त्र उपयोगमें आते थे, परंतु ऊनी और सूती वस्त्रोंका भी पर्याप्त वर्णन मिलता है।

आभूषण-धारणकी खूब प्रथा थी और स्त्री-पुरुष दोनों आभूषण धारण करते थे। स्मरण रखना चाहिये कि आभूषणादि शृङ्गार केवल गृहस्थ ही धारण कर सकते थे; उनमें भी ब्राह्मण शृङ्गार-त्यागी थे। पूरे समाजका एक बहुत छोटा भाग ही साज-शृङ्गारकी प्रवृत्ति रखनेको स्वतन्त्र था। फलतः सामग्रीके लिये संघर्षका प्रश्न ही नहीं था। मुकुट, कुण्डल, हार, कण्ठाभरण, अङ्गद, कङ्कण, अङ्गुलीय (अँगूठी), किङ्किणी, चरणाभरण और नासिकाभरण—इनमेंसे केवल नासिकाभरण ही पुरुष उपयोग नहीं करते थे और बालक कभी-कभी करते भी थे। इसके अतिरिक्त शेष सभी आभूषण पुरुष भी धारण करते थे। स्त्रियों और पुरुषोंके आभूषणोंमें आकृति आदिके अन्तरका वर्णन सूक्ष्म विवेचनसे ज्ञात हो जाता है। रत्नों तथा स्वर्णका मनुष्यके ऊपर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और स्वर्ण स्वास्थ्यके लिये लाभप्रद है, यह आजके वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। स्वर्ण और रत्नके आभूषण गृहस्थ धारण करें और उनके लाभसे लाभान्वित होना चाहें, यह स्वाभाविक है। आज दुर्बल और विकृताङ्ग मनुष्य अपना शरीर वस्त्रसे छिपाये रखना चाहता है। शक्ति एवं दरिद्रताने उसे सभ्यताका यह रूप दिया कि आभरण-धारण असभ्यता है; फिर भी सुविधा पानेपर वह उनका लोभ छोड़ नहीं पाता। स्वस्थ-सबल शरीर आभरणोंसे भूषित कितना भव्य लगता होगा, यह कल्पनासे परे नहीं है।

वस्त्र और आभूषणोंके अतिरिक्त नाना प्रकारके अङ्गराग, सुगन्धित तैल और पुष्प-शृङ्गार उस समय अत्यन्त प्रिय थे। शरीरपर अङ्गरागसे बेलें निकालना, पुष्पाभरण बनाना, केश-विन्यास करना—ये सब कलाएँ थीं उस समयकी। षोडश शृङ्गार और चौसठ कलाओंका विवरण अत्यन्त प्राचीन है। उनसे हिंदू-समाजके वैभव तथा उसकी कलात्मक रुचिका अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

राम-भरोसा

धन-पति, पद-पति, बुद्धि-पति, जग-पतियों लिय भीख।
इन मंगन सों माँगु नहिं, प्रभु सों माँगन सीख॥
माँगिबो परत न राम सों, जानत जन-हिय-पीर।
जानि दौरि शिशु कै निकट, जननि पियावत छीर॥

—श्रीशिवरतनजी शुक्ल 'सिरस'

पूँजीवादकी जड़ और उसके डाली-पत्ते

(लेखक—श्रीजयेन्द्ररायजी भ० दूरकाल एम्० ए०)

प्रत्येक मन्तव्य या सिद्धान्तमें जिस वस्तुको प्राधान्य दिया जाता है, उसके अनुसार ही उसका नाम पड़ता है। इसी प्रकार पूँजीकी मुख्यता होनेके कारण इसका नाम पूँजीवाद चल पड़ा है। फ्रांसकी १७८९ की क्रान्तिमें ईश्वर और धर्मको उड़ा देनेकी रणभेरी बजी, इससे अर्थ और कामका जोर बढ़ा। अर्थका सही अर्थ यह है कि जिससे संसार चले, और इसकी आवश्यकता पूरी हो। आवश्यकताओंके दो मुख्य भेद हैं—व्यक्तिकी और समाजकी। व्यक्तिकी आवश्यकताएँ हैं—खान-पान आदि। समाजकी आवश्यकता है—राज्य। धर्मके संयम, मनोनिग्रह, इन्द्रिय-निग्रह आदिके आदर्शोंको शिथिल करनेके साथ ही मौज-शौकका प्राधान्य आ गया और उसमें 'छूट'—स्वच्छन्दताके सिद्धान्तसे दुराचारकी दुर्वासना भी प्रविष्ट हो गयी। मौज-शौकके लिये धन चाहिये, इसलिये धनका प्राधान्य आया। धनका 'उत्पादन' करनेमें श्रम चाहिये, इसलिये श्रमका—मेहनतका—क्रियाका प्राधान्य आया। जैसे नेपोलियनके नेतृत्वके अधीन फ्रांस राज्यसत्ताकी गेंद-उछालका केन्द्र बन गया, वैसे ही वह यूरोपमें मौज-शौकके अड्डोंका, नाइट-क्लबोंका, फराक और पेटीकोटके फैशनका केन्द्र हो गया। इसके प्रभावसे सारे यूरोपमें मौज-शौक और धनके लिये उन्माद या आतुरता फैल गयी। धनको बढ़ाने, धनको खूब इकट्ठा करने और धनको ऊँचा उठानेके आदर्श, प्रयत्न और कानून बनने लगे। धन या पैसा जो पहलेके धर्मराज्योंमें हाथका मैल समझा जाता था, उसे शुक्रकी महादशा आ गयी। धन या लक्ष्मी स्वयं तो कोई बुरी वस्तु नहीं है; उसके लालचमें पड़कर द्वेष, दुराचार और दुर्वासनामें फँसना बुरा है। यह तो विष्णुकी महामाया है; इसलिये बड़े-बड़े बुद्धिमान् इस काम-पन्थमें भटक गये। इसकी फिलॉसफी निकली और नये अर्थशास्त्र बने। इसको सम्मति और पोषण देनेवाली लोकशाहीकी राज्य-रचनाका आविर्भाव हुआ। फ्यूडलिज्म—अमीर और सरदार जो मोटे कपड़े पहनकर हजारों आदमियोंका निर्वाह करते थे, राजा और सरदार जो संग्राममें आगे बढ़कर पहले अपना बलिदान देनेके लिये तैयार होते थे, धार्मिक सत्ताके अधिकारी, जो लोगोंको संयम और दान-धर्मका उपदेश देकर अपने ठिकानेपर रखते थे, उन सबपर आ बनी। सरदारों और अमीरोंको उड़ा देनेमें होशियारी मानी जाने लगी। बड़ी-बड़ी तनख्वाहवाली सेनाओंका बारहों महीनेका करोड़ोंका खर्च और इस कारण स्वभावतः अनायास संग्राम और लड़ाइयाँ बढ़ने लगीं और रविवारके पुण्यके बदले पुतलीघरोंमें पैसे उड़ने लगे और देव-मन्दिरोंकी संख्या कम होने लगी। बर्क-जैसे दूरदर्शी विद्वान् सहसा चिल्ला उठे और इंगलैंड-जैसे देश क्रान्तिकी नागफाँससे बच गये। वहाँ तथा अमेरिकामें धर्मका थोड़ा-बहुत जोर होनेके कारण दुराचारमें कुछ रुकावट आयी। परंतु धनेच्छा और लोलुपता वहाँ भी बढ़ी और पूँजीवाद प्रविष्ट हो गया। इसके पीछे लोगोंकी दरिद्रताकी अपेक्षा धनलिप्सा ही अधिक बलवान् थी। किस प्रकार दूसरोंसे धन लेना, खींचना या रोक रखना—यह उसका मुख्य प्रेरक बल हो गया। इसके लिये बड़े-बड़े कारखाने, नये-नये आविष्कार, विज्ञानके विश्वविद्यालय बढ़ने लगे। इसके साथ इसके अङ्गस्वरूप मजदूरोंका पूर्ण जोरदार, संख्याबद्ध वर्ग बनने लगा, पूँजीपति बढ़ने लगे और वर्ग-संघर्षके भी नारे लगाये जाने लगे। बर्कने कह दिया था कि अब सिरको हथेलीमें लेकर प्रजाकी तथा महिलाओंकी रक्षा करनेके लिये कूद पड़नेका युग चला गया और उसकी जगहपर तर्कवादी, अर्थवादी और पैसे-पैसेका हिसाब करनेवालोंका युग आ गया है और देशकी यशस्विता सदाके लिये विदा हो गयी है। परंतु यूरोपका वातावरण इस कूद-फाँदसे इतना अधिक बिगड़ चला था कि कार्लाइल-जैसे महान् विचारक भी अंशतः भूलमें फँस गये और इस क्रान्तिकी निन्दा करते हुए भी 'परिश्रम' और क्रिया (लेबर)का राग अलापने लगे। सच बात तो यह थी कि दुनियाँमें जितना खाने-पीनेके लिये चाहिये, उतना तो होता है मनुष्यकी असली जरूरतें तो बहुत थोड़ी होती हैं। परंतु नयी विचारधारा तो यह कहती थी कि हमें तो मौज-शौक चाहिये, मौज-शौकके लिये धन चाहिये और धनके लिये श्रम चाहिये। इस प्रकार मजदूरी आकर पूँजीवादके पल्ले बँध गयी। यह सब जोर देकर कौन कराये—पूँजीपति या मजदूर? और दोनोंके ऊपर हुकूमत कौन चलाता है?—राज्य; दूसरा कौन? इससे राज्यकी हाकिमी आयी। राज्यकी हाकिमी कौन करे? यह समुदाय हुकूमत

आड़े-टेढ़े केश नहीं कटवाते थे और स्त्रियोंके केश कटवानेकी तो बात ही अमङ्गल मानी जाती थी। अधिकांश ब्राह्मण जटा रखते थे और राजकुल भी बाल कटवाता नहीं था। ब्राह्मण वल्कल धारण करते और उत्तरीयके स्थानपर वल्कल या मृगचर्म काममें लेते थे। अन्य गृहस्थ भी प्रायः उत्तरीय ही शरीरपर डालते थे। धोती और उत्तरीय तथा मस्तकपर मुकुट, पगड़ी या साफा—यही हिंदूवेश है। सिले हुए कञ्चुक (कुर्ता) नाटकमें पहिननेके कारण उसके एक पात्रका नाम ही कञ्चुकी पड़ गया था। जैसे आजकल पहरेदारों और गृह-सेवकोंका एक विशेष वस्त्र होता है, वैसे ही कञ्चुक सेवकोंका वस्त्र था और वह सीकर बनाया जाता था। युद्धमें स्वर्णमय या लौह कवच धारण किये जाते थे; किंतु महाभारतके वर्णनोंसे जान पड़ता है कि ये कवच भी इस प्रकारके नहीं बनते थे, जिन्हें कुर्ते या कोटकी भाँति पहिन लिया जाय। आचार्य द्रोणने दुर्योधनका कवच एक दिन विशेष रीतिसे उसके शरीरपर बाँध दिया। बाँधनेकी इस शैलीने कवचको अभेद्य बना दिया। यह वर्णन बतलाता है कि संन्यासियों और वैष्णव साधुओंमें जैसे 'गाँती' (उत्तरीय) बाँधनेकी अनेक पद्धतियाँ हैं, वैसे ही कवच भी बाँधने योग्य होते थे और भिन्न-भिन्न रीतियोंसे बाँधे जाते थे। सिले वस्त्र पहिने अवश्य जाते होंगे; क्योंकि यज्ञादि पवित्र कर्मोंके समय बिना सिला वस्त्र पहिननेका आदेश है। स्त्रियाँ साड़ी पहिनती थीं, कञ्चुकी बाँधती थीं। यह भी बिना सिला वस्त्र ही होता था और ऊपरसे उत्तरीय डाल लेती थीं। स्त्रियोंकी वेष-भूषा अब भी बहुत-से ग्रामोंमें ऐसी ही है। केवल कञ्चुकी सीनेकी प्रथा चल पड़ी है। स्त्री और पुरुष दोनों रंगीन वस्त्र धारण करते थे। शय्याके वस्त्र श्वेत होते थे। अधिकांश रेशमी वस्त्र उपयोगमें आते थे, परंतु ऊनी और सूती वस्त्रोंका भी पर्याप्त वर्णन मिलता है।

आभूषण-धारणकी खूब प्रथा थी और स्त्री-पुरुष दोनों आभूषण धारण करते थे। स्मरण रखना चाहिये कि आभूषणादि शृङ्गार केवल गृहस्थ ही धारण कर सकते थे; उनमें भी ब्राह्मण शृङ्गार-त्यागी थे। पूरे समाजका एक बहुत छोटा भाग ही साज-शृङ्गारकी प्रवृत्ति रखनेको स्वतन्त्र था। फलतः सामग्रीके लिये संघर्षका प्रश्न ही नहीं था। मुकुट, कुण्डल, हार, कण्ठाभरण, अङ्गद, कङ्कण, अङ्गुलीय (अँगूठी), किङ्किणी, चरणाभरण और नासिकाभरण—इनमेंसे केवल नासिकाभरण ही पुरुष उपयोग नहीं करते थे और बालक कभी-कभी करते भी थे। इसके अतिरिक्त शेष सभी आभूषण पुरुष भी धारण करते थे। स्त्रियों और पुरुषोंके आभूषणोंमें आकृति आदिके अन्तरका वर्णन सूक्ष्म विवेचनसे ज्ञात हो जाता है। रत्नों तथा स्वर्णका मनुष्यके ऊपर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और स्वर्ण स्वास्थ्यके लिये लाभप्रद है, यह आजके वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। स्वर्ण और रत्नके आभूषण गृहस्थ धारण करें और उनके लाभसे लाभान्वित होना चाहें, यह स्वाभाविक है। आज दुर्बल और विकृताङ्ग मनुष्य अपना शरीर वस्त्रसे छिपाये रखना चाहता है। शक्ति एवं दरिद्रताने उसे सभ्यताका यह रूप दिया कि आभरण-धारण असभ्यता है; फिर भी सुविधा पानेपर वह उनका लोभ छोड़ नहीं पाता। स्वस्थ-सबल शरीर आभरणोंसे भूषित कितना भव्य लगता होगा, यह कल्पनासे परे नहीं है।

वस्त्र और आभूषणोंके अतिरिक्त नाना प्रकारके अङ्गराग, सुगन्धित तैल और पुष्प-शृङ्गार उस समय अत्यन्त प्रिय थे। शरीरपर अङ्गरागसे बेलें निकालना, पुष्पाभरण बनाना, केश-विन्यास करना—ये सब कलाएँ थीं उस समयकी। षोडश शृङ्गार और चौसठ कलाओंका विवरण अत्यन्त प्राचीन है। उनसे हिंदू-समाजके वैभव तथा उसकी कलात्मक रुचिका अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

राम-भरोसा

धन-पति, पद-पति, बुद्धि-पति, जग-पतिसों लिय भीख।
इन मंगन सों माँगु नहिं, प्रभु सों माँगन सीख॥
मँगिबो परत न राम सों, जानत जन-हिय-पीर।
जाति दौरि शिशु के निकट, जननि पियावत क्षीर॥

—श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस'

पूँजीवादकी जड़ और उसके डाली-पत्ते

(लेखक——श्रीजयेन्द्ररायजी भ० दूरकाल एम्० ए०)

प्रत्येक मन्तव्य या सिद्धान्तमें जिस वस्तुको प्राधान्य दिया जाता है, उसके अनुसार ही उसका नाम पड़ता है। इसी प्रकार पूँजीकी मुख्यता होनेके कारण इसका नाम पूँजीवाद चल पड़ा है। फ्रांसकी १७८९ की क्रान्तिमें ईश्वर और धर्मको उड़ा देनेकी रणभेरी बजी, इससे अर्थ और कामका जोर बढ़ा। अर्थका सही अर्थ यह है कि जिससे संसार चले, और इसकी आवश्यकता पूरी हो। आवश्यकताओंके दो मुख्य भेद हैं—व्यक्तिकी और समाजकी। व्यक्तिकी आवश्यकताएँ हैं——खान-पान आदि। समाजकी आवश्यकता है—राज्य। धर्मके संयम, मनोनिग्रह, इन्द्रिय-निग्रह आदिके आदर्शोंको शिथिल करनेके साथ ही मौज-शौकका प्राधान्य आ गया और उसमें 'छूट'—स्वच्छन्दताके सिद्धान्तसे दुराचारकी दुर्वासना भी प्रविष्ट हो गयी। मौज-शौकके लिये धन चाहिये, इसलिये धनका प्राधान्य आया। धनका 'उत्पादन' करनेमें श्रम चाहिये, इसलिये श्रमका—मेहनतका——क्रियाका प्राधान्य आया। जैसे नेपोलियनके नेतृत्वके अधीन फ्रांस राज्यसत्ताकी गेंद-उछालका केन्द्र बन गया, वैसे ही वह यूरोपमें मौज-शौकके अड्डोंका, नाइट-क्लबोंका, फराक और पेटीकोटके फैशनका केन्द्र हो गया। इसके प्रभावसे सारे यूरोपमें मौज-शौक और धनके लिये उन्माद या आतुरता फैल गयी। धनको बढ़ाने, धनको खूब इकट्ठा करने और धनको ऊँचा उठानेके आदर्श, प्रयत्न और कानून बनने लगे। धन या पैसा जो पहलेके धर्मराज्योंमें हाथका मैल समझा जाता था, उसे शुक्रकी महादशा आ गयी। धन या लक्ष्मी स्वयं तो कोई बुरी वस्तु नहीं है; उसके लालचमें पड़कर द्वेष, दुराचार और दुर्वासनामें फँसना बुरा है। यह तो विष्णुकी महामाया है; इसलिये बड़े-बड़े बुद्धिमान् इस काम-पन्थमें भटक गये। इसकी फिलॉसफी निकली और नये अर्थशास्त्र बने। इसको सम्मति और पोषण देनेवाली लोकशाहीकी राज्य-रचनाका आविर्भाव हुआ। फ्यूडलिज्म—अमीर और सरदार जो मोटे कपड़े पहनकर हजारों आदमियोंका निर्वाह करते थे, राजा और सरदार जो संग्राममें आगे बढ़कर पहले अपना बलिदान देनेके लिये तैयार होते थे, धार्मिक सत्ताके अधिकारी, जो लोगोंको संयम और दान-धर्मका उपदेश देकर अपने ठिकानेपर रखते थे, उन सबपर आ बनी। सरदारों और अमीरोंको उड़ा देनेमें होशियारी मानी जाने लगी। बड़ी-बड़ी तनख्वाहवाली सेनाओंका बारहों महीनेका करोड़ोंका खर्च और इस कारण स्वभावतः अनायास संग्राम और लड़ाइयाँ बढ़ने लगीं और रविवारके पुण्यके बदले पुतलीघरोंमें पैसे उड़ने लगे और देव-मन्दिरोंकी संख्या कम होने लगी। बर्क-जैसे दूरदर्शी विद्वान् सहसा चिल्ला उठे और इंगलैंड-जैसे देश क्रान्तिकी नागफाँससे बच गये। वहाँ तथा अमेरिकामें धर्मका थोड़ा-बहुत जोर होनेके कारण दुराचारमें कुछ रुकावट आयी। परंतु धनेच्छा और लोलुपता वहाँ भी बढ़ी और पूँजीवाद प्रविष्ट हो गया। इसके पीछे लोगोंकी दरिद्रताकी अपेक्षा धनलिप्सा ही अधिक बलवान् थी। किस प्रकार दूसरोंसे धन लेना, खींचना या रोक रखना—यह उसका मुख्य प्रेरक बल हो गया। इसके लिये बड़े-बड़े कारखाने, नये-नये आविष्कार, विज्ञानके विश्वविद्यालय बढ़ने लगे। इसके साथ इसके अङ्गस्वरूप मजदूरोंका पूर्ण जोरदार, संख्याबद्ध वर्ग बनने लगा, पूँजीपति बढ़ने लगे और वर्ग-संघर्षके भी नारे लगाये जाने लगे। बर्कने कह दिया था कि अब सिरको हथेलीमें लेकर प्रजाकी तथा महिलाओंकी रक्षा करनेके लिये कूद पड़नेका युग चला गया और उसकी जगहपर तर्कवादी, अर्थवादी और पैसे-पैसेका हिसाब करनेवालोंका युग आ गया है और देशकी यशस्विता सदाके लिये विदा हो गयी है। परंतु यूरोपका वातावरण इस कूद-फाँदसे इतना अधिक बिगड़ चला था कि कार्लाइल-जैसे महान् विचारक भी अंशतः भूलमें फँस गये और इस क्रान्तिकी निन्दा करते हुए भी 'परिश्रम' और क्रिया (लेबर)का राग अलापने लगे। सच बात तो यह थी कि दुनियाँमें जितना खाने-पीनेके लिये चाहिये, उतना तो होता है मनुष्यकी असली जरूरतें तो बहुत थोड़ी होती हैं। परंतु नयी विचारधारा तो यह कहती थी कि हमें तो मौज-शौक चाहिये, मौज-शौकके लिये धन चाहिये और धनके लिये श्रम चाहिये। इस प्रकार मजदूरी आकर पूँजीवादके पल्ले बँध गयी। यह सब जोर देकर कौन कराये—पूँजीपति या मजदूर? और दोनोंके ऊपर हुकूमत कौन चलाता है?—राज्य; दूसरा कौन? इससे राज्यकी हाकिमी आयी। राज्यकी हाकिमी कौन करे? यह समुदाय हुकूमत

भोगे या वह दल भोगे ? संत भोगें या ये षड्यन्त्रवाले भोगें ? संतोंको यह कहकर उड़ा दिया कि संसारको समझते नहीं। राजाओंको यह कहकर किनारे किया कि तुम तो संयम और सदाचारके लिये सबको दबाते हो, इसलिये तुमसे हमारा काम नहीं चलेगा। अब बच गये लोकशाहीवाले क्रान्तिकारी। उनमें भी फिर अनेक पक्ष हो गये—जिनमें दो स्पष्ट बहुमतवाले और अल्पमतवाले हैं। दोनों ही अपनी बात-को सोलहों आने ठीक मानते हैं। कौन किसके लिये सहे या अपने विचारको हटाकर या दूसरेकी विचारधाराको मानकर समाधान करे ? और क्यों समय नष्ट करे ? जिन साधनोंसे सफलता नहीं मिल सकती, ऐसी प्रार्थनाओंको अथवा लोगों-का बहुमत प्राप्त करनेके निरर्थक प्रयत्नको क्यों अपनाये रहें ? यह परिस्थिति उत्पन्न होने और सहज ही समझ-में आनेके कारण त्रासवाद आया, बमबाजी शुरू हुई और अणु-बम तथा हाइड्रोजन-बम भी धर्मके विदा होनेके कारण और धर्मक्षेत्रके चौकमें रीजन (तर्कवाद) का पुतला खड़ा करनेके फलस्वरूप विना माँगे, विना बुलाये, अनेक बार आड़े हाथ करनेपर भी ये आ पहुँचे। धर्मविहीन राज्यकी नास्तिक फिलाँसफी राज्यमें, शिक्षामें, आदर्शमें और भाषामें भी आ पहुँची। 'सब समान'का असत्य सिद्धान्त पुनरावर्त्तन-से फैशनमें आ गया और सब कुछ किनारे रखकर 'अब तो भाई दुनियाकी रोटी पूरी करो'—इसकी योजना करनेका शोर मचने लगा और इसका सीधा उपाय—जिनके पास पैसे हों, उनसे ले-लेकर जरूरत पूरी करो—यह सूझा। इस रोटीकी दुनियामें एकाएक चमत्कार हो गया और मेहनत-के बावजूद रोटियोंका अकाल एकाएक कहाँसे आ गया, इसका उत्तर खोजनेकी खटपटमें कौन पड़े ? ऐसी आजकी मानस-भूमि बन गयी। इसके लिये खूब उत्पादन करो, खूब उत्पादन करो—यह आवाज चारों ओर फैल गयी। उत्पादन-में सफलता नहीं हुई; हजारों मन काफी फेंक देनी पड़ी; पाट आदि बहुतेरी चीजोंके उत्पादनकी कीमत इतनी भी न हुई कि उससे लगत वसूल हो सके। अनाज सस्ता न होने पाये, इसके लिये बनावटी रुकावटें पैदा की गयीं। घी-दूध, अनाज आदिमें मिलावट और बनावट बढ़ गयी। दूसरी ओर कपड़ेकी तथा दूसरी मिलोंमें करोड़ों रुपयोंका माल भरा रहने लगा। यह महँगा माल कौन ले ? मालकी महँगाईके साथ रुपयेकी तंगी भी बढ़ती गयी। तीसरी ओर दुर्घटनाओं, दगेबाजियों और युद्धोंके परिणामस्वरूप करोड़ों रुपयोंके जहाज, वायुयान और इमारतोंका नाश होने लगा। जर्मनीने तो अपना सारा काफला ही बिजलीके बटन दबाकर उड़ा दिया। इस प्रकार दूसरी ओर देखो तो महँगाई और मौज-शौककी तथा मशीनों-की वृद्धि और धंधे-रोजगारकी स्वतन्त्रताके लिये परेशान होनेका परिणाम यह हुआ कि मजदूरीकी तैयारी होनेपर भी बेकारी बढ़ती गयी। इसलिये बेकारीकी पुकार भी इस नयी अव्यवस्थामें बढ़ गयी। सारांश यह कि जैसे शतरंजकी बाजी-में गलत या भूलभरी चाल चलनेसे खेलाड़ी फँस जाता है, अथवा सोचे हुएसे उलटा ही परिणाम आ जाता है, वही हालत इस नये प्रयोगके खेलाड़ियोंकी भी हुई। प्रकृतिकी और प्रकृतिके ईशकी सत्य, अहिंसा, संयम इत्यादि किसी भी विधि-निषेधके विरुद्ध स्वतन्त्रता खोजते-खोजते खाने-पीनेतककी परतन्त्रता आ पड़ी। पूज्यकी पूजामें व्यतिक्रम करके और संत तथा शैतानको समान समझनेवाले मार्गसे दुनियामें उलटे ऐटम बमवाली और दुष्ट हथियारोंकी विश्व-व्यापी लड़ाई सिर आ पड़ी। अर्थ और धनके पीछे आँखें मूँदकर दौड़ती प्रजामें अधिक बेकारी और ऋणभार बढ़ गया। लोकशाहीकी राज्य-पद्धतिसे, दुनियाका उद्धार कर डालनेकी प्रवृत्तिसे उन-उन राज्योंमें ही स्वतः अव्यवस्था, भेद, अन्तर्युद्ध, बमका उपयोग, आग लगानेकी तरकीबें तथा पारस्परिक द्वेष और बड़े-बड़े अपराध बढ़ गये। ये सारी बातें इतनी स्पष्ट और प्रत्यक्ष देखनेमें आती हैं कि कोई भी देखनेवाला इन्हें देख सकता है। अवश्य ही इस पंथमें अबतक लोग इतना आगे बढ़ गये हैं कि अब पीछे हटना बहुत कठिन है। तमससे प्रकाशमें जाना भी तो एक महाक्रान्ति ही है।

इस प्रकार १७८९ से इसकी पश्चाद्-भूमिका और वर्तमान भूमिकाका दिग्दर्शन करानेके बाद हम पूँजीवादके दोष और विपरिणामको भी देख लें।

(अपूर्ण)

ईश्वरने यह तन दिया करनेको दो काम।
तन-धनसे सेवा करैं, मनसे सुमिरैं राम॥

सात्त्विक वृत्ति

(लेखक—श्रीसुरेशचन्द्रजी)

''रामायणको मैं जीवनकी पुस्तक मानता हूँ और मेरा ऐसा विश्वास है कि जबतक हम उसको इस भाँति समझनेका प्रयत्न नहीं करेंगे, 'राम-राज्य'की स्थापना हमारे शरीर, मन तथा बुद्धिमें नहीं हो सकती। हजारों वर्षोंसे रामायणका पाठ घर-घरमें हो रहा है परंतु रामायणकी जो गारंटी—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

—है, वह रामायणका पाठ करनेवालोंके जीवनमें चरितार्थ होती नहीं पायी जाती। उनके शरीर रोगसे ग्रसित हैं, मन विकारयुक्त हैं तथा बुद्धि अज्ञानसे परिपूर्ण है। इसका क्या कारण है? क्या रामायण गलत है? नहीं, ऐसा नहीं है; क्योंकि इसके आधारपर साधनाद्वारा बहुत-से व्यक्ति अपना जीवन सफल बना चुके हैं। तो फिर हमारी असफलताका क्या कारण है? मेरे विचारसे हमलोग रामायणको एक धर्मकी पुस्तक-मात्र मानते हैं और उसका हमारे दैनिक जीवनसे भी कोई सम्बन्ध है—यह विचार करनेके लिये तैयार नहीं हैं।

''पार्वतीने तप किया, मनु-शतरूपाने तप किया, भरत तथा अयोध्यावासियोंने साधना की। क्या ये सब ऐतिहासिक घटनाएँ मात्र हैं अथवा एक पौराणिक ग्रन्थकी उन गाथाओंमेंसे हैं, जिनका क्रियात्मक जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं है? क्या हम भी उसी परिपाटीपर चलकर वही प्राप्त नहीं कर सकते, जो उन्होंने किया?

''देश, काल तथा पात्रके अनुसार इस साधनाके रूपमें परिवर्तन हो सकता है; परंतु मूल सिद्धान्त वे ही रहेंगे। यदि ऐसे कुछ साधक तैयार हों, जो रामायण इस भाँति समझने और उसका क्रियात्मक उपयोग करनेको प्रस्तुत हों या कर रहे हों, तो बड़ा लाभ हो सकता है। मेरा यह निवेदन है कि लोग सत्सङ्गकी समाप्तिके बाद रुक जायँ और हमलोग आपसमें बैठकर अपने अनुभव तथा कठिनाइयोंको बतायें तथा नवीन सुझाव स्वतःप्राप्त विवेकके प्रकाशमें रक्खें, जिनसे लाभ उठाकर हम एक-दूसरेकी सहायता कर सकें और अपनी साधनामें अग्रसर हो सकें।'' इतना कहकर योगीजी शान्त मुद्रासे बैठ गये।

कुछ लोग उठकर चले गये, लगभग पचीस व्यक्ति बैठे रहे। योगीजीने कहा—'मेरा ऐसा अनुमान था कि पाँच-छः व्यक्ति ही रुकेंगे; परंतु बात मेरी आशाके विपरीत हुई।'

दो-तीन सज्जन एक साथ बोल उठे कि 'साहब! हमलोग तो आपके मुखसे और अधिक सुननेके लिये ही बैठे हैं। कुछ करने-धरनेवालोंमें नहीं हैं।'

योगीजी हँसने लगे—उपस्थित लोगोंकी मनोवृत्ति-पर! वहाँपर पुलिसके एक बहुत ऊँचे अफसर भी बैठे हुए थे, जो योगीजीके अनुयायी थे तथा उनके सिद्धान्तोंपर चलकर पर्याप्त लाभ उठा चुके थे। उनके मुखपर पुलिसके अधिकारियोंकी-सी निरङ्कुशता न थी, अपितु धार्मिक पुरुषोंका-सा माधुर्य तथा कोमलता थी। वे प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर भगवान्‌का स्मरण करते थे। भोजनमें अन्नका परित्याग लगभग एक वर्षसे किये हुए थे और दिनमें केवल एक बार कंद-मूल-फल तथा शाकका आहार करते थे। योगीजीके सत्सङ्गमें आनेवाले सभी व्यक्ति उन्हें श्रद्धा तथा आदरकी दृष्टिसे देखते थे। उन्होंने कहा—''वैसे तो मेरा कोई विशेष अनुभव नहीं है, किंतु आज प्रातःकालकी एक घटना उल्लेखनीय है—

''मेरे घरके बाहरी कमरेमें एक लड़का रहता है, जो विश्वविद्यालयमें एल्-एल्० बी० में पढ़ता है। धनाभावके कारण वह अपनी शिक्षा आगे बढ़ानेमें असमर्थ था, वह

मेरे पास आया और उसने अपनी कठिनाइयाँ मेरे सामने रक्खीं । मैं उसको अपने साथ रखनेपर राजी हो गया और उसको रहनेके लिये अपने घरका बाहरी कमरा दे दिया । घरपर ही उसके भोजनकी भी व्यवस्था कर दी ।

"आज प्रातः लगभग पाँच बजे जब वह दाढ़ी बना रहा था, तब उसने पानीका लोटा खिड़कीमें रख दिया । एक आदमी उस लोटेको उठानेकी नीयतसे खिड़कीके पास आया, पर अंदर एक व्यक्तिको देखकर लौट गया । उस कमरेके बाहर दरवाजेके पास एक टूटा हुआ उगालदान पड़ा था । वह उसको उठाकर नौ-दो ग्यारह हुआ । उस लड़केने देखा कि कोई व्यक्ति खिड़कीके पास आया और उसको देखकर दरवाजेकी ओर गया और वहाँसे कुछ उठाकर चला गया । वह कमरेके बाहर निकल आया, ठीक उसी समय मैं भी घरसे बाहर निकला । मुझे देखते ही उसने प्रणाम किया और उस घटनासे सूचित किया । मैंने तुरंत अपने अर्दलीको उस आदमीको पकड़ लानेका आदेश दिया ।

"लग-भग आधे घंटेमें वह व्यक्ति पकड़कर मेरे पास लाया गया । उस अर्दलीने पकड़ते समय ही उसकी काफी मरम्मत कर दी थी । तो भी कोठीपर आते ही और लोगोंने उसकी पूजा शुरू कर दी । मेरे अंदर भी कुछ तामस वृत्तिका प्रादुर्भाव हुआ और मैंने चौकीसे दो कान्स्टेबलोंको बुलाकर उनकी सुपुर्दगीमें उस व्यक्तिको दे दिया ।

"किसी क्रूर तथा अनिष्टकारक कर्म करनेके बाद हमें ग्लानि होती है और शीघ्र ही कोमल भावनाओंका जन्म होता है और तब उस व्यक्तिसे, जिसके साथ हमने अन्याय किया है, सहृदयताका बर्ताव करनेकी इच्छा होती है ।

"जब कान्स्टेबल उसे ले जाने लगे, तब मैंने बहुत नरमीसे कहा—

'तुम कौन हो और तुमने चोरी क्यों की ?'

'मैं उड़ीसाका एक गरीब ब्राह्मण हूँ । बाढ़से घर-बार तथा खेती नष्ट हो जानेपर मैं भागकर गोरखपुर आया और वहाँ रेलवेमें मजदूरी करने लगा । दुर्भाग्यसे छटनीमें वहाँसे भी निकाल दिया गया और अब कई दिनोंसे यहाँपर हूँ ।' उसकी तलाशी लेनेपर कुछ ऐसे प्रमाण मिले, जिससे उसकी बातोंकी पुष्टि हुई । उसको देखनेसे मालूम होता था कि कई दिनोंका भूखा है ।

"मुझे उसपर बहुत दया आयी और मैंने कान्स्टेबलोंको उसे छोड़कर चौकी लौट जानेका आदेश दिया और उस व्यक्तिको भोजनकी सामग्री देकर विदा किया ।

"मेरे जीवनमें यह पहला अवसर था कि एक व्यक्तिको चोरी करते हुए पकड़े जानेपर भी मैंने छोड़ दिया और तो भी मुझे कोई मलाल नहीं हुआ, अपितु एक दैवी आनन्दकी अनुभूति हुई । मैंने ऐसा अनुभव किया कि यह इस सात्त्विक वृत्तिका प्रभाव था, जिसका प्रादुर्भाव मेरे जीवनमें संयम एवं नियमके द्वारा हुआ है, जो मेरी साधनाके विशेष अङ्ग हैं ।"

'तब निश्चित तेरा कल्याण'

हत्यारा आएगा सम्मुख, लेनेको तेरे प्रियप्राण ।
कहना होगा उसे भावसे, 'हो भाई ! तेरा कल्याण !'
काक, कबूतर, चींटी तकके, ऊपर भी न फेंक पाषाण ।
रोम-रोममें रमा रामको, तब निश्चित तेरा कल्याण ॥

शत-शत फूल चढ़ा उस जनपर, जो फेंके तुझपर पाषाण ।
अपने प्राण गँवा करके भी, बचा किसी प्राणीके प्राण ॥
दीन, दुखी, पापी, पतितोंका, कर स्वागतपूर्वक शुभ त्राण ।
रोम-रोममें रमा रामको, तब निश्चित तेरा कल्याण ॥

—'बन्धु', ब्रह्मानन्द

श्रीगीताजयन्ती और गीताकी महिमा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

यह प्रश्न होता है कि श्रीगीताजयन्ती मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही क्यों मनायी जाती है ? इसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीताका उपदेश दिया था, इसका क्या प्रमाण है ? इसके लिये हमें महाभारतके युद्धारम्भ एवं पितामह भीष्मके परलोकगमनके कालपर दृष्टिपात करना आवश्यक है—महाभारत, भीष्मपर्वके अध्याय २, श्लोक २३-२४ में लिखा है कि कार्तिककी पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर श्रीवेदव्यासजीने धृतराष्ट्रसे कहा कि निकट भविष्यमें बड़ा भयंकर युद्ध होनेवाला है; क्योंकि चन्द्रमाका रूप अग्निके समान लाल, कान्तिहीन और अलक्ष्य दिखायी पड़ता है। महाभारत, अनुशासनपर्वके १६७ वें अध्यायके २७वें-२८वें श्लोकोंमें वर्णन आता है कि भीष्मजीने माघ शुक्ला अष्टमीके दिन अपने शरीरका परित्याग किया था। श्रीभीष्मजी बहुत दिनोंतक शरशय्यापर पड़े रहे। इस हिसाबसे माघ शुक्लपक्ष या पौष शुक्लपक्षमें तो गीताजयन्ती हो नहीं सकती, प्रत्युत मार्गशीर्षमें ही हो सकती है ।

यदि शुक्लपक्ष न मानकर कृष्णपक्ष ही गीताजयन्तीका काल मान लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि महाभारत, द्रोणपर्वमें वर्णन है कि चौदहवें दिनकी रात्रिमें जो संग्राम हुआ था, उस समय घोर अन्धकार था, प्रज्वलित दीपकों (मशालों) के प्रकाशमें ही वह युद्ध हुआ था (देखिये अ० १६३); वहाँ अँधेरेमें अपने-परायेका ज्ञान न रहनेसे लोग अपने पक्षके वीरोंका भी संहार करने लगे। तब अर्जुनने युद्ध बंद करके विश्राम करनेकी आज्ञा दे दी (देखिये अ० १८४)। इस प्रकारकी अन्धकारमयी रात्रि कृष्णपक्षमें ही रहती है। इस हिसाबसे गीताके प्राकट्यका समय कृष्णपक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि गीता युद्धारम्भके पहले ही कही गयी थी और उक्त चौदहवें दिनकी रात्रिके युद्धके समयमेंसे तेरह दिन घटानेपर शुक्लपक्ष ही सिद्ध होता है ।

यदि कहें 'कि एकादशीके दिन ही गीता कही गयी, इसका क्या प्रमाण है?' तो इसका उत्तर यह है कि उक्त चौदहवें दिनकी रात्रिमें आधी रातके पश्चात् चन्द्रमाके उदय होनेपर पुनः युद्ध आरम्भ हुआ था। वहाँका चन्द्रमाका वर्णन कृष्णपक्षकी नवमीके जैसा है; क्योंकि अर्धरात्रिके बाद चन्द्रोदय अष्टमीके पूर्व हो नहीं सकता। अतः उस युद्धकी रात्रिको पौष कृष्णपक्षकी नवमी मानें तो उससे तेरह दिन घटानेपर मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ही ठहरती है ।

यदि यह मानें कि प्राचीन कालकी गणनामें शुक्लपक्ष पहले गिना जाता था, कृष्णपक्ष बादमें—इस न्यायसे मार्गशीर्ष कृष्ण नवमीकी रात्रिमें युद्ध हुआ तो इसमें कोई विरोध नहीं है। उस कालसे भी १३ दिन घटानेपर तिथि मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ही ठहरती है ।

इसके सिवा एकादशीका दिन पर्वकाल है और मार्गशीर्षका महीना सबसे उत्तम माना गया है, जिसके लिये स्वयं भगवान्ने गीतामें कहा है—'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्—(११ । ३५)।' इन सब प्रमाणोंके आधारपर ही अनेक पण्डितोंने यह निर्णय किया है कि मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही युद्ध आरम्भ हुआ था और उसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीतोपदेश दिया था ।*

---

* 'गीता-धर्म-मण्डल' पूनाने तथा प्रसिद्ध विद्वान् श्रीकरंदीकर महोदयने बहुत-से प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया है कि गीताका उपदेश मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही हुआ था। प्रसिद्ध ज्योतिषी पं० इन्द्रनारायणजी द्विवेदीका भी यही मत है। प्रख्यात ऐतिहासिक स्व० श्रीचिन्तामणिराव वैद्यने मार्गशीर्ष शु० १३ को गीताकी जन्मतिथि बतलाया है—'सम्पादक'

संसारमें अध्यात्मविषयक ग्रन्थ गीताके समान और कोई नहीं है। गीतापर जितनी टीकाएँ, भाष्य और अनुवाद नाना प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंमें मिलते हैं, उतने दूसरे किसी धार्मिक ग्रन्थपर नहीं मिलते। गीताप्रेस, गोरखपुरमें ही संस्कृत, हिंदी, गुजराती, बँगला, मराठी, उर्दू, अरबी, फारसी, गुरुमुखी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि अनेक भाषाओं और लिपियोंमें मूल तथा भाषाटीका मिलाकर १३०० से अधिक गीताओंका संग्रह है।

गीताकी महिमा जो पद्मपुराणमें मिलती है, उसे देखनेपर मालूम होता है कि गीताके सदृश महिमा दूसरे किसी ग्रन्थकी नहीं। गीताकी महिमा महाभारतमें स्वयं वेदव्यासजीने भी कही है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥
(भीष्मपर्व ४३।१)

'गीताका ही अच्छी प्रकारसे श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है।'

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥
(भीष्मपर्व ४३।२)

'जैसे मनुजी सर्ववेदमय हैं, गङ्गा सकलतीर्थमयी है और श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, इसी प्रकार गीता सर्वशास्त्रमयी है।'

भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्॥
(भीष्मपर्व ४३।५)

'महाभारतरूपी अमृतके सर्वस्व गीताको मथकर और उसमेंसे सार निकालकर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें उसका हवन किया है।'

गीता सारे उपनिषदोंका सार है। शास्त्रमें बतलाया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उनको दुहनेवाले (ग्वाला) हैं, अर्जुन बछड़ा हैं और गीताप्रेमी भगवत्-जन उनसे निकले हुए महान् गीता-मृतरूपी दूधका पान करनेवाले हैं।'

सम्पूर्ण शास्त्रोंमें गीताको सर्वोपरि माना गया है। कहा है—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

'श्रीदेवकीनन्दन श्रीकृष्णका कहा हुआ गीताग्रन्थ ही एक सर्वोपरि शास्त्र है, श्रीकृष्ण ही एकमात्र सर्वोपरि देव हैं, उनके जो नाम हैं, वे ही सर्वोपरि मन्त्र हैं और उन परमदेवकी सेवा ही एकमात्र सर्वोपरि कर्म है।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। गङ्गामें स्नान करनेका फल तो अधिक-से-अधिक स्नान करनेवालेकी मुक्ति बताया गया है। यों गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं ही मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको मुक्त नहीं कर सकता। किंतु गीतारूपी गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं मुक्त होता है और दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है।

गीताकी भाषा भी मधुर, सरल, अर्थ और भावयुक्त है। अतएव सभी माता-बहिनों और भाइयोंको प्रतिदिन कम-से-कम एक अध्यायका पाठ तो अर्थ और भाव समझते हुए अवश्य करना ही चाहिये।

सत्कथा

(१)

राम-जपके सम्बन्धमें स्वयंकी अनुभूतियाँ

(लेखक—आचार्य श्रीभगवानदासजी झा, एम्०ए०, एल्०टी०, साहित्यरत्न)

जीवनके शैशव-कालसे ही मेरे अबोध मनपर मेरे पिताजीकी भक्ति एवं उनके द्वारा निर्देशित राम-नाम-जपकी महत्ताके संस्कार आजतक बनते चले आ रहे हैं। मैं पाँच वर्षका था। मेरे पिताजी चाहते थे कि मैं पढ़ने बैठ जाऊँ। पर मेरा मन पढ़नेसे उसी प्रकार कोसों दूर भागता था, जिस प्रकार किसी संसार-विषयासक्तका भगवन्नामसे। पिताजी बड़े चिन्तित रहते थे। सोचते थे कि इसके भाग्यमें विद्या है ही नहीं। अन्तमें उन्होंने प्रतिदिन इसीके निमित्त 'ओम्'का जप किया। हरि-इच्छासे मेरा मन पढ़नेके लिये व्याकुल होने लगा और बार-बार उचटनेकी स्थितिके बाद भी मैं प्रत्येक कक्षामें प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होता रहा। जब मैं सन् १९३८ में मिडिल-परीक्षामें उत्तीर्ण हुआ, तब मुझे ऐसा भासित होने लगा कि जिस राम-नामने मुझे इतनी विद्या दी, वह इससे आगे भी देगा। अस्तु, घरका त्याग करके मैं हाई-स्कूलकी परीक्षा उत्तीर्ण करने दतिया आ गया। जीवन-क्रम बढ़ता गया और इसी क्रममें ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनसे मेरे मनमें राम-नाम-जपकी महिमाका प्रभाव तीव्रतर होता गया। अधिक न कहकर मैं उन घटनाओंको लिपिबद्ध करता हूँ, जो यह स्पष्ट करनेके लिये पर्याप्त हैं कि ओम् या राम-नाम-जपसे सब विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

घटना-क्रमाङ्क १

बात सन् १९४३ की है। घटना झाँसी, उत्तरप्रदेशकी है। मैं उस समय इंटरमीजियट, प्रथम वर्षका विद्यार्थी था। राजकीय इंटरमीजियट कालेज, झाँसीके छात्रावासमें वास करता था। कमरा क्रमाङ्क १० था। प्रथम वर्षकी वार्षिक परीक्षा निकट आ रही थी। सभी विद्यार्थी रात्रिके चार बजेसे विद्याध्ययनमें लग जाते थे। छात्रावासमें विद्युत्-प्रकाशकी व्यवस्था नहीं थी। अतएव लालटेन जलाकर कार्य किया जाता था। एक रात्रिकी घटना है। मैं प्रातः चार बजे उठा। कमरेसे बाहर निकलकर लघु-शङ्काका समाधान किया। तत्पश्चात् कमरेकी देहरीपर खड़ा हो गया। आदतके अनुकूल महात्मा सूरदासका पद—

मैया मेरी मैं नहिं माखन खायो······

—गुनगुनाने लगा। एक पदकी समाप्तिके बाद दूसरा पद—

मैया मैं तो चंद-खिलौना लैहों······

—अधिक उच्च स्वरसे गाने लगा। अन्धकारकी रात्रि थी। इसलिये यह कुछ पता नहीं कि मेरी स्वरलहरीको कोई सुननेवाला भी था या नहीं। दस मिनट बाद लालटेन जलानेके लिये कमरेके भीतर गया। शौचके लिये लोटा उठाया, लालटेन हाथमें ली, ताला उठाया और चला देहरीकी ओर। लालटेन पृथ्वीपर रखने लगा कि अचानक भयके मारे लालटेन हाथसे छूट गयी और दूसरे हाथका लोटा बाहर दूर जा पड़ा। देखा—जहाँ खड़ा मैं दस मिनटतक गाता रहा, वहीं मेरे पैरोंसे एक सेंटीमीटरकी दूरीपर ही एक विषधर मेरी स्वर-लहरीको सुन रहा था। किंतु उसने काटनेकी तो कौन कहे ऊपर उठे हुए फनका मेरे पैरसे भी स्पर्श नहीं किया। ः चिल्लाया। साथी जाग पड़े और सर्पका वध कर दिया गया। मैं सोचने लगा—यह हरि-नामका ही प्रभाव है कि जो सूरके पदके रूपमें मेरी रक्षाका निमित्त बना। सर्प पाँच-छः फुट लंबा और महान् विषैला था। इसमें किसीको संदेह नहीं था कि यदि वह मुझे डस लेता तो छात्रावाससे लगभग तीन मीलकी दूरीपर स्थित औषधालयतक रात्रिके चार बजे पहुँचनेके पूर्व ही मेरी ऐहिक जीवनलीला समाप्त हो जाती। पर भगवान् जो साथ थे।

घटना-क्रमाङ्क २

बात सन् १९४८ की है। इलाहाबाद नगरसे सम्बन्धित घटना है। मैं गवर्नमेंट ट्रेनिंगकालेजमें एल्०टी० का विद्यार्थी था। वार्षिक परीक्षाके दिन निकट थे। कालेजमें प्रथम श्रेणीकी प्राप्तिके लिये भयंकर होड़ें लग रही थीं। मैं तिमाही और छःमाही परीक्षामें प्रथम उत्तीर्ण हुआ था। अतएव अब सभी विद्यार्थियोंका यही प्रयत्न था कि मैं अबकी प्रथम श्रेणी

न प्राप्त कर सकूँ। आठ-दस विद्यार्थी मेरी प्रतियोगिताके क्षेत्रमें कूद पड़े। वे रातों-दिन एक करने लगे। इधर रातके बारह बजेतक पढ़ते और उधर प्रातः चार बजे उठ बैठते। पर मेरी स्थिति भिन्न थी। रातको जगनेकी आदत नहीं थी। नौ बजे सो जाता और प्रातः सात बजे उठता। यह क्रम कई दिनोंतक चलता रहा। सबने समझ लिया कि अब यह विद्यार्थी क्या बराबरी करेगा। पढ़ता तो है नहीं। सोता रहता है। बात सोलह आने सच थी। पर मैं सोनेके पूर्व लगभग पंद्रह मिनटतक संस्कारवश 'ओम्'का जप अवश्य कर लेता और उठनेके साथ ही तुलसीकृत रामायणका यह दोहा गुनगुनाने लगता—

भव भेषज रघुनाथ जस सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

परीक्षा हुई और समाप्त हो गयी। जूनमें परीक्षा-फल घोषित हुआ। मैं सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों परीक्षाओंमें प्रथम-प्रथम उत्तीर्ण हुआ। ओम्के जपने मेरी मनःकामना पूर्ण की। संसार इसका रहस्य कदाचित् न समझ सका हो।

घटना-क्रमाङ्क ३

बात सन् १९५२ की है। स्थान जावरा, मध्यभारत था। मैं साइकिलसे स्टेशन लकड़ीकी गाड़ी लेने गया था। साइकिल बहुत पुरानी थी। लकड़ी लेकर चल दिया। मार्गमें मैं संत तुलसीदासका पद—

गाइए गनपति जग बंदन। संकर सुवन भवानी नंदन॥

—गाता हुआ द्रुततम गतिसे बढ़ने लगा। किसीको यह पतातक नहीं कि मेरी साइकिलके आगेके पहियेका चिमटा टूट चुका है; पर मैं बढ़ता ही आया। ठीक घरके द्वारपर आनेपर जैसे ही मैं साइकिलसे नीचे उतरा, पहिया साइकिलसे पृथक् हो गया। मैं बाल-बाल बच गया। मैं सोचने लगा—यदि यही बात जोरोंसे साइकिल चलाते समय घटती तो ग्वालियर-की एक घटनाकी भाँति मैं वक्षःस्थलके बल भूपर गिरता और सदैवके लिये आँखें बंद हो जातीं। पर गणपतिकी वन्दनाके पढ़ने मेरे जीवनकी रक्षा की। तभी तो श्रीगणपति-जी सकल-विघ्न-विनाशक माने जाते हैं।

घटना-क्रमाङ्क ४

बात सन् १९५५ की है। स्थान नरसिंहगढ़, मध्यभारत था। मैं नगरसे तीन मीलकी दूरीपर स्थित एक एकान्त बँगलेमें निवास करता हूँ। अचानक दिनाङ्क चार अप्रैल, ५५ को मेरी सबसे छोटी कन्याकी आँखें चढ़ने लगीं। सायंकालके छः बजेका समय होगा। मैं तब बैडमिंटन खेल रहा था। मेरी धर्मपत्नी चिल्ला पड़ीं। नौकर घरके भीतरसे दौड़ा हुआ आया। कहने लगा—'बेबीकी तबीयत बिगड़ रही है।' खेल-का मैदान बँगलेके पास ही था। मैं खेल छोड़कर अंदर गया। देखा—छः मासकी बच्ची आँखें चढ़ा गयी है और अन्तिम साँस ले रही है। मैंने सोच लिया कि अब इसके प्राणोंकी रक्षा नहीं की जा सकती। मैं रोने लगा। स्वस्थ बच्चीके हाथोंसे चला जाना कितने दुःखकी बात थी। बच्चीको केवल सायंकाल चार बजे हल्का-सा बुखार आ गया था। दाँत निकलनेकी थोड़ी-सी शिकायत थी। उपचार आदिकी कोई आवश्यकता नहीं समझी गयी। पर जब बच्चीकी दशा बिगड़ने लगी, तब मेरे साथी खिलाड़ियोंने बच्चीको गोदीमें ले लिया और मैं साइकिलसे डाक्टरके पासके लिये दौड़ा। मार्गमें एक कार मिल गयी। मैंने विनय करके कार माँगी और उसे पीछे लाकर बच्चीको उसमें बिठाकर औषधालय लाया। डाक्टरसाहबने केवल यही कहा कि मलेरियाकी शिकायत है; मैं एक इंजेक्शन लगाये देता हूँ और कुछ दवा खानेको दिये देता हूँ। तबतक बच्ची, जो अभीतक मूर्छित थी, चेतनतामें आ गयी थी। सोचा—अब संकट टला। बच्चीको लेकर घर लौट आया। धर्मपत्नीको दूध पिलानेके लिये बच्ची दी। एक क्षणमें ही बच्ची उसी स्थिति-में पुनः आ गयी। हम दोनों घबरा गये। पर तबतक कार चली गयी थी। अब क्या किया जाय। साथी भी चले गये थे। दो नौकर पास थे। मैं बच्चीको लेकर आँगनके बाहर आया और खुले मैदानमें उच्च स्वरसे 'ओम्'का जप करने लगा। जप आधे घंटेतक चला। इस अवधिमें बच्ची जीवन और मृत्युके संधि-स्थलपर थी। मैं धैर्य बाँधे और हिचकी लेती हुई कन्याको गोदमें लिये जोरसे जप कर रहा था। मैंने धर्मपत्नीसे भी जप करनेको कहा; पर वे इतनी व्याकुल थीं कि अनेक प्रयत्न करनेपर भी थोड़ी देरतक ही कर सकीं। बच्चीने होश सँभाला। वह रोने लगी। मूर्च्छा चली गयी। मैंने तुरंत गायत्री-मन्त्रका जप आरम्भ कर दिया। बच्चीने आँखें खोल दीं। सबको धैर्य बँध गया। फिर क्या था। सभी 'ओम्'का जप और साथ-साथ गायत्री-मन्त्रका जप करने लगे। मैंने जप आठ बजेसे बारह बजे राततक चलाया। प्रातःकालतक बच्ची पूर्ण स्वस्थ थी। बच्चीकी दशासे यह स्पष्ट ज्ञात होता था कि वह मृत्युके मुख-

से अभी हालमें ही वापस आयी है ।

मेरे जीवनमें ऐसी अनेक घटनाएँ घटित हुई हैं, जिनकी प्रत्यक्ष अनुभूतिके बलपर मैं यह कहनेमें समर्थ हूँ कि राम-नामके जप और 'ओम्'के जपसे सभी विघ्न-बाधाओंपर विजय प्राप्त की जा सकती है और मनोवाञ्छित फलकी प्राप्ति की जा सकती है ।

आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे यह विश्वासकी बात है और यह स्पष्ट करनेके लिये पर्याप्त है कि जब हम आर्तरूपमें हरिकी शरणमें सच्ची आस्था लेकर जाते हैं, तब दीनदयाल, भक्तवत्सल, आनन्दकन्द भगवान् हमारी रक्षा अवश्य करते हैं । भगवान् दम्भके विरोधी हैं पर सच्चे स्नेहके भूखे हैं ।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(२)

कौन कहता है भगवान् आते नहीं ?

(लेखक—श्रीसुरेन्द्रस्वरूपजी श्रीवास्तव बी० ए०)

आजसे दस-बारह वर्ष पूर्वकी बात है । ठीक-ठीक समय तो याद नहीं; परंतु इतना अवश्य याद आ रहा है कि जन्माष्टमीसे एक-दो मास पूर्वकी यह घटना है ।

मैं जजीमें एक कर्मचारी हूँ और उस समय अपरेन्टिस था । एक दूसरे कर्मचारीके त्यागपत्रपर मेरी नियुक्ति जजीके मोहाफिजखानेमें हुई थी और मेरा वेतन अठारह रुपयेसे कदाचित् पचीस रुपये हो गया था । मेरे साथ चार अन्य कर्मचारी काम करते थे और प्रत्येकके अधिकारमें एक-एक न्यायालयकी निर्णीत मिसलें रहा करती थीं ।

एक दिन एक प्रार्थनापत्र आया, जिसके द्वारा एक निर्णयकी प्रतिलिपि माँगी गयी थी । प्रार्थनापत्र मेरे पास भेजा गया; क्योंकि वह मेरे विभागसे सम्बन्धित था । मैंने मिसल देखी, परंतु वह मेरे पास न निकली । इधर-उधर ढूँढ़ा, न मिली । अपने साथियोंसे पूछ-ताछ की, परंतु कहीं पता न चला । ऐसा लगा मानो पैरोंतलेसे जमीन निकल गयी । मिसल पुरानी थी, अतः रद्दीमें भी देखी गयी; परंतु मिसल न मिलनी थी, सो न मिली । बात गुप-चुप भी रक्खी जाती तो कितने दिन । होते-होते बात काफी फैल गयी और सबको पता चल गया । प्रार्थीने एक दूसरे पत्रद्वारा जजसाहबसे प्रार्थना की कि अमुक मिसल जजीके मोहाफिजखानेसे गायब है और ऐसा अनुमान होता है कि अमुक कर्मचारीने दूसरी ओरसे कुछ रकम लेकर मिसलको गायब कर दिया है ।

अब क्या था—तू चल और मैं चल । कागजी घोड़े दौड़ने लगे । मेरा भी उत्तर लिया गया और आदेश हुआ कि दो सप्ताहके अंदर मिसल ढूँढ़कर पेश की जाय । मिसलका न मिलना या कागजका खो जाना काममें लापरवाही ही नहीं, वरं एक गम्भीर अपराध भी है ।

मिसल ढूँढ़ी, सारे दफ्तरमें ढूँढ़ी । परंतु पता न लगना था सो न लगा । जज साहबसे एक सप्ताहका अवकाश और माँगा गया और वह भी मिल गया । उस सप्ताहमें केवल चार दिवस ही काम करना था; क्योंकि रविवार और जन्माष्टमीको मिलाकर तीन दिनकी छुट्टी पड़ती थी । इन चार दिनोंमें अब जमीन और आसमानके कुलाबे मिला देना था । खोज हुई, सामर्थ्यसे अधिक हुई । एक-एक करते चारों दिन बीत गये, परंतु मिसल अन्धकारके परतमें ही रही । एक मिसल हो तो ढूँढ़ी जाय; हजारोंमें एकका मिलना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है ।

मुसीबतमें कोई किसीका साथ नहीं देता—कम-से-कम यह कहावत मेरे साथ झूठी निकली । सबने तन-मनसे मेरा सहयोग दिया था । पर सफलता नहीं हुई ।

रोमके जलते समय नीरो बंसरी बजा रहा था । जहाँ मुझे मेरे साथी इतना सहयोग दे रहे थे, वहाँ कुछ लोग मुझपर भाँति-भाँतिके लाञ्छन भी लगा रहे थे । कोई कहता—देखनेमें तो सीधा है, परंतु अंदरसे पूरा घाघ है । कोई कहता, रुपये देखकर किसकी नीयत नहीं डोल जाती······।

मुझे इन सब बातोंको सुनकर बड़ी पीड़ा होती । मिसल न मिलती तो नौकरीसे निकाल ही नहीं दिया जाता, लाञ्छन-के ये काले धब्बे मेरी जिंदगीको सदैवके लिये बरबाद कर देते ।

चार दिन बीत गये । जन्माष्टमीकी छुट्टी पड़ी, परंतु हृदयमें कोई उत्साह न था । भगवान्का जन्म मनाया गया, प्रसाद भी बँटा; परंतु मेरा मन तो और ही कहीं था । मनमें रह-रहकर मैं गिड़गिड़ाता—'भगवन्! मुझे किस अपराधका यह दण्ड मिल रहा है ? आप भी क्या नहीं जानते कि मैं निर्दोष हूँ ? हे नाथ ! कल तो मेरी नौकरी भी चली जायगी, फिर मैं क्या करूँगा ? दुनिया क्या कहेगी······?'

प्रसाद लेकर कुछ सूक्ष्म भोजनके उपरान्त मैं पड़ रहा। न जाने क्या-क्या सोचता रहा और नींद आ गयी। वह एक पावन रात्रि थी। सोचा करता हूँ, क्या ऐसी रात्रि मेरे जीवनमें एक बार फिर आयेगी? देखा कि एक श्यामवर्ण साधु मेरे निकट आया है और मुझसे उठनेको कह रहा है। उसकी छवि अद्भुत थी। मैं उटा, वह मुझे कचहरीकी ओर ले गया और मोहाफिजखानेके अंदर ले जाकर खड़ा कर दिया तथा संकेतसे कहा—'यह बस्ता खोलो।' मैंने वैसा ही किया। बस्ता खोलकर एक-एक करके मिसलें टटोलने लगा। जितनी ही देर मिसलके मिलनेमें हो रही थी, उतनी ही मेरी विकलता बढ़ती जा रही थी; परंतु वह साधु मन्द-मन्द मुसकरा रहा था। एक-एक करके सारी मिसलें लौट डालीं। अन्तमें मेरे आश्चर्यकी थाह न रही, जब मैंने वह आखिरी मिसल वहीं पायी, जिसकी इतने दिनोंसे खोज हो रही थी। खुशीसे मेरा हृदय द्रवित हो गया और मैं इतने जोरसे हँसा कि मेरी आँख खुल गयी। देखा सूर्यकी किरणें फूट रही थीं। पत्नी मेरी हँसीपर चकित थी और मैं भी कुछ हक्का-बक्का-सा लग रहा था। स्वप्नपर विश्वास हो भी रहा था और नहीं भी। ईश्वर और तर्कमें होड़ थी; परंतु हाँ, मुझे अपने हृदयमें एक अद्भुत शान्तिका अनुभव हो रहा था।

अब चैन किसे थी। सोचता था जल्दीसे दस बजें और मैं कचहरी पहुँचूँ। दस बजे और मैं कचहरी भागा। एक-एक मिनट घंटेसे अधिक प्रतीत हो रहा था। जैसे-तैसे कचहरी पहुँचा और वही बस्ता देखा। मेरे आश्चर्यकी थाह न रही, जब मैंने देखा कि मिसल ठीक उसी स्थानपर रक्खी थी, जहाँ मैंने पिछली रात स्वप्नमें उसे देखा था। मेरी आँखोंमें अश्रु थे—हर्षके, और अब भी मैं हक्का-बक्का था

कामके पत्र

(१)

पुत्रशोकमें धैर्य

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका करुणापूर्ण पत्र मिला। आपके सुशील और आज्ञाकारी पुत्रकी दुर्घटनाके निमित्तसे मृत्यु हो गयी, यह पढ़कर बड़ा दुःख हुआ। सुयोग्य सुपुत्रकी दुर्मृत्युसे माता-पिताको मार्मिक पीड़ा होना स्वाभाविक ही है। आपका यह कष्ट वास्तवमें अवर्णनीय है। मेरी आपके इस दुःखमें हार्दिक सहानुभूति है। श्रीभगवान् आप दोनोंको धैर्य तथा आपके सुपुत्रको सद्गति और शान्ति दें। यही संसारका रूप है। यहाँ संयोग-वियोगका चक्र अनवरत चलता रहता है। जो मिला है, उसका बिछुड़ना अवश्यम्भावी है। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि तथा भाँति-भाँतिके दुःख-ताप—यही इस संसारकी देन है। मनुष्यको चाहिये कि वह संसारकी प्रत्येक वस्तुको परमात्माकी धरोहर समझकर उसमें ममता तथा आसक्ति न करे। वह पुत्र जिसकी चीज थी, जिसने सार-सँभालके लिये आपको दी थी, उसीने अपनी चीज ले ली। मालिककी चीज; मालिक अपने इच्छानुसार उसे चाहे जब चाहे जहाँ भिजवा दे। इसी प्रकार यह शरीर, यह जीवन भी उसीने दिया है, उसीकी वस्तु है; इसे भी वह चाहे जब स्थानान्तरित कर सकता है, अपने पास बुला सकता है। धन-पुत्रादि पदार्थ भी उसके और हम-आप सभी उसके सेवक। वे इन दोनोंको चाहे जहाँ भेज सकते हैं, रख सकते हैं। इसमें दुखी होनेका वस्तुतः कोई उचित कारण नहीं है। वे भक्तवत्सल भगवान् ही जीवमात्रके एकमात्र सुहृद् एवं सम्बन्धी हैं। वे ही सबके अपने आत्मीय या सगे हैं। संसारके प्राणिपदार्थोंमें हमारा जो प्रेम है, उसे वहाँसे हटाकर भगवान्‌में ही लगाना चाहिये। भगवान् जबतक इस लोकमें रक्खें, उनका सतत चिन्तन करते हुए उनकी प्रसन्नताके लिये, उनकी सेवा समझकर सब काम करने चाहिये और सदा उनके आज्ञानुसार स्थानान्तरमें जाने या उनके समीप जानेके लिये तैयार रहना चाहिये। हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं, हम मरकर भी उन्हींके पास जायँगे, जीते-जी भी उन्हींके होकर रहेंगे।

आपका पुत्र अपने सद्गुणोंके कारण भगवान्‌का प्रिय

ही रहा है और अब भी भगवान् उसपर प्रेम करते रहेंगे, सहज सुहृदता उनका स्वभाव है। आपको चाहिये उसकी सद्गतिके लिये भगवन्नामजप, विष्णुसहस्रनामका तथा गीताका पाठ करें तथा गयाश्राद्ध करवा दें। सर्वोत्तम तो है उसको अपने मनसे सहर्ष भगवान्के अर्पण करके 'उसको भगवान् अपना पार्षद बना लें'—यह भगवान्से प्रार्थना करें। बार-बार विनय करें।

आपके एक लड़की है, उसीको लड़का समझें। इस लड़कीसे जो लड़का होगा, वह आपके लिये श्राद्धादिका अधिकारी होगा। कन्याके रहते हुए आप यह न समझें कि मेरे कोई पुत्र या संतान नहीं है। पुत्र और कन्यामें क्या भेद है? असलमें तो आप तथा आपका सब कुछ भगवान्के ही हैं। आपको भगवान्के भजनमें मन लगाना चाहिये। जीवनका कोई ठिकाना नहीं। पता नहीं, कब मृत्यु आ जाय, पर वह चाहे जब आवे, आप उसको भगवच्चिन्तन करते हुए ही मिलिये। आपकी शेष आयुका एक क्षण भी भगवान्की स्मृतिके बिना न जाय, फिर निश्चय ही आपको भगवान्की ही प्राप्ति होगी। भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(गीता ८। ७)

'अतएव तुम सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध करो। इस प्रकार मुझमें मन-बुद्धिको अर्पण करके तुम निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होओगे।'

शेष भगवत्कृपा।

(२)

बंदरोंपर क्रूरता और गाँधीजी

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। बंदर फसलको नुकसान पहुँचाते हैं—यह सत्य है; परंतु जीवित रहनेका हक जितना मनुष्यको है, उतना ही बंदर तथा दूसरे जानवरोंको भी है। वर्तमान कालमें मनुष्य इतना स्वार्थी हो गया है कि वह अपने लाभके लिये किसी भी जीवकी हत्या करनेमें जरा भी संकोच नहीं करता। मनुष्य अपनी सुख-सुविधाके लिये नये-नये अनुसंधान करता है और उसमें बेचारे प्राणियोंकी बुरी तरहसे हत्या की जाती है। भारतसे बंदरोंका कितना निर्यात होता है, इस सम्बन्धमें गोहत्या-निरोध-समितिके मन्त्री लाला हरदेवसहायजीने लिखा था कि भारत सरकारकी विदेशी व्यापार-रिपोर्ट मार्च १९५५ के अनुसार १९५२-५३ तक बंदरोंका निर्यात नहीं हुआ। विगत दो वर्षोंमें यह निर्यात शुरू हुआ और बढ़ा है। दो वर्षोंके अङ्क इस प्रकार हैं—

साल	बंदरोंकी निर्यात-संख्या	मूल्य
१९५३-५४	१६२८१	२९७३०३)
१९५४-५५	९११६१	१८१८३४१)

इन अङ्कोंके अनुसार सन् १९५३-५४ की अपेक्षा गत वर्ष पाँचगुना अधिक संख्यामें बंदरोंका निर्यात हुआ। ये सब बंदर नवीन अनुसंधान एवं दवा आदिके लिये प्रायः अमेरिका भेजे गये हैं। इन बेचारे बंदरोंकी बड़ी निर्ममताके साथ हत्या की जाती है। यह मनुष्यका एक बड़ा पाप और कलङ्क है।

आपने लिखा कि 'भारतके शासनमें अहिंसाकी दुहाई दी जाती है तथा अपनेको महात्मा गाँधीका अनुयायी बतलाया जाता है। तो क्या यह हिंसा नहीं है? क्या बंदरोंपर इस प्रकारका अत्याचार करना महात्मा गाँधीजीको स्वीकार था।' इसके उत्तरमें निवेदन है कि हमारे मतसे यह अवश्य हिंसा है और खोजते-खोजते इस सम्बन्धमें महात्माजीका निम्नलिखित स्पष्ट मत दर्शनमें छपा मिल गया है। वे लिखते हैं—

'विविसेक्शन (Vivisection) अर्थात् जीवित प्राणियोंके अवयवोंको काट-काटकर किया जानेवाला अनुसंधान-प्रयोग, मेरी रायमें, इस समय मनुष्य जो

ईश्वर और उसकी सुन्दर सृष्टिके प्रति भीषण पाप कर रहा है, उनमें एक भीषणतम पाप है। सुख-दुःखकी संज्ञावाले प्राणियोंके प्राणोंको तड़पानेवाली यन्त्रणा यदि हमारे जीवनका मूल्य हो तो ऐसे जीवनसे हमें इन्कार कर देना चाहिये।' *

महात्माजी इससे अधिक और क्या लिखते। वे ऐसे अत्याचारपूर्ण प्रयोगोंके मूल्यपर जीवन-धारणतक करना नहीं चाहते। यह तो मनुष्यका महान् पतन है, जो वह अपने जीवनके मिथ्या मोहमें ईश्वरकी सृष्टिके निर्दोष जीवोंकी हत्या करने और उनपर निर्दय अत्याचार करनेमें नहीं हिचकता। भगवान् सबको सुबुद्धि दें, जिससे यह पाप बंद हो।

शेष भगवत्कृपा।

(३)

गोपीहृदयमें प्रेम-समुद्र

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। 'कल्याण'में श्रीगोपाङ्गनाओंके सम्बन्धमें बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। वास्तवमें ये गोपरमणियाँ प्रेम-जगत्‌की तो परम आदर्श हैं ही। नारी-जगत्‌में भी इनकी कहीं तुलना नहीं है। विश्व तो क्या भगवत्-राज्यमें भी किसी भी नारीके चरित्रमें नारी-जीवनकी महिमामयी सेवाकी ऐसी आदर्श मनोहर सहज मूर्तिका विकास नहीं हुआ। सावित्री, अरुन्धती, लोपामुद्रा, उमा, रमा—किसीकी उपमा श्रीगोपाङ्गनाओंके साथ नहीं दी जा सकती। आत्मसुख-लालसाकी गन्धसे रहित होकर केवल अपने प्रियतम श्रीकृष्णको सुखी करनेके लिये ही जीवन धारण करना, लोक-परलोक, भोग-मोक्ष सब कुछ भूलकर प्रियतम-की रुचिके अनुसार अपने जीवनकी क्षण-क्षणकी समस्त क्रियाओंका सहज सम्पादन करना ही गोपी-प्रेम है।

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, उनमें किसी भी वासना-कामनाका अलग अस्तित्व नहीं है, पर वे परम प्रेमास्पद भगवान् श्रीगोपाङ्गनाओंके प्रेम-सुखका आस्वादन करने-करानेके लिये अपने भगवत्स्वरूप मनमें नित्य नयी-नयी विचित्र वासनाओंका उदय करते हैं और भगवान्‌की उन प्रतिक्षण उदय होनेवाली नित्य नवीन वासनाओंके अनु-कूल अपनेको निर्माण करके भगवान्‌को सुख पहुँचाना केवल श्रीगोपाङ्गनाओंके ही शक्ति-सामर्थ्यसे सम्भव है, बस, प्रियतमकी रुचिको—चाहको पूर्ण करना ही जिनके जीवनका स्वरूप है, जिनकी प्रत्येक स्फुरणामें, प्रत्येक संकल्पमें, प्रत्येक चेष्टामें, प्रत्येक शब्दमें और प्रत्येक क्रियामें केवल प्रेमास्पद श्रीकृष्णकी दिव्य प्रेमजनित वासना-पूर्तिका ही सहज सफल प्रयास है। उन श्रीगोपाङ्गनाओंकी तुलना कहीं, किसीसे भी नहीं हो सकती।

श्रीगोपाङ्गनाओंमें मधुर भावकी पूर्ण अभिव्यक्ति है। इस मधुर भावसे ही मधुर रसका प्राकट्य होता है। एक महात्माने बताया है कि यह मधुर रस तीन प्रकारका होता है। तीनों ही अत्यन्त मूल्यवान् हैं, पर एककी अपेक्षा दूसरा अधिक उत्कृष्ट और मूल्यवान् है। जैसे साधारण मणि, चिन्तामणि और कौस्तुभ मणि। साधारण मणिका जैसा साधारण मूल्य होता है, वैसे ही श्रीकृष्णके प्रति कुब्जाकी प्रीतिका मूल्य साधारण है। श्रीकृष्ण-सम्पर्कसे महाभागा होने-पर भी उसमें श्रीकृष्णकी सेवा करके केवल अपने ही सुखका संधान था। इसीसे उसे 'दुर्भगा' कहा गया। चिन्ता-मणि जहाँ-तहाँ सहजमें नहीं मिलती। उसका मूल्य भी बहुत अधिक है। सब लोग उतना मूल्य दे ही नहीं सकते; ऐसे ही श्रीकृष्णकी पटरानियोंकी दिव्य प्रीति है। श्रीकृष्णका भी सुख और अपना भी सुख—उनमें इस प्रकारका उभय सुखी भाव बना रहता है, इसलिये उनकी इस रतिका नाम समञ्जसा है। श्रीगोपाङ्गनाका प्रेम

* 'Vivisection, in my opinion, is the blackest of all black crimes that man is at present committing against God and his fair creation. We should be able to refuse to live, if the price of living be the torture of sentient beings'.
—Mahatma Gandhi

साक्षात् कौस्तुभ मणिके सदृश है । चिन्तामणि तो दस-बीस भी मिल सकती है, पर कौस्तुभ मणि तो एक ही है और वह केवल श्रीभगवान्के कण्ठकी ही भूषण है, वह दूसरी जगह कहीं भी नहीं मिलती । इसी प्रकार श्रीगोपाङ्गनाकी प्रीति भी श्रीकृष्णकी मधुर लीलास्थली व्रजके सिवा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती । ऐसा प्रेम श्रीगोपाङ्गना ही जानती है, कर सकती है । और यह प्रेम, इस प्रेमके एकमात्र पात्र श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मुरलीमनोहर गोपीवल्लभ श्रीकृष्णके प्रति ही हो सकता है । इस दिव्य प्रेम-सुधारसका अनन्त अगाध समुद्र नित्य-नित्य लहराता रहता है—गोपीहृदयमें । इसीसे वह अनुपमेय, अतुलनीय और अप्रमेय है ।

शेष भगवत्कृपा ।

(४)

भगवान्की नासमझी नहीं, उनकी उदारता और करुणा

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपके प्रश्नोंका संक्षिप्त उत्तर इस प्रकार है—

(१) अजामिल जातिके ब्राह्मण थे । सदाचारी थे । परंतु एक शूद्रजातीय कुलटा स्त्रीमें आसक्त होकर उसीके साथ रहने लगे । उन्होंने अपने छोटे पुत्रका नाम नारायण रक्खा था । मृत्युके समय यमदूतोंके भयसे उन्होंने अपने पुत्रको ही 'नारायण' 'नारायण' कहकर पुकारा था । परंतु किसी भी निमित्तसे यदि भगवान्का नाम जीवनके अन्तिम श्वासमें मुखसे निकल जाय तो भगवान् उसका निश्चय कल्याण करते हैं । नामके इस सहज गुणका और अपने विरदका निबाह करनेके लिये भगवान्ने 'नारायण' नामका उच्चारण होते ही अपने दूत उनके पास भेज दिये और उन्होंने यमदूतोंके हाथसे अजामिलको बचा लिया । इसको भगवान्की नासमझी बतलाना अपनी 'नासमझी'का परिचय देना है । इसमें तो आपको वस्तुतः भगवान्के स्वभावकी सहज उदारता और अकारण करुणाके दर्शन होने चाहिये ।

(२) गीताका पाठ तथा उत्तम ग्रन्थोंका स्वाध्याय करनेवाला भी यदि क्रोध न छोड़ सके, तो यह उसकी दुर्बलता ही है । क्रोध-त्यागका उपाय है—निज दोष-दर्शन और सर्वत्र भगवद्दर्शन । प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक जीव श्रीभगवान्का स्वरूप है, ऐसा समझने-देखनेसे विरोधभाव शान्त हो जाता है ।

(३) श्रीहनुमान्जीने जब मशक-समान रूप धारण किया, तब अँगूठी कहाँ रही ? वास्तवमें श्रीहनुमान्-जीका महत्त्व न जाननेसे ही मनमें इस प्रकारकी कुशङ्का उत्पन्न होती है । जो श्रीहनुमान्जी अपने पर्वताकार शरीरको मच्छरके समान अत्यन्त छोटा बना सकते हैं, वे उस अँगूठीको भी इतनी छोटी बना सकते हैं कि मच्छर होनेपर भी लिये रह सकें । इतनी साधारण-सी बात तो समझमें आ ही जानी चाहिये ।

(४) स्त्री-जातिको 'अबला' उनका तिरस्कार करनेके लिये नहीं कहा गया है । वह प्रेममयी पत्नी है और स्नेहमयी माँ है । अपने पति-पुत्रोंके सामने कभी बलका प्रदर्शन नहीं करती । निरन्तर उनकी मङ्गलकामना करती हुई प्रेममयी और स्नेहमयी बनी रहती है । विश्व-विध्वंसकारी क्रोधमें भरे अमित बलवीर्य-सम्पन्न भगवान् नृसिंह शिशु प्रह्लादके सामने आते ही सारे बलको भूलकर तथा क्रोधरहित होकर उसे गोदमें ले लिये और चाटने लगे । रणरङ्गिणी दुष्टदलनकारिणी भगवती दुर्गा अपने स्वामी शङ्करके सामने सदा विनम्र रहकर अबला-सी बनी रहती हैं । इसमें बलका अभाव नहीं है, बलके प्रदर्शनका अभाव है ।

शेष भगवत्कृपा

(५)

सद्गुरुका महत्त्व

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपा-पत्र मिला । आपका लिखना सर्वथा सत्य है । अज्ञानान्धकारसे हटाकर भगवत्स्वरूपके पुण्यप्रकाशमें पहुँचा देनेवाले गुरुका महत्त्व भगवान्‌से भी अधिक माना जाता है । पता नहीं, सद्गुरुकी कृपासे कितने प्राणी दुराचारका त्याग करके नरकानलसे बच गये हैं और बच रहे हैं । गुरु भगवत्स्वरूप ही हैं । ऐसे सद्गुरु बड़े ही पुण्यबल और भगवान्‌की कृपासे प्राप्त होते हैं । सद्गुरुके चरणोंमें बार-बार नमस्कार ।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

'गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही महान् ईश्वर महादेव हैं, गुरु ही साक्षात् परब्रह्म हैं, उन गुरुके चरणोंमें नमस्कार । ज्ञानाञ्जनकी सलाईसे अज्ञानतमसे अंधेकी आँखोंको खोल देनेवाले गुरुके चरणोंमें नमस्कार ।' गुरुकी महिमा अवर्णनीय है । जगत्‌के समस्त विकारोंका नाश करनेके लिये ऐसे सद्गुरु ही संजीवन-सुधा हैं । घोर पाप-तापके प्रचण्ड प्रवाहमें बहते हुए प्राणीकी रक्षाके लिये स्वयं गुरुदेव ही सुदृढ़ जहाज और वे ही उसके कर्णधार हैं । इसलिये गुरुका विरोध करना साधारण पाप ही नहीं, सीधा नरकको निमन्त्रण है । पर वस्तुतः यह महिमा शिष्यके अज्ञान एवं पाप-तापादिका हरण करनेवाले सद्गुरुकी ही है, कामिनी-काञ्चनके लोभी बाजारी गुरुओंकी नहीं । गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

गुरु सिष बधिर अंध कर लेखा । एक न सुनइ एक नहिं देखा ॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई । सो गुर घोर नरक महुँ परई ॥

आजकल चारों ओर गुरुओंकी भरमार है, कौन सद्गुरु हैं, कौन नकली हैं—इसका पता लगना सहज नहीं है । इस स्थितिमें किसी अंधेके हाथमें लकड़ी पकड़ा देनेवाले अंधेकी जो दुर्दशा होती है, वही इन गुरु-शिष्योंकी होती है । अतएव वर्तमान समयमें गुरुकरण बहुत ही जोखिमकी चीज है । भगवान् सहज जगद्गुरु हैं, उन्हींका आश्रय ग्रहण करना चाहिये ।

आज जिस प्रकारका दम्भ-छल-कपट चल रहा है, चारों ओर जो अधःपतनकी धूम मची है, इसमें किसीको गुरु स्वीकार करके उसे अपना सर्वस्व मानना, उसकी एक-एक बातको ईश्वर-वाक्य मानकर स्वीकार करना और उसे तन-मन-धन सौंप देना बुद्धिमानीका काम नहीं है । इसमें बहुत अधिक धोखेकी सम्भावना है । खास करके, स्त्रियोंको तो इससे अवश्य ही बचना चाहिये ।

राम ज्यों राखै त्यों रहिये ।
जो प्रभु करै भलो कर मानो, मुख तें बुरो न कहिये ।
हरि होनी अनहोनी कर दे, सो सब सिर पर सहिये ॥
करै कृपा हरि नाम जपावै, सो अंतर लै गहिये ।
'मेहरदास' हरि-हुकुम मानिये, यह सेवक कों चहिये ॥

—भक्त मेहरदासजी

माघमासमें भगवान्‌की विशेष सपर्या

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

इस दुस्तर अगाध भयानक भवसागरमें भगवान्‌के चरण ही एकमात्र दृढ़ पोत हैं। जहाँ उनकी विस्मृति हुई फिर तो इस भारी भवसागरका पारावार कुछ भी नहीं सूझता। अतः जिस किसी भी उपायसे हो सके, मन-मिलिन्दको प्रभुके चरणोंमें ही बनाये रखना चाहिये। थोड़ी भी व्याकुलता तथा तन्मयतासे उनका स्मरण किये जानेपर इस दुस्तर भवसागरका संतरण सुकर हो जाता है, यह गोवत्सपदवत् हो जाता है और इसकी विभीषिका तुरंत समाप्त हो जाती है।

यों तो भगवान्‌की आराधना सदा, सर्वत्र, सर्वाभीष्टप्रद कही जाती है—

सर्वान् कामानवाप्नोति समाराध्य जगद्गुरुम्।
तन्मयत्वेन गोविन्दमित्येतद् दाल्भ्य नान्यथा॥
(विष्णुधर्म०)

हरेराराधनं पुंसां किं किं न कुरुते बत।
पुत्रमित्रकलत्रादि राज्यं स्वर्गापवर्गदम्॥
(स्कन्द० काशी० २१। ५३)

आराध्य विधिवद् देवं हरिं सर्वसुखप्रदम्।
प्राप्नोति पुरुषः सम्यक् यद् यत् प्रार्थयते फलम्॥
(गरुड० पूर्व० २२६। ४९)

मनीषितं च प्राप्नोति चिन्तयन् मधुसूदनम्।
एकान्तभक्तिः सततं नारायणपरायणः॥
(महा० शां० ३४८, ७१)

यद् दुर्लभं यदप्राप्यं मनसो यन्न गोचरम्।
तदप्यप्रार्थितं ध्यातो ददाति मधुसूदनः॥
(गरुड० २२२। १२)

तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि।
(श्रीमद्भा० ८। १२। ४७)

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।
तां विना सर्वमाप्नोति यदि नारायणाश्रयः॥
(लिङ्गपुराण)

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(श्रीमद्भा० १। २। १२; गरुड० पूर्व० ५१। १९; आनं० रा० मनो० कां० ९। ६८; पद्मपु० स्वर्ग० ५७। ४२)

यद्भ्रूवर्तनवर्तिन्यो सिद्धयोऽष्टौ नृपात्मज।
तमाराध्य हृषीकेशमपवर्गोऽप्यदूरतः॥
(स्कन्द० काशी० १९। ११५)

नितान्तं कमलाकान्ते शान्तचित्तं विधाय यः।
संशीलयेत् क्षणं नूनं कमला तत्र निश्चला॥
(काशीखण्ड)

सम्यगाराधितो विष्णुः किं न यच्छति देहिनाम्।
(आनन्दरामा०)

भागवतकारके शब्दोंमें तो अपने शरीर, पुत्रादिकोंके लिये किया गया सारा कर्मजाल व्यर्थ ही हो जाता है; किंतु वे ही मन, वचन, प्राण, शरीर आदिसे किये गये कर्म यदि भगवान्‌के लिये किये जायँ तो सर्वथा सत्-सफल हो जाते हैं—जैसे वृक्षके मूलका सेचन।

यद् युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-
र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।
तैरेव सद् भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्
सर्वस्य तद् भवति मूलनिषेचनं यत्॥
(८। ९। २९)

जिस प्रकार वृक्षके मूल निषेचन (जड़ पटाने) से उसकी शाखा, टहनी, स्कन्ध, पत्र, पुष्प, फल सब निषेचित—तृप्त हो जाते हैं अथवा मुखमें भोजन करनेसे सारी इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं, उसी प्रकार अच्युतकी अर्हणा—इज्या-पूजासे सारे संसारके जीवोंकी, सारे विश्वकी, पूजा हो जाती है।

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥
(४। ३१। १४)

यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि॥
(८। ५। ४९)

एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय।
रहिमन मूल ही सींचिये फूलै फलै अघाय॥

पद्मपुराणमें भगवान् शङ्करका वचन है कि जगदीश्वर भगवान् विष्णुके पूजित होनेपर सम्पूर्ण देवताओंकी पूजा हो जाती है।

नृसिंहपुराणका कहना है कि पुरुषसूक्तमन्त्रसे भगवान्‌पर कोई एक फूल अथवा जल ही क्यों न डाल दे, उसने त्रिलोकीकी पूजा कर ली[1]।

पद्मपुराणमें कालभेदसे पूजाभेदका वर्णन करते हुए भगवान् शङ्करने कहा है कि देवदेवेश्वर श्रीविष्णुके पूजित हो जानेपर सम्पूर्ण देवताओंकी पूजा सम्पन्न हो जाती है। भगवान् केशवका चैत्र मासमें प्रयत्नपूर्वक चम्पा और चमेलीसे पूजन

---

१. दद्यात् पुरुषसूक्तेन यः पुष्पाण्यप एव वा।
अर्चितं स्याज्जगत्सर्वं तेन वै सचराचरम्॥
(नृसिंहपुराण ६३। ९)

करना चाहिये। चैत्रमें कमलपुष्प, कोई लाल रंगका पुष्प, दौना, कटसरैया और वरुणवृक्षके पुष्पोंसे भी पूजा करनी चाहिये। वैशाख मासमें केतकी (केवड़ा) के पत्तेसे महाप्रभु श्रीविष्णुका पूजन करना चाहिये। जिन्होंने भक्तिपूर्वक भगवान्का पूजन कर लिया उनके ऊपर श्रीहरि संतुष्ट रहते हैं। ज्येष्ठ मास आनेपर नाना प्रकारके फूलोंसे भगवान्की पूजा करनी चाहिये। आषाढ़ मासमें कनेरके फूल, लाल फूल अथवा कमलपुष्पोंसे भगवान्की पूजा करनी चाहिये। कदम्ब-पुष्पसे पूजित होनेपर भगवान् अत्यधिक प्रसन्न होते हैं। घनागमके समय जो घनश्याम-को कदम्बपुष्पोंसे पूजित करता है, भगवान् प्रलयपर्यन्त (एक-एक कर १४ इन्द्रोंके पर्यवसानतक) उसकी कामनाओंको पूरी करते रहते हैं। भगवान्को जितनी पद्मालया लक्ष्मीको प्राप्तकर प्रसन्नता होती है, उतनी ही कदम्बपुष्पको पाकर प्रसन्नता होती है। तुलसी, श्यामा तुलसी तथा अशोकके द्वारा तो भगवान्की नित्य पूजा करनी चाहिये। जो लोग श्रावण मास आनेपर अलसीका फूल लेकर अथवा दूर्वादलसे भगवान् जनार्दनकी पूजा करते हैं, उन्हें भगवान् प्रलयकालतक मनोवाञ्छित भोग प्रदान करते हैं। भादोंके महीनेमें चम्पा, श्वेत पुष्प, रक्तसिन्दूरक तथा कह्लारके पुष्पोंसे पूजन करके मनुष्य सभी कामनाओंको प्राप्त करता है। आश्विन मासमें जूही, चमेली तथा नाना प्रकारके शुभ पुष्पोंद्वारा प्रभुकी पूजा करनी चाहिये। कमलपुष्पसे आश्विनमें भगवान्की पूजा करनेवालोंको चारों पुरुषार्थ सुलभ हो जाते हैं। कार्तिक मासमें भी यथासुलभ सभी पुष्प भगवान्को अर्पण करने चाहिये। तिल और तिलके फूल भी चढ़ाना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्य अक्षय फलका भागी होता है। जो कार्तिकमें छितवन, मौलसिरी और चम्पाके फूलोंसे श्रीजनार्दनकी पूजा करते हैं वे मनुष्य नहीं देवता हैं। मार्गशीर्षमें नाना प्रकारके पुष्पों, नैवेद्यों, धूपों तथा आरती आदिके द्वारा भगवान्की पूजा करे। पौष मासमें नाना प्रकारके तुलसीदल तथा कस्तूरीमिश्रित जलके द्वारा पूजन करना कल्याणदायक माना गया है। माघ मास आनेपर नाना प्रकारके फूलोंसे भगवान्की पूजा करे। उस समय कपूरसे तथा विविध उपचारों एवं नैवेद्योंसे भी भगवान्की पूजा होनी चाहिये। फाल्गुनमें नवीन पुष्पों अथवा सभी प्राप्त पुष्पोंसे भगवान्की पूजा होनी चाहिये।

(पद्म० उत्तरखण्ड ८९। १-२७)

तथापि भगवान् विष्णुके पूजनमें इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि शिरीष, धतूर, मदार, कनकचम्पा, सेमर तथा मोतियाके फूलों एवं अक्षत उनपर कभी न चढ़ाना चाहिये। (इसी प्रकार भगवान् शङ्करपर पलाश, कुन्द, शिरीष, जूही, मालती और केतकी कभी न चढ़ाना चाहिये। गणेशजीको तुलसी नहीं चढ़ती, दुर्गाकी पूजामें दूबका उपयोग नहीं होता। सूर्यकी पूजा अगस्तके फूलोंसे नहीं की जाती। भगवान् विष्णुपर पलाशका फूल भी नहीं चढ़ाते[1]।)

माघमें विशेष

परदेश, कालके योगसे सत्क्रियाओंका प्रभाव बढ़ जाता है। माघ मासके सम्बन्धमें कहा गया है कि स्नान-ध्यान तथा भगवान्की आराधनाके लिये यह सर्वोत्तम महीना है। जैसे मन्त्रोंमें ओंकार है, छन्दोंमें गायत्री है, पक्षियोंमें गरुड़ श्रेष्ठ हैं, वैष्णवोंमें भगवान् शङ्कर श्रेष्ठ हैं, ऋतुओंमें वसन्त ऋतु श्रेष्ठ है वैसे ही महीनोंमें यह माघ मास उत्तम है। नदियोंमें जैसे गङ्गा उत्तम हैं, देवताओंमें भगवान् श्रीहरि श्रेष्ठ हैं, वृक्षोंमें पीपल श्रेष्ठ है, पशुओंमें गौ श्रेष्ठ है, वैसे ही मासोंमें यह माघ मास है। अन्य मासोंसे कार्तिक हजारगुना फल देनेवाला कहा गया है और माघ कार्तिकसे लाखगुना फल देनेवाला कहा गया है, यह साक्षात् भगवान् नारायणका निर्णय है—

कार्तिकं सर्वमासेभ्यः सहस्रफलदं विदुः।
तस्मात् कोटिगुणो माघ इति प्राह जनार्दनः॥

(वायुपुराणका माघ-माहात्म्य, अध्याय १। २२-२३)

अतः माघमें किसी पवित्र नदी या जलाशय आदिमें स्नान कर विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिये।

यों तो पूजाके ६४ उपचार भी होते हैं पर इतना न हो सके तो कम-से-कम १६ उपचार तो होना ही चाहिये। माघ-मासके पूजनके सम्बन्धमें कहा गया है कि विधिपूर्वक स्नानादिसे निवृत्त होकर क्लेशहारी केशवका श्रद्धापूर्वक तन्मय होकर पूजन करे। माघमें जो एक फूलसे भी भगवान्की पूजा करता है, वह करोड़ों कुलके साथ विष्णुमन्दिरमें आनन्द करता

१. शिरीषोन्मत्तगिरिजामल्लिकाशाल्मलीभवैः ।
अर्कजैः कर्णिकारैश्च विष्णुर्नार्च्यस्तथाक्षतैः॥
जपाकुन्दशिरीषैश्च यूथिकामालतीभवैः।
केतकीभवपुष्पैश्च नैवार्च्यः शंकरस्तथा॥
गणेशं तुलसीपत्रैर्दुर्गां नैव तु दुर्गया।
मुनिपुष्पैस्तथा सूर्यं लक्ष्मीकामो न चार्चयेत्॥
(पद्म० उत्तर० ९४। २६—२८

है[२]। अतएव पहले पुष्प लेकर भगवान्‌का ध्यान करे फिर पुरुषसूक्त तथा पौराणिक, तान्त्रिक मन्त्रोंसे उपचारोंको निवेदित करता जाय। सम्भव हो तो कर्माङ्ग दीप तथा सुगन्धित पूजाके आरम्भमें ही प्रज्वलित किया जा सकता है। फिर ताली बजाकर या शङ्खध्वनिसे भगवान्‌को जगाना चाहिये। तत्पश्चात् अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय निवेदन कर स्नान कराना चाहिये। पञ्चामृतसे स्नान करानेका बड़ा महत्त्व है। पञ्चामृतमें दूध, दही, घी, मधु और शक्कर रहते हैं। पञ्चामृत स्नान तथा प्रत्येक उपचारके अन्तमें आचमनीय जल देनेकी भी पद्धति है। पञ्चामृत स्नानोंके साथ तो प्रति बार शुद्धोदक स्नान भी चलता है। स्नान कराते समय ताम्रपात्रमें तुलसीदल आदिपर विराजमान कराकर शंखमें जल लेकर चन्दन-पुष्प-मिश्रित जलसे पुरुषसूक्तके मन्त्रोंको पढ़ते हुए घण्टा बजाकर स्नान कराना चाहिये। साथमें 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति' तथा 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे' आदि मन्त्र भी पढ़ने चाहिये। शालग्राम शिला, ताम्रपात्र, जल, शङ्ख, पुरुषसूक्त, चन्दन, घण्टानाद तथा तुलसी—इन आठ वस्तुओंके सहारे चरणामृत-तीर्थ बनता है। स्नानोपरान्त, वस्त्र तथा यज्ञोपवीत अर्पण करना चाहिये। तदनन्तर तुलसी-मिश्रित चन्दन, अगरु, कर्पूर, कस्तूरी, रोचनामिश्रित गन्ध चढ़ाना चाहिये। माघमासमें ऐसा करनेवाला व्यक्ति दस पूर्वके पुरुषों तथा दस पीछे उत्पन्न होनेवाले अपने वंशजोंके साथ विष्णुलोकमें कई पद्म कल्पोंतक वैकुण्ठमें आनन्द प्राप्त करता है।

श्रीखण्डचन्दनोन्मिश्रं कृष्णागुरुसमन्वितम्।
तुलसीचन्दनोन्मिश्रं यो गन्धं विष्णवेऽर्पयेत्॥
कल्पकोटिसहस्राणि कल्पकोटिशतानि च।
वैकुण्ठे मोदते नित्यं दशपूर्वैः दशापरैः॥

(वा० मा० मा० २। ६८। ६९)

स्त्री-शूद्रादिकोंको ब्राह्मणसे भगवान्‌की पूजा करानी चाहिये। ऐसा करनेसे उन्हें भी श्रेष्ठ फलकी प्राप्ति होती है—

'ब्राह्मणैः कारयेत् पूजां स्त्रीशूद्रादि द्विजोत्तम।'

(मा० मा० २। ६२)

माघ महीनेमें जो १०० तुलसी-पत्रोंसे भगवान्‌की पूजा करता है, उसका पुण्य वर्णन करना कठिन है। इसी प्रकार कमलपुष्पसे भी भगवान्‌की पूजा करनेवालेके घर कमला (लक्ष्मी) का वास होना कहा गया है। पर बिना पुष्पके माघ मासकी पूजा हानिकर होती है। ऐसा करनेवाला अपने पुण्यसे हाथ धोता है—

अपुष्पं पूजयेद् यस्तु माधवं माधवल्लभम्।
कुलनाशो भवेत् तस्य पुण्यं चापि विनश्यति॥

(मा० २। ६०)

माघ मासमें अगस्तके फूलसे पूजा करनेसे भगवान् विष्णुकी १०० वर्ष पूजा करनेका फल प्राप्त हो जाता है।*

कमलसे पूजित होनेपर भगवान् बत्तीस प्रसिद्ध अपराधोंको क्षमा कर देते हैं और तुलसीसे पूजित होनेपर तो हजारों अपराधोंको क्षमा कर डालते हैं—

अर्चितस्तुलसीपत्रैर्माधवो भक्तवत्सलः।
अपराधसहस्राणि क्षमते नात्र संशयः॥

(मा० मा० २। ७५)

पर तुलसीहीन पूजा कभी न करनी चाहिये। ऐसा करनेवाला मानो अपने कुलको रुधिरोदकमें गिराता है[१]। इसी प्रकार चन्दन और धूपके बिना भी की गयी पूजा नरकप्रद होती है। माघमासमें धूप देनेवालेको मोक्ष कहा गया है—

दशाङ्गं गुग्गुलं धूपं योऽर्पयति विष्णवे।
न तस्य संततेर्हानिर्न पापी जायते कुले॥
स्वयं मोक्षमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा।

(मा० मा० २। ८३)

---

१. पुष्पेणैकेन माघे तु माधवं पूजयेद् यदि।
कुलकोटिसमायुक्तो मोदते विष्णुमन्दिरे॥
(वायु० माघ० मा० २। ६१)

२. पुरुषसूक्तके १६ मन्त्र शु० यजुर्वेदमें (३१। १—१६) तक हैं।

* तुलसी—'विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा' इस मन्त्रसे चढ़ाना चाहिये।

माधवं मुनिपुष्पैस्तु यः पूजयति मानवः।
तेन वर्षशतं विष्णुः पूजितः स्यान्न संशयः॥
(मा० मा० ४। ४६)

१. यः पूजां तुलसीहीनां माघे मकरगे रवौ।
कुर्याद यदि विमूढात्मा हृदये शल्यमर्पितम्॥
कुलानि पातयेत् सत्यं नरके रुधिरोदके।
(मा० २। ६४)

स्नान, धूप, नैवेद्य तथा आर्तिक्यके समय घण्टानाद अवश्य करना चाहिये। ऐसा करनेवाला देवगणोंसे पूजित—प्रशंसित होकर विष्णुलोकको जाता है—

घण्टानादं तु यः कुर्यात्***

स्तूयमानो देवगणैर्विष्णुलोके महीयते। (८४)

माघमासमें भगवान्‌के सम्मुख दीपदान करनेवाला साक्षात् भगवान्‌का दर्शन पाता है।

दीपदानं तु यः कुर्यात्**********।**

***********साक्षात् पश्यति तं हरिम्॥**

(८६)

सुना जाता है कि पितृगण कहा करते हैं कि—'क्या हमारे खानदानमें कोई ऐसा भी व्यक्ति होगा जो माघमें भगवान्‌के सामने क्षणभर भी दीप जलायेगा। ऐसा होता तो हम तर जाते।

श्रूयते पितृगाथापि दीपदाने मुनीश्वर।

यः को वास्मत्कुले जातो माघे मासि हरेः पुनः॥

दद्याद् दीपं क्षणं वापि स नः संतारयिष्यति।

(८७-८८)

अधिक क्या, जो दीप जलानेके लिये तेल, घी, बाती या कपास भी श्रद्धापूर्वक अर्पण करते हैं वे स्त्री हों या पुरुष, उनके पाप नष्ट हो जाते हैं।

तत्पश्चात् विविध प्रकारके नैवेद्य अर्पण करने चाहिये। नैवेद्यसे माघमासमें भगवान्‌की पूजा करनेवाला प्राणी मोक्ष पाता है—

निवेदयति नैवेद्यं ब्रह्मभूयाय कल्पते। (९२)

साथ ही बिना नैवेद्यकी पूजा करनेवाला व्यक्ति कुम्भीपाकमें घोर नरकाग्निसे पीड़ित होता है।[1] अतः नैवेद्य लगाना न भूले।

तत्पश्चात् आचमन कराकर ताम्बूल देकर कर्पूर एवं पाँच या सौ या सहस्र वर्तियोंसे नीराजन (आर्तिक्य) करना चाहिये। माघमासमें ऐसा करनेवाला व्यक्ति करोड़ों बार सार्वभौम राजा होता है—

'कोटिवारं सार्वभौमः सर्वसम्पत्समावृतः' (१०९)

आरतीके समय सिरपर शंखोदक[2] धारण करना चाहिये। इससे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। फिर पूजाके अन्तमें स्तोत्र-पाठ तथा नमस्कार करना चाहिये। पूजा तन्मयतापूर्वक करनी चाहिये। पूजा करते समय जो सांसारिक वार्तालाप भी करता रहता है वह घोर नरकमें जाता है[3], जो स्तोत्र-विहीन पूजा करता है वह उन्मादी होता है, अतएव इनसे बचना चाहिये। फिर प्रदक्षिणा[4] करनी चाहिये। माघमें भगवान्‌की प्रदक्षिणा करनेवालेको पग-पगपर अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होना कहा गया है—

पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयः।

पूजाके अन्तमें साष्टाङ्ग प्रणाम करनेवालेको सहस्र अश्वमेध अनुष्ठानका फल होता है। अतएव साष्टाङ्ग प्रणाम करना चाहिये। अन्तमें निम्न श्लोकोंसे क्षमापन कराना चाहिये—

अज्ञानाद् वा प्रमादाद्वा वैकल्यात् साधनस्य च।

यन्न्यूनमतिरिक्तं वा तत् सर्वं क्षन्तुमर्हसि॥

द्रव्यहीनं क्रियाहीनं मन्त्रहीनं मयान्यथा।

कृतं यत् तत् क्षमस्वेश कृपया त्वं दयानिधे॥

यन्मया क्रियते कर्म जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।

तत्सर्वं तावकी पूजा भूयाद् भूत्यै च मे प्रभो॥

भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेवावलम्बनम्।

त्वयि जातापराधानां त्वमेव शरणं प्रभो॥

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम।

तस्मात् कारुण्यभावेन क्षमस्व परमेश्वर॥

अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया।

दासोऽयमिति मां मत्वा क्षमस्व जगतां पते॥

आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम्।

पूजां चैव न जानामि त्वं गतिः परमेश्वर॥

(नारदपुराण पूर्व० ६७। ११०—११७)

सम्भव हो तो इसी प्रकार तीनों काल पूजा करनी चाहिये।

---

१. विदधाति हरेः पूजां विना नैवेद्यमल्पधीः। कुम्भीपाके महाघोरे पच्यते नरकाग्निना॥ (मा० मा० २। ९१)

२. शङ्खमध्येस्थितं तोयं भ्रामितं केशवोपरि। अङ्गलग्नं मनुष्याणां ब्रह्महत्यां व्यपोहति॥ (मा० मा० ४। २१)

३. लोकवार्ता प्रसङ्गेन यः कुर्याद् देवतार्चनम्। तप्तायसि महाघोरे यमः पातयति स्वयम्॥ (९३)

४. भगवान् विष्णुकी प्रदक्षिणा चार बार, गणेशजीकी तीन बार, सूर्यकी सात बार तथा भगवान् शंकरकी आधी ही करनी चाहिये।

श्रीहरिः

विनीत प्रार्थना

'कल्याण' का प्रायः सारा सम्पादन-विभाग तीर्थ-यात्रा ट्रेनमें चला गया है। अतएव इस बीचमें पत्रव्यवहार बड़ी कठिनतासे हो सकेगा। अतः सबसे प्रार्थना है कि बहुत अधिक आवश्यकता होनेपर ही सम्पादकके नाम या सम्पादन-विभागको पत्र लिखें और उत्तर देरसे पहुँचे तो क्षमा करें। पहलेके भी बहुतसे सज्जनोंके पत्र आये रखे हैं, जिनका उत्तर नहीं दिया जा सका है। वे भी कृपापूर्वक क्षमा करें। यह मेरी करबद्ध प्रार्थना है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

गीताप्रेस तथा कल्याणके सभी प्रेमियोंसे निवेदन

गीताप्रेस-तीर्थयात्रा-स्पेशल ट्रेन

गीताप्रेस एक आध्यात्मिक संस्था है और यह सम्पूर्ण विश्वकी निधि है। इसका उद्देश्य है—विश्वमें सार्वभौम वैदिक संस्कृतिका प्रचार, उपलब्ध एवं अनुपलब्ध आध्यात्मिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक साहित्यको जनता तक अत्यन्त सुलभ मूल्यमें पहुँचाना, प्राचीन धार्मिक ग्रंथोंकी खोज, उनका प्रामाणिक-रूपमें मुद्रण तथा उनके द्वारा लोगोंमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, प्रेम, सहिष्णुता आदि-आदि सद्गुणों-का प्रसार, सत्संगके द्वारा सात्त्विक जीवनको प्रोत्साहन-दान, विविध रूपोंमें जनता-जनार्दनकी सेवा। इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर उक्त संस्थाकी ओरसे एक तीर्थयात्रा-स्पेशल ट्रेनका आयोजन किया गया है, जो २७ जनवरी, १९५६ शुक्रवारको काशीधामसे प्रस्थान कर चुकी है। तीन महीने तक तीर्थोंका भ्रमण करके वापस २६ अप्रैलको बनारस पहुँचनेका कार्यक्रम है। इसमें ६०० से अधिक यात्री हैं। किस तिथि-को किस स्थानपर पहुँचेगी, इसकी सूची नीचे दी जा रही है। जिन-जिन स्थानोंमें यह गाड़ी जा रही है, उन-उन स्थानोंके प्रेमी महानुभावोंसे निवेदन है कि वे यात्रियोंकी सुविधाके लिये ट्रेनके कार्यकर्ताओंको यथासाध्य सहायता दें, अपने यहाँके समाचारपत्रोंमें पहलेसे ही सूचना अवश्य छपवा दें और सत्संग-कीर्तन आदिका संक्षिप्त आयोजन भी करें। इस ट्रेनमें कल्याण-सम्पादक श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार तथा कल्याण-कल्पतरुके सम्पादक—श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री भी जा रहे हैं।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी तीर्थयात्रा-गाड़ी

संवत् २०१२ (सन् १९५६)

मार्ग-सूची तथा समय-सारिणी

स्थान	मास/पक्ष	तिथि/वार	तारीख
१—बनारस कैन्ट	पौष शुक्ल	१५ शुक्र	२७—१—५६
२—करवी (चित्रकूट)	माघ कृष्ण	१-२	२८-२९ जनवरी
३—इलाहाबाद (प्रयाग)	,,	३ सोम	३०—१—५६
४—अयोध्या	,,	४ मंगल	३१—१—५६
५—नैमिषारण्य	,,	५ बुध	१—२—५६
६—हरद्वार	माघ कृष्ण	६ गुरु	२—२—५६
७—कुरुक्षेत्र	,,	७ शुक्र	३—२—५६
८—मथुरा	,,	८-९-१०	४—५—६ फरवरी
छोटी लाइन बदलेगी			
९—उज्जैन	,,	११-१२	७—८ फरवरी

रजि० सं० ए० १७५

१०–इन्दौर माघ कृष्ण १३ गुरु ९–२–५६
११–ओंकारेश्वर ” १४ शुक्र १०–२–५६
१२–चित्तौड़गढ़ ” ३० शनि ११–२–५६
१३–उदयपुर माघ शुक्ल १ रवि १२–२–५६
१४–नाथद्वारा ” २ सोम १३–२–५६
१५–अजमेर ” ३ मंगल १४–२–५६
१६–सिद्धपुर ” ४ बुध १५–२–५६
१७–ओखापोर्ट (बेट द्वारका) ” ५ गुरु १६–२–५६
१८ द्वारका ” ६-७ १७-१८ फरवरी
१९–पोरबन्दर ” ८ रवि १९–२–५६
२०–वेरावल ” ९ सोम २०–२–५६
२१–जूनागढ़ (गिरनार) ” १०-११ २१-२२ फरवरी

बड़ी लाइन बदलेगी

२२–वीरमग्राम ” १२ गुरु २३–२–५६
२३–अहमदाबाद ” १३ शुक्र २४–२–५६
२४–डाकोर ” १४ शनि २५–२–५६
२५–बड़ौदा ” १५ फा० कृ० २ २६–२७ फरवरी
२६–भरूच फाल्गुन कृष्ण ३ मंगल २८–२–५६
२७–सूरत ” ४ बुध २९–२–५६
२८–बम्बई ” ५-६-७ १-२-३ मार्च
२९–नासिक ” ८-८ ४-५ मार्च
३०–कुर्डुवाड़ी (पंढरपुर) ” ९-१०-११ ६-७-८ मार्च

छोटी लाइन बदलेगी

३१–सोलापुर ” १२ शुक्र ९–३–५६
३२–बदामी ” १३ शनि १०–३–५६
३३–होस्पेट ” १४-३० ११-१२ मार्च
३४–मैसूर फाल्गुन शुक्ल १-२ १३–१४ मार्च
३५–श्रीरंगपत्तन ” ३ गुरु १५–३–५६
३६–मद्दूर ” ४ शुक्र १६–३–५६
३७–बंगलोर ” ५-६ १७-१८ मार्च
३८–कालहस्ती ” ७ सोम १९–३–५६
३९–तिरुपती ” ८ मंगल २०–३–५६

४०–तिरुवणमल्लै फाल्गुन शुक्ल ९ बुध २१–३–५६
४१–श्रीरंगम् ” ११ गुरु २२–३–५६
४२–त्रिचनापल्ली ” १२ शुक्र २३–३–५६
४३–श्रीविल्लीपुट्टूर ” १३ शनि २४–३–५६
४४–टेनकाशी ” १४-१५ २५–२६ मार्च
४५–तिन्नावेली चैत्र कृष्ण १-२-३ २७–२८-२९ मार्च
४६–मदुरा ” ४ शुक्र ३०–३–५६
४७–धनुष्कोटि ” ५ शनि ३१–३–५६
४८–रामेश्वरम् ” ६-७ १–२ अप्रैल
४९–रामनद ” ८ मंगल ३–४–५६
५०–तंजोर ” ९ बुध ४–४–५६
५१–कुंभकोणम् ” १० गुरु ५–४–५६
५२–मन्नार गुडी }
५३–तिरुवल्लुर } ” ११ शुक्र ६–४–५६
५४–वेदारण्यम् ” ११ शनि ७–४–५६
५५–मायावरम् ” १२ रवि ८–४–५६
५६–सियाली ” १३ सोम ९–४–५६
५७–चिदम्बरम् ” १४ मंगल १०–४–५६
५८–पाण्डिचेरी ” ३० बुध ११–४–५६
५९–चिंगलपेट चैत्र शुक्ल १ गुरु १२–४–५६
६०–कांजीवरम् ” २ शुक्र १३–४–५६

बड़ी लाइन बदलेगी

६१–मद्रास ” ४-५ १४–१५ अप्रैल
६२–विजय वाड़ा ” ६ सोम १६–४–५६
६३–राजमहेन्द्री ” ७ मंगल १७–४–५६
६४–सिंहाचलम् ” ८ बुध १८–४–५६
६५–पुरी ” ९-१० १९–२० अप्रैल
६६–कटक ” ११ शनि २१–४–५६
६७–भुवनेश्वर ” १२ रवि २२–४–५६
६८–हबड़ा ” १३-१४ २३–२४ अप्रैल
६९–वैद्यनाथ धाम ” १५ बुध २५–४–५६
७०–बनारस वैशाख कृष्ण १ गुरु २६–४–५६

